प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी)

भाग १ : प्रथमावृत्ति : ३००० (अगस्त, १९८१)

द्वितीयावृत्ति : २२०० (जून, १९८२)

भाग २ : प्रथमावृत्ति : ५००० (जून, १९८२)

भाग ३ : प्रथमावृत्ति : ५००० (जुलाई, १९८३)

भाग ४ : प्रथमावृत्ति : ५२०० (२६ जनवरी, १९८५)

प्रवचनरत्नाकर (गुजराती)

भाग १ : प्रथमावृत्ति : ५०००
भाग २ : प्रथमावृत्ति : ५०००
भाग ३ : प्रथमावृत्ति : ५०००
भाग ४ : प्रथमावृत्ति : ५०००
भाग ५ : प्रथमावृत्ति : ५०००
भाग ६ : प्रथमावृत्ति : ५०००
भाग ७ : प्रथमावृत्ति : ५०००
भाग ८ : प्रथमावृत्ति : ५०००

मूल्य : दस रुपये

मुद्रक :
पॉपुलर प्रिंटर्स
नवाव साहव की हवेली
त्रिपोलिया वाजार, जयपुर-२

प्रकाशकीय

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्दकृत महान ग्रन्थराज समयसार पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का संकलन 'प्रवचन रत्नाकर भाग-४' प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

पूज्य स्वामीजी इस युग के सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापुरुष हो गए हैं। वर्तमान में दृष्टिगोचर दिगम्बर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय पूज्य स्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है।

पूज्य स्वामीजी के उपकारों को दिगम्बर जैन समाज हजारों वर्षो तक भी नहीं भुला सकेगा। उनकी भवतापनाशक वाणी के प्रताप से हम जैसे लाखों पामर प्राणियों ने दिगम्बर जिनधर्म का वास्तविक स्वरूप समझा है। जन्मजात दिगम्बर जैन होते हुए भी हमें धर्म के सच्चे स्वरूप का भान भी न था। धर्म की आत्मा को पहचाने बिना हम वाह्य क्रियाकाण्ड में ही उलझ रहे थे। पूज्य स्वामीजी के निश्चय-व्यवहार की सन्धिपूर्वक हुए प्रवचनों ने हमारी आंखें खोल दी हैं। उनके प्रताप से लाखों दिगम्बर जैन भाई-बहनों ने दिगम्बर जिनधर्म का सच्चा स्वरूप पहचाना है तथा हजारों श्वेताम्बर भाइयों ने भी दिगम्बर धर्म स्वीकार किया है।

यद्यपि आज वे हमारे बीच में नहीं हैं, तथापि उनके प्रताप से निर्मित ६१ दिगम्बर जिन मंदिर एवं लाखों की संख्या में प्रकाशित सत्साहित्य हमें हजारों वर्षो तक सत्य का दर्शन कराता रहेगा।

समयसार ग्रन्थ ने स्वामीजी की जीवनधारा में क्रान्तिकारी मोड़ उत्पन्न किया है। स्थानकवासी साधु अवस्था में वि. सं. १९७८ (सन् १९२१ ई.) की किसी महान मंगलमय घड़ी में समयसार ग्रंथ को पाकर उनकी अन्त:चेतना में सुषुप्त संस्कार झनझना उठे। दिगम्बर जिनधर्म की समीचीनता स्वीकार करते हुए वि. सं. १९९१ (सन् १९३४ ई.) में महावीर जयन्ती के दिन सोनगढ़ में उन्होंने मुंहपट्टी त्यागकर दिगम्बर श्रावक के रूप में जीवन विताना प्रारम्भ कर दिया। तब से ४५ वर्षो तक निरन्तर उनके श्रीमुख से जिनागम का अमृतरस झरता रहा, जिसका पानकर लाखों लोगों के जीवन में आध्यात्मिक क्रान्ति हुई है।

श्री षट्खण्डागम भाग १, समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, बृहद्द्रव्यसंग्रह, मोक्षमार्ग-प्रकाशक, तत्त्वार्थसार, आत्मानुशासन, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पद्मनन्दिपञ्च-विंशतिका, समयसारकलशटीका, नाटकसमयसार, छहढाला आदि अनेक ग्रंथों पर प्रवचनों के माध्यम से उन्होंने अनेकान्त, वस्तुस्वातन्त्र्य, कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध, क्रमबद्धपर्याय, निमित्त-उपादान आदि जैनदर्शन के आधारभूत-सिद्धान्तों की, आगम एवं युक्ति संगत व्याख्या करके, जिनशासन की अद्वितीय सेवा की है। उनके प्रवचनों के प्रभाव से जिनागम का प्रत्येक सैद्धान्तिक पहलू तथा जिनागम की प्रतिपादन शैली – स्याद्वाद, निश्चय-व्यवहार तथा प्रमाण-नय-निक्षेप आदि का स्वरूप भी जन-जन में चर्चित हो गया है।

अध्यात्म के गूढ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्वपूर्ण विशेषता रही है। उनके द्वारा प्रतिपादित स्वानुभूति का स्वरूप, विषय एवं उसके पुरुषार्थ का विवेचन चिरकाल तक स्वानुभूति की प्रेरणा देता रहेगा।

४३ वर्ष पूर्व जहाँ सम्पूर्ण सौराष्ट्र में दिगम्बर जिनबिम्ब के दर्शन भी दुर्लभ थे; वर्तमान में उनके प्रताप से न केवल सौराष्ट्र में, अपितु सारे भारत में ६१ जिनमन्दिरों का निर्माण हुआ है। उनके कर-कमलों द्वारा सम्पन्न ३३ पञ्चकल्याणक एवं ३० वेदीप्रतिष्ठा महोत्सवों के माध्यम से हजारों वीतरागभाववाही दिगम्बर जिन बिम्बों की स्थापना हुई है। उनके प्रभावनाकाल में नैरोबी (अफ्रीका) में हुआ विशाल पञ्चकल्याणक महोत्सव अविस्मरणीय है। सोनगढ़ में निर्मित सीमंधर स्वामी दिगम्बर जिनमन्दिर, समवशरण, मानस्तम्भ, कुन्दकुन्द प्रवचन-मण्डप, श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागम मन्दिर आदि उनके हृदय में विद्यमान जिनेन्द्र भक्ति के अमर स्मारक हैं।

स्वाध्याय के क्षेत्र में पू० स्वामीजी ने अभूतपूर्व क्रान्ति की है। उनके प्रवचनों के प्रभाव से समाज में स्वाध्याय की प्रवृत्ति को यथार्थ दिशा मिली है। नयविवक्षापूर्वक जिनवाणी का भावार्थ हृदयंगम करते हुए स्वाध्याय करने की परम्परा का विकास उन्हीं की देन है।

उनके बालब्रह्मचर्य के तेज एवं वैराग्यरस से ओत-प्रोत जीवन, सरल भाषा और प्रवाहमयी व आह्लादपूर्ण प्रवचन शैली से प्रभावित होकर प्रत्येक व्यक्ति उनका हुए बिना नहीं रहता। उनकी वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत

व्याख्या से स्वाध्याय की प्रेरणा पाकर देश-विदेश में सैकड़ों स्थानों पर मुमुक्षु-मण्डलों की स्थापना हुई है, जिनमें संचालित नियमिति शास्त्रसभाओं में लाखों भाई-बहन जिनागम का अभ्यास करते हैं ।

सत्साहित्य का प्रकाशन स्वामीजी के प्रभावना-योग की महत्वपूर्ण देन है । श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट; सोनगढ़, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट; जयपुर, श्री वीतराग सत्साहित्य ट्रस्ट; भावनगर, श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट; बम्बई आदि १५ प्रकाशन संस्थाओं से लगभग ४० लाख की संख्या में विभिन्न प्रकाशन हो चुके हैं, तथा यह क्रम अभी भी निरन्तर जारी है और विशेषता यह है कि इन सभी ग्रंथों का विक्रय मूल्य लागत से भी कम रखा जाता है ।

तत्त्वप्रचार के सशक्त माध्यम शिक्षण-शिविर प्रणाली का जन्म भी पूज्य स्वामीजी की देन है । सोनगढ़ में ग्रीष्मावकाश में बाल शिक्षण-शिविरों तथा श्रावण मास में प्रौढ़ शिक्षण-शिविरों का आयोजन प्रारम्भ हुआ । धीरे-धीरे सारे देश में शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर लगने लगे । सोनगढ़ में प्रवचनकार प्रशिक्षण शिविर भी आयोजित किये गये । गत दो दशकों में तो सारे देश में सैकड़ों शिक्षण शिविर आयोजित हुए हैं ।

स्वामीजी के प्रवचनों के प्रचार-प्रसार हेतु सोनगढ़ से सन् १९४३ ई. से आत्मधर्म का प्रकाशन प्रारंभ किया गया । इस समय यह लगातार ४१ वर्ष से प्रकाशित होने वाला व जैन समाज का सर्वाधिक बिक्री वाला मासिक पत्र है; जो हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़ और तमिल—इन पांच भाषाओं में १५ हजार की संख्या में प्रतिमाह प्रकाशित होता है ।

पू. स्वामीजी के कर-कमलों द्वारा उद्घाटित श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर इन दिनों तात्विक गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र है । इस ट्रस्ट की ओर से पू. स्वामीजी की वाणी जन-जन तक पहुँचाने के पावन उद्देश्य से वीतराग-विज्ञान मासिक पत्र प्रकाशित किया जा रहा है, जिसके एक वर्ष के अल्पकाल में ही ६००० ग्राहक बन चुके हैं । जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक) पत्र का प्रकाशन भी यहाँ से किया जाता है, जिसने समाज में अच्छी ख्याति अर्जित की है । बालकों में तत्त्वज्ञान और सदाचार के संस्कार डालने हेतु देश में लगभग ३५३ वीतराग-विज्ञान पाठशालायें चल रही हैं । विद्यार्थियों की परीक्षा की व्यवस्था के लिए श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड की स्थापना की गई है, जिसकी परीक्षाओं में प्रतिवर्ष लगभग २०,००० विद्यार्थी सम्मिलित होते हैं ।

दिगम्बर तीर्थों के प्रति अत्यन्त भक्ति से प्रेरित होकर पूज्य स्वामीजी ने वि. सं. २०१३ व २०२० में सारे भारत के तीर्थों की ससंघ वन्दना की तथा सं. २०१५ में दक्षिण भारत के तीर्थों की वन्दना भी की।

पूज्य स्वामीजी के उपदेशों के प्रभाव से तीर्थक्षेत्रों के जीर्णोद्धार एवं जिनवाणी के शोध व प्रकाशन की महती आवश्यकता पूर्ति हेतु उनके मंगल आशीर्वाद से श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट की स्थापना की गई। इस ट्रस्ट ने अपने उद्देश्यों और गतिविधियों से अल्पकाल में ही दि. जैन समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

तीर्थों के जीर्णोद्धार के अलावा समाज में आध्यात्मिक रुचि-सम्पन्न आत्मार्थी विद्वान् तैयार करने हेतु जयपुर में श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय का संचालन इस ट्रस्ट की महत्वपूर्ण गतिविधि है। गत दो वर्षों व इस वर्ष में कुल मिलाकर इस विद्यालय के ३१ छात्र शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करके समाज में तत्त्वप्रचार सम्बन्धी कार्य करने लगे हैं। इस ट्रस्ट के माध्यम से जिनवाणी की शोध एवं सुरक्षा हेतु मद्रास और बैंगलोर में शोध-संस्थान कार्यरत हैं। ट्रस्ट की ओर से श्री टोडरमल स्मारक भवन जयपुर में एक 'साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग' भी खोला गया है।

इस प्रकार निरन्तर ४५ वर्षों तक पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा जिनशासन की अद्वितीय प्रभावना होती रही है। यद्यपि आज वे हमारे बीच में नहीं हैं, तथापि उनके द्वारा दिखाया गया शाश्वत सुख का मार्ग चिरकाल तक हमें भव-दुःखों से बचने की प्रेरणा देता रहेगा, क्योंकि उनके प्रताप से निर्मित जिनमन्दिर एवं प्रकाशित सत्साहित्य उनके स्मारक के रूप में विद्यमान हैं।

यद्यपि टेपों में सुरक्षित उनकी वाणी युगों-युगों तक हमें आत्मानुभूति की प्रेरणा देती रहेगी, तथापि टेपों की लम्बे समय तक सुरक्षा करना कठिन है तथा उनका जन-जन तक पहुंचना भी सुलभ नहीं है। अतः स्वामीजी की उपस्थिति में ही इस बात की तीव्र आवश्यकता महसूस की जा रही थी कि उनके सभी प्रवचनों का शृंखलाबद्ध प्रकाशन किया जाए।

टेप-रिकार्ड से सुनकर प्रवचन लिखना तथा उन्हें व्यवस्थितरूप में प्रकाशित करना अत्यधिक श्रम एवं व्यय-साध्य कार्य है। अतः इस कार्य हेतु स्वामीजी की 90वीं जयन्ती के अवसर पर श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना की गई। इस ट्रस्ट ने श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर के सहयोग से अल्प समय में ही प्रवचन-रत्नाकर के नाम से समयसार के अठारहवीं बार के प्रवचनों को गुजराती में

प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया है। गुजराती प्रवचनरत्नाकर के दो भागों को पूज्य स्वामीजी की उपस्थिति में ही उन्हें समर्पित करने का गौरव प्राप्त करने के उपलक्ष्य में उक्त ट्रस्ट बधाई के पात्र हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की उन्नीसवीं जयन्ती के अवसर पर बम्बई में परमागम प्रवचन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित गुजराती प्रवचनों के हिन्दी प्रकाशन पर विचार-विमर्श करते समय पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने यह दायित्व वहन करना सहर्ष स्वीकार किया। इस अवसर पर उपस्थित मुमुक्षु भाईयों ने हिन्दी प्रवचन प्रकाशन हेतु पांच लाख रुपये का फण्ड एकत्र करने का संकल्प किया तथा उसी समय दो लाख रुपये के वचन भी प्राप्त हो गए।

इसी अवसर पर माननीय पं. रतनचन्दजी भारिल्ल ने गुजराती प्रवचनों के हिन्दी अनुवाद का तथा माननीय डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने इसके सम्पादन का दायित्व निस्पृह भाव से स्वीकार किया, एतदर्थ हम दोनों विद्वानों के अत्यन्त आभारी हैं।

प्रवचन रत्नाकर भाग १ का प्रकाशन सन् १९८१ में ३००० की संख्या में मुद्रित कराया गया था। उस समय हमने यह अनुमान किया था कि इनका विक्रय दो वर्ष में हो पावेगा, लेकिन यह जानकारी देते हुए हमें हर्ष होता है कि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों की यह पुस्तक मात्र पांच माह में ही समाप्त हो गई। अतः भाग १ की द्वितीय आवृत्ति पुनः २२०० की संख्या में मुद्रित कराई गई।

प्रवचन रत्नाकर भाग १ की अत्यधिक मांग देखते हुए प्रवचन रत्नाकर भाग २ व भाग ३ की प्रथम आवृत्ति ५०००-५००० की संख्या में प्रकाशित की गई। इसी शृंखला में भाग ४ की भी प्रथम आवृत्ति ५२०० की संख्या में प्रकाशित की जा रही है।

पूज्य स्वामीजी के प्रवचन जन-जन तक कम से कम मूल्य में पहुंचाने की भावना से ट्रस्ट ने निर्णय किया है कि, कीमत कम करने हेतु १०,००१ रु. देने वाले महानुभावों का २,००० प्रतियों में फोटो प्रकाशित किया जाएगा तथा १० प्रतियां निःशुल्क भेंट दी जायेंगी। ५,००१ रु. देनेवाले महानुभावों का १००० प्रतियों में फोटो प्रकाशित किया जाएगा तथा ५ प्रतियां निःशुल्क भेंट की जायेंगी। २,५०१ रु. देने वाले महानुभावों का ५०० प्रतियों में फोटो प्रकाशित किया जाएगा तथा २ प्रतियां निःशुल्क भेंट की जायेंगी।

इस चौथे भाग की कीमत कम करने हेतु राशि प्रदान करने वालों की सूची पुस्तक के अन्त में दी गई है। एतदर्थ मैं उन सभी महानुभावों को धन्यवाद देता हूँ।

हमें खेद है कि तीव्र भावना होते हुए भी हम प्रवचनरत्नाकर के हिन्दी संस्करण पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में उन्हें समर्पित नहीं कर सके। भाग १ का हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन कार्य चल ही रहा था कि पूज्य गुरुदेवश्री महाप्रयाण कर गए। प्रवचनरत्नाकर का प्रथम भाग सन् १९८१ में रक्षाबन्धन के अवसर पर प्रकाशित किया गया था। दूसरा भाग भी एक वर्ष के अन्दर ही तैयार होकर सन् १९८२ में वीतराग-विज्ञान शिक्षण प्रशिक्षण शिविर, इन्दौर के अवसर पर तथा भाग ३ जुलाई १९८३ में प्रकाशित किये जा चुके हैं। अब यह चौथा भाग आपके समक्ष प्रस्तुत है। गुजराती प्रवचनरत्नाकर भाग ४ एवं पांचवें के कुछ अंश तक के सभी प्रवचन हिन्दी प्रवचनरत्नाकर के तीनों भागों में संकलित व अनुवादित किये जा चुके हैं। इस चतुर्थ भाग में गुजराती प्रवचन रत्नाकर का पांचवें भाग का अनुवाद संकलित किया गया है। पूज्य गुरुदेवश्री की अनुपस्थिति में यह ग्रंथ प्रकाशित करते हुए मैं यही भावना व्यक्त करता हूँ कि शीघ्र ही उनके सभी प्रवचन प्रकाशित होकर जन-जन के आत्म-कल्याण में निमित्त बनें।

प्रथम भाग में समयसार की शुरू की २५ गाथाओं के, द्वितीय भाग में गाथा २६ से गाथा ६८ तक, तृतीय भाग में ६९ से ९१ तक तथा चतुर्थ भाग में ९२ से १४४ तक की गाथाओं के प्रवचन संकलित हैं। पांचवें भाग के अनुवाद का कार्य भी प्रारम्भ हो गया है। आशा है पांचवां भाग भी शीघ्र ही पाठकों के समक्ष प्रस्तुत होगा।

ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण हेतु मैं श्री महावीर गोयल एवं श्री निर्मल कुमार गोयल, पॉपुलर प्रिन्टर्स, जयपुर को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने स्वयं रुचि लेते हुए अत्यन्त लगन एवं श्रम से ग्रन्थ को इतना सुन्दर और शुद्ध रूप प्रदान किया है।

सभी जीव पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी का मर्म समझकर शुद्धात्मतत्त्व के आश्रयपूर्वक स्वसमयदशा – स्वानुभूतिदशा प्रगट करें व आत्मकल्याण करें – यही भावना व्यक्त करता हूँ।

(२६ जनवरी, १९८५)

—नेमीचन्द पाटनी

मन्त्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

सम्पादक की ओर से

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर परम्परा में सर्वोपरि है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उन्हें ही स्मरण किया जाता रहा है। दो हजार वर्ष पूर्व लिखे गये आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा के परमागम हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर उनके रहस्य को उद्घाटित करनेवाली अद्भुत टीकाएँ आचार्य अमृतचन्द्र ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले संस्कृत भाषा में लिखी थीं। यद्यपि उनके अनुवाद भी पण्डित श्री जयचन्दजी छावडा जैसे विद्वानों द्वारा लिखे गये थे, तथापि इस युग में उनका प्रचार व प्रसार नगण्य ही था। जनसाधारण की तो बात ही क्या करें, बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान भी उनसे अपरिचित ही थे।

आज जो समयसार जन-जन की वस्तु बना हुआ है, उसका एकमात्र श्रेय पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी को है। उन्होंने इसपर आद्योपान्त १९ बार तो सभा में प्रवचन किए हैं, स्वयं ने तो न मालूम कितनी बार इनका गहराई से अध्ययन किया होगा।

इस सन्दर्भ में पण्डित कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य वाराणसी का कथन दृष्टव्य है, जो कि इसप्रकार है :—

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्र-सभा में शास्त्र वाँचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म-ग्रन्थों की चर्चा करने वाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दि० जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ, अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्र० शीतलप्रसाद जी की हँसी उड़ाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता, तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।"[1]

---

1 जैन सन्देश, ४ नवम्बर १९७६, सम्पादकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने साक्षात् उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थों पर प्रवचन सुने हैं और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है।

आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर उनके वे प्रवचन जो उन्होंने अपने जीवनकाल में अनवरत रूप से किये थे, हमें टेपों के रूप में उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री के हजारों प्रवचन प्रकाशित रूप में भी हमें उपलब्ध थे और हैं भी; फिर भी यह आवश्यकता गुरुदेवश्री की उपस्थिति में भी निरन्तर अनुभव की जा रही थी कि उनके उपलब्ध समस्त प्रवचन प्रकाशित होने चाहिए। एक तो टेप सबको सहज सुलभ नहीं होते, दूसरे लम्बे काल तक उनकी सुरक्षा संदिग्ध रहती है। हमारी यह निधि पूर्ण सुरक्षित हो जाने के साथ-साथ जन-जन की पहुँच के भीतर हो जानी चाहिए —इस उद्देश्य से सम्पूर्ण प्रवचनों के प्रकाशन की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जा रही थी।

परिणामस्वरूप पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में ही श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना हुई। उक्त ट्रस्ट ने बड़ी ही तत्परता से अपना काम आरम्भ किया और बहुत ही कम समय में 'प्रवचन-रत्नाकर' के नाम से सर्वप्रथम समयसार परमागम पर १८वीं बार हुये प्रवचनों का प्रकाशन आरम्भ किया। चूंकि गुरुदेवश्री के मूल प्रवचन अधिकांश गुजराती भाषा में ही हैं, अतः उनका प्रकाशन भी सर्वप्रथम गुजराती भाषा में ही आरम्भ हुआ। १६ अप्रैल, १९८० ई० को बम्बई (मलाड़) में आयोजित पूज्य गुरुदेवश्री की ९१वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर प्रवचन-रत्नाकर का प्रथम भाग गुजराती भाषा में प्रकाशित होकर आ गया था तथा पूज्य गुरुदेवश्री को प्रत्यक्षरूप से समर्पित किया गया था।

उसी अवसर पर इसके हिन्दी प्रकाशन की चर्चा आरम्भ हुई। पर्याप्त ऊहापोह के उपरान्त इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल को, सम्पादन का कार्य मुझे एवं प्रकाशन का भार पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर को सौंपा गया।

गुरुदेवश्री के मंगल-आशीर्वाद से ही सुगठित अनेक तत्त्व प्रचार सम्बन्धी गतिविधियों के सक्रिय संचालन में पहले से ही व्यस्त रहने के कारण यद्यपि मैं इस स्थिति में नहीं था कि कोई नया भार लूं, क्योंकि

इस कारण मेरा स्वयं का अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं लेखन अवरुद्ध होता है; तथापि गुरुदेवश्री के प्रवचनों का गहराई से अध्ययन करने के इस सुअवसर का लोभ-संवरण मुझसे नहीं हो सका ।

इसके सम्पादन में मैंने आत्मधर्म के सम्पादन से प्राप्त अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठाया है । आत्मधर्म में सात वर्ष से लगातार प्रतिमाह गुरुदेवश्री के प्रवचनों के लगभग २०-२२ पृष्ठ तो जाते ही हैं । उनके सम्पादन से गुरुदेवश्री के प्रतिपाद्य और प्रतिपादनशैली से मेरा घनिष्ट परिचय हो गया है । तथा प्रवचनरत्नाकर भाग १ के सम्पादन कार्य के अवसर पर सम्पादन सम्बन्धी बहुत-कुछ ऊहापोह हो जाने के कारण इसके सम्पादन में यद्यपि मुझे अधिक श्रम नहीं उठाना पड़ा है, तथापि इन चारों भागों के सम्पादन में मुझे अभूतपूर्व वचनातीत लाभ मिला है, गुरुदेवश्री के हृदय को अन्तर से जानने का अवसर मिला है । जो लाभ उनकी वाणी को पढ़ने और सुनने से भी सम्भव न हुआ था, वह लाभ इनके सम्पादन से प्राप्त हुआ है । इसका कारण यह है कि उपयोग की स्थिरता जितनी इनके सम्पादन के काल में रहती है, उतनी सहज पढ़ने या सुनने में नहीं रहती; क्योंकि जितनी गहराई में जाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने आचार्य कुन्दकुन्द व आचार्य अमृतचन्द्र के मर्म को खोला है, उतनी गहराई में उपयोग के न पहुँच पाने से वह मर्म सहज पकड़ में नहीं आता है । अपने इस अनुभव के आधार पर तत्त्वप्रेमी पाठकों से पुन: अनुरोध करना चाहूंगा कि वे यदि इस रत्नाकर के रत्न पाना चाहते हैं, तो उपयोग को सूक्ष्म कर, स्थिर करके इसका स्वाध्याय करें, अन्यथा उनके हाथ कुछ न लगेगा ।

इसके सम्पादन में गुजराती में प्रकाशित प्रवचनरत्नाकर के मूल माल को अक्षुण्ण रखते हुए कुछ आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी किए गए हैं, उनका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि जिससे गुजराती से मिलान करके अध्ययन करनेवाले पाठकों को कोई असुविधा न हो ।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि गुजराती में जीवाजीवाधिकार को तीन भागों में बाँटा गया है, जबकि हिन्दी प्रवचनरत्नाकर में दो भागों में ही विभाजित किया गया है । आगे भी भागों का विभाजन गुजराती भागों को आधार न बनाकर स्वतंत्ररूप से किया गया है । इस विभाजन में विषयवस्तु को तो ध्यान में रखा ही गया है; साथ में यह भी उचित लगा कि इतने विशाल ग्रन्थ का, जो कि अनेक भागों में प्रकाशित किया जाना है, प्रत्येक भाग चार सौ पष्ठों के आस-पास तो होना ही

चाहिए। छोटे-छोटे वाल्यूम (भाग) बनाने में विषयवस्तु तो बार-बार टूटती ही है, साथ में जिल्द का अनावश्यक खर्च भी बढ़ता है।

प्रवचन की भाषा में अनावश्यक टेढ़ें भी बहुत होती हैं और पुनरुक्ति भी बहुत पाई जाती हैं, तथा सामान्य लोगों को भी सरलता से समझ में आ जाय—इस दृष्टि से जहाँ तक सम्भव हुआ, वाक्यों का गठन सीधा व सरल कर दिया गया है; पर इस प्रक्रिया में गुरुदेवश्री के प्रवचन की टोन (शैली) समाप्त न हो जावे, इस बात का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। पुनरुक्ति भी कम की गई है, पर बहुत कम। जहाँ बहुत अधिक पिष्ट-पेषण था, वहाँ ही कुछ कम किया गया है।

हिन्दी प्रकाशन में मूलग्रंथ संस्कृत व हिन्दी टीकासहित दिया गया है, जबकि गुजराती में संस्कृत टीका नहीं दी गई है। साथ में हिन्दी पद्यानुवाद भी दिया गया है और भी छोटी-छोटी बहुत-सी बातें हैं, जिनका उल्लेख सम्भव नहीं है, वे सब अध्ययन करने पर पैनी दृष्टिवाले पाठकों को सहज समझ में आ जावेंगी।

मैंने इस अनुवाद को मूल से मिलान करके बहुत गहराई से देखा है। इसके मर्म की गहराई को पाने के लिए भी और इसके प्रामाणिक प्रकाशन के लिए भी; फिर भी छद्मस्थों से त्रुटियाँ रह जाना असम्भव नहीं है, अतः सुधी पाठकों से सावधानीपूर्वक अध्ययन करने का अनुरोध है।

प्रकाशन सम्बन्धी छोटी-मोटी त्रुटियों की उपेक्षा की अपेक्षा के साथ-साथ सविनय यह अनुरोध है कि यदि कोई भाव सम्बन्धी भूल दिखाई दे, तो मुझे सुझाने की अनुकम्पा अवश्य करें, जिससे आगामी संस्करणों में आवश्यक सुधार किया जा सके।

–(डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल

अनुवादक की ओर से

जब परमपूज्य आचार्यों के आध्यात्मिक ग्रन्थों पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के गूढ़, गम्भीर, गहनतम, सूक्ष्म और तलस्पर्शी प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी भाषा में अनुवाद करने के लिए मुझसे कहा गया, तो मैं असमंजस में पड़ गया। मैंने यह सोचा ही नहीं था कि यह प्रस्ताव मेरे पास भी आ सकता है।

अब एक ओर तो मेरे सामने यह मंगलकारी, भवतापहारी, कल्याणकारी, आत्मविशुद्धि में निमित्तभूत कार्य करने का स्वर्ण अवसर था, जो छोड़ा भी नहीं जा रहा था; तो दूसरी ओर इस महान कार्य को आद्योपान्त निर्वाह करने की बड़ी भारी जिम्मेदारी। मेरी दृष्टि में यह केवल भाषा परिवर्तन का सवाल ही नहीं है, बल्कि आगम के अभिप्राय: को सुरक्षित रखते हुए, गुरुदेवश्री की सूक्ष्म कथनी के भावों का अनुगमन करते हुए, प्रांजल हिन्दी भाषा में उसकी सहज व सरल अभिव्यक्ति होना मैं आवश्यक मानता हूँ; अन्यथा थोड़ी सी चूक में ही अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है।

इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करके तथा दूरगामी आत्मलाभ के सुफल का विचार कर, प्रारंभिक परिश्रम और कठिनाइयों की परवाह न करके 'गुरुदेवश्री के मंगल आशीर्वाद से सब अच्छा ही होगा' – यह सोचकर मैंने इस काम को अन्ततोगत्वा अपने हाथ में ले ही लिया। इस कार्यभार को सँभालने में एक संबल यह भी था कि इस हिन्दी प्रवचन-रत्नाकर ग्रन्थमाला के प्रकाशन का कार्य पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर ने ही सँभाला था और सम्पादन का कार्य डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल को सौंपा जा रहा था।

यद्यपि गुजराती भाषा पर मेरा कोई विशेष अधिकार नहीं है, तथापि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रसाद से उनके गुजराती प्रवचन सुनते-सुनते एवं उन्हीं के प्रवचनों से सम्बन्धित सत्साहित्य पढ़ते-पढ़ते उनकी शैली और भावों से सुपरिचित हो जाने से मुझे इस अनुवाद में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। जहाँ कहीं गुजराती भाषा का भाव समझ में नहीं आया, वहाँ अपने अनुज डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल से परामर्श करके गुजराती भाषा के भाव को स्पष्ट करता रहा हूँ।

मैं अनुवाद करते समय इसलिए भी निश्चिन्त रहा कि सम्पादन का कार्य एक ऐसी प्रतिभा को सौंपा गया है, जिसके द्वारा सारा विषय हर दृष्टि से छन-छन कर ही पाठकों तक पहुँचता है ।

इस अनुवाद से मुझे जो आशातीत लाभ मिला है, उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकता । पूज्य गुरुदेवश्री के अभिप्राय को तथा समयसार के गम्भीर रहस्यों को जो गुरुदेवश्री ने खोले हैं, उन्हें गहराई से समझने का अवसर मिला । गुरुदेवश्री के माध्यम से भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्यदेव के सूक्ष्म भावों तक पहुँचने में सहायता मिली । इस काम में अत्यधिक आत्म-सन्तोष मिला, आनन्द भी आया; अतः यह कार्य भारभूत न होकर स्वान्तःसुखाय बन गया । आत्मशान्ति व सन्तोष ही गुरुदेवश्री का परमप्रसाद है और यही जिनवाणी की सेवा का सुफल है ।

अनुवाद में गुरुदेवश्री के अभिप्राय को अक्षुण्ण रखा गया है । प्रवचनों का अनुवाद मुख्यतः शाब्दिक है, किन्तु हिन्दी वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्यों का गठन हिन्दी भाषा के अनुरूप करने का प्रयत्न रहा है तथा अति आवश्यक यत्किञ्चित् परिवर्तन भी हुए हैं, किन्तु उनसे विषय-वस्तु और भावों में कहीं कोई अन्तर नहीं आया है । जब पाठक धाराप्रवाहरूप से इसका अध्ययन करेंगे तो भाषा की दृष्टि से भी उन्हें साहित्यिक गद्य का आनन्द आयेगा और विषयवस्तु को समझने में सुगमता भी रहेगी ।

यद्यपि इसके अनुवाद में मैंने पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी से काम किया है, फिर भी **'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे'** अर्थात् शास्त्रसमुद्र में कौन विमोहित नहीं होता – इस लोकोक्ति के अनुसार कहीं स्खलना हुई हो तो मेरा ध्यान आकर्षित करने का सानुरोध आग्रह है ।

सभी पाठकगण इस ग्रन्थ का पुनः पुनः पारायण करके पूरा-पूरा लाभ उठायेंगे – ऐसी आशा एवं अपेक्षा के साथ विराम लेता हूँ ।

– रतनचन्द भारिल्ल

प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल्य कम करने वाले दातारों की सूची

१.	श्रीमती मोहनादेवी ध. प. श्री रंगूलालजी, दिल्ली	२५००/-
२.	श्री भेरूदानजी कन्हैयालालजी दूगड़, सरदारशहर	२५००/-
३.	पू. श्री शांताबेन, सोनगढ़	१००१/-
४.	श्री जयंतिलालजी रतनलालजी जैन, नौगामा	१००१/-
५.	श्री घीसालालजी हरकचन्दजी जैन, सीकर	१०००/-
६.	ब्र. निर्मलाबेन हरिलाल भायाणी, भावनगर	१०००/-
७.	सौ. शशिकान्ता ध. प. श्री धनपालसिंहजी जैन, सोनीपत	५०१/-
८.	श्री सुमेरचन्दजी जैन, तिनसुकिया (आसाम)	५०१/-
९.	श्री राजकुमारजी कासलीवाल, तिनसुकिया (आसाम)	५०१/-
१०.	श्रीमती गंगाबेन ध. प. श्री रतीलालजी पारीख, जामनगर	५०१/-
११.	श्री नेमचन्द्र केशवलालजी गांधी, तलोद	५०१/-
१२.	मातोश्री गुलाबचन्दजी किशनलालजी जैन, मौ	५००/-
१३.	श्री वृन्दावनजी भगवानदासजी जैन, मौ	५००/-
१४.	श्री दि. जैन मुमुक्षु मण्डल, गुना	३०३/-
१५.	श्री गुलाबचन्दजी देवचन्दजी, बम्बई	३०१/-
१६.	श्रीमती चम्पादेवी ध. प. श्री तखतराजजी, कलकत्ता	३००/-
१७.	श्रीमती त्रिशलादेवी ध. प. श्री नन्दकिशोरजी, महलका	२७५/-
१८.	श्री मेहता छगनलालजी लघुभाई, जामनगर	२५१/-
१९.	श्री नियति पंकज शहा, बम्बई	२५१/-
२०.	सौ. स्नेहलता ध. प. श्री सुगनचन्दजी, अशोकनगर	२५१/-
२१.	श्री छोटेलालजी मेहता, बम्बई	२५०/-
२२.	श्रीमती कंचनबाई, सनावद	२०१/-
२३.	श्री लक्ष्मणदासजी अजितकुमारजी जैन, लश्कर	२०१/-
२४.	श्री कालूरामजी मांगीलालजी अग्रवाल, उदयपुर	२०१/-
२५.	श्री चम्पालालजी धाडीवाल, महिदपुर	२००/-
२६.	कु. कुसुमलता सु. श्री महावीरजी जैन, महलका	१५२/-
२७.	श्री जयन्तीलालजी धनजी भाई दोशी, बम्बई	१५१/-
२८.	स्व. सौ. कुसुमलता एवं सुनन्द बंसल स्मृति निधि, अमलाई	१११/-
२९.	श्री इन्द्रचन्द्रजी विजयकुमारजी कौशल, छिन्दवाड़ा	१०८/-
३०.	श्रीमती सविताबेन ध. प. श्री रसिकलालजी, बम्बई	१०१/-
३१.	ब्र. जसीबैन हीराचन्दजी, सोनगढ़	१०१/-
३२.	श्री लखमीचन्दजी कमलकुमारजी जैन, बांदरी	१०१/-

३३.	श्रीमती कान्ताबेन ध.प. श्री जगन्नाथजी दुवे, सोनगढ़	१०१/-
३४.	स्व. श्री जमनादासजी ताराचन्दजी कापड़िया, बम्बई	१०१/-
३५.	श्रीमती लक्ष्मीबेन बम्बई वाली, सोनगढ़	१०१/-
३६.	श्रीमती सुगरीदेवी ध.प. श्री पन्नालालजी सेठी, लाडनूं	१०१/-
३७.	श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	१०१/-
३८.	श्री वंडी केशरीमलजी जैन, इन्दौर	१०१/-
३९.	श्रीमती गुलकन्दाबेन ध.प. श्री सुन्दरलालजी, भिण्ड	१०१/-
४०.	श्री हीरालालजी सेठी, झूमरीतलैया	१०१/-
४१.	श्रीमती शशिप्रभा सोनी, जयपुर	१०१/-
४२.	धर्मपत्नी स्व. श्री मेहताबचन्दजी, मैनपुरी	१०१/-
४३.	श्री स्वरूपचन्दजी, सागर	१०१/-
४४.	श्री कपूरचन्दजी महावीरकुमारजी, लवाण	१०१/-
४५.	सौ. प्रेमलता जैन, जयपुर	१०१/-
४६.	श्री सुदर्शनलालजी जैन छावड़ा, जयपुर	१०१/-
४७.	श्री प्रेमचन्दजी जैन, अजमेर	१०१/-
४८.	श्रीमती चमेलीदेवी ध.प. श्री कपूरचन्दजी, लवाण	१०१/-
४९.	श्रीमती सरस्वती देवी, जयपुर	१०१/-
५०.	चौ. फूलचन्दजी जैन, मनोजकुमार एण्ड कम्पनी, बम्बई	१०१/-
५१.	श्री एम. एन. जैन, सागर	१०१/-
५२.	श्री नेमिचन्दजी गेंदालालजी, गुना	१०१/-
५३.	श्री प्रेमचन्दजी विभोरचन्दजी, दिल्ली	१०१/-
५४.	श्रीमती सज्जनबाई गोधा चेरिटेबल ट्रस्ट, जयपुर	१०१/-
५५.	श्रीमती कान्तादेवी कासलीवाली, जयपुर	१०१/-
५६.	श्रीमान शान्तिलालजी पोसेरिया, इन्दौर	१०१/-
५७.	कु० मालती जैन, गौरझामर	१०१/-
५८.	श्रीमान मन्नालालजी जैन, जावरा	१००/-
५९.	श्री भुवनेन्द्रकुमारजी जैन, बांदरी	५१/-
६०.	चौ. श्री मुलायमचन्दजी निर्मलकुमारजी, बांदरी	५१/-
६१.	श्रीमान रूपचन्दजी जैन, किशनगढ़	५१/-
६२.	श्रीमती उमरावदेवी ध.प. श्री भंवरलाल जी, जयपुर	५१/-
६३.	श्री मुकेश जैन सु० श्री सी. एल. जैन, अजमेर	५१/-
६४.	श्री भंवरलालजी पाटनी, जयपुर	५१/-

कुल २०,५४६

प्रवचन-रत्नाकर

[भाग ४]

समयसार गाथा ६२

अज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह –

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो ।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ।।६२।।

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः ।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ।।६२।।

अयं किलाज्ञानेनात्मा परात्मनोः परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सति परमात्मानं कुर्वन्नात्मानं च परं कुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूतः कर्मणां कर्ता प्रति-

---

अब यह तात्पर्य कहते हैं कि अज्ञान से ही कर्म उत्पन्न होता है: –

पर को करे निजरूप अरु, निज आत्म को भी पर करे ।
अज्ञानमय ये जीव ऐसा, कर्म का कारक बने ।। ६२ ।।

गाथार्थः – [परम्] जो पर को [आत्मानं] अपनेरूप [कुर्वन्] करता है [च] और [आत्मानम् अपि] अपने को भी [परं] पर [कुर्वन्] करता है, [सः] वह [अज्ञानमयः जीवः] अज्ञानमय जीव [कर्मणां] कर्मों का [कारकः] कर्ता [भवति] होता है ।

टीकाः – यह आत्मा अज्ञान से अपना और पर का परस्पर भेद (अन्तर) नहीं जानता हो; तब वह पर को अपनेरूप और अपने को पररूप करता हुआ, स्वयं अज्ञानमय होता हुआ कर्मों का कर्ता प्रतिभासित

भाति। तथाहि तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यतभिन्नायास्तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्याज्ञानात्परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सत्येकत्वाध्यासात् शीतोष्णरूपेणेवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना परिणममानो ज्ञानस्याज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूत एषोऽहं रज्ये इत्यादिविधिना रागादेः कर्मणः कर्ता प्रतिभाति।

होता है। यह स्पष्टता से समझाते हैं – जैसे शीत-उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ ऐसी शीत-उष्ण पुद्गलपरिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उसप्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है; इसीप्रकार ऐसा अनुभव कराने में समर्थ ऐसी राग-द्वेष सुख-दुःखादिरूप पुद्गलपरिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होने वाला उसप्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है।

जव आत्मा अज्ञान के कारण उस राग-द्वेष सुख-दुःखादि का और उसके अनुभव का परस्पर विशेष नहीं जानता हो; तव एकत्व के अध्यास के कारण, शीत-उष्ण की भाँति (अर्थात् जैसे शीत-उष्णरूप से आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है उसीप्रकार) जिस रूप आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है ऐसे राग-द्वेष सुख-दुःखादिरूप अज्ञानात्मा के द्वारा परिणमित होता हुआ (परिणमित होना मानता हुआ), ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं अज्ञानमय होता हुआ, 'यह मैं रागी हूँ' (अर्थात् यह मैं राग करता हूँ) इत्यादि विधि से रागादि कर्म का कर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थः– राग-द्वेष सुख-दुःखादि अवस्था पुद्गलकर्म के उदय का स्वाद है; इसलिये वह शीत-उष्णता की भाँति, पुद्गलकर्म से अभिन्न है और आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। अज्ञान के कारण आत्मा को उसका भेदज्ञान न होने से वह यह जानता है कि यह स्वाद मेरा ही है; क्योंकि ज्ञान की स्वच्छता के कारण राग-द्वेषादि का स्वाद, शीत-उष्णता की भाँति ज्ञान में प्रतिविम्वित होने पर मानों ज्ञान ही राग-द्वेष हो गया हो; इसप्रकार

अज्ञानी को भासित होता है। इसलिये वह यह मानता है कि 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ' इत्यादि। इसप्रकार अज्ञानी जीव राग-द्वेषादि का कर्ता होता है।

गाथा ६२ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

"यह आत्मा जब अज्ञान से अपना और पर का परस्पर भेद (अन्तर) नहीं जानता हो, तब पर को अपनेरूप और अपने को पररूप करता हुआ, स्वयं अज्ञानमय होता हुआ कर्मों का कर्ता प्रतिभासित होता है।"

यह आत्मा अज्ञान से जब तक ऐसा नहीं जानता कि 'मैं पर, राग या व्यवहाररत्नत्रय के विकल्पों से भिन्न हूँ' अर्थात् पर को, राग को, तथा व्यवहाररत्नत्रय के विकल्पों को अपनेरूप तथा स्वयं आत्मा को पररूप, रागरूप या व्यवहार के विकल्परूप करता हुआ, अज्ञानमय परिणति होता हुआ, कर्मों का अर्थात् विकारी परिणामों का कर्ता प्रतिभासित होता है। यहाँ जड़कर्मों की बात नहीं है।

अब उपरोक्त बात को ही दृष्टान्त द्वारा विशेष स्पष्टीकरण करके समझाते हैं: –

"जैसे शीत-उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ शीत-उष्ण पुद्गल परिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नपने के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है तथा उसके निमित्त से हुआ उसी जाति का अनुभव आत्मा से अभिन्नपने के कारण पुद्गल से अत्यन्त भिन्न है।"

आचार्य कहते हैं कि ठण्डी तथा गर्म जो पुद्गल की या जड़ की अवस्था है, वह अवस्था पुद्गल से अभिन्न है तथा भगवान आत्मा से सदा अत्यन्त भिन्न है। आत्मा कभी भी ठण्डा या गर्म नहीं होता। मिर्च खाने से आत्मा तीखा नहीं होता। तीखा स्वाद तो जड़ की पर्याय है। अज्ञानी मानता है कि मैं तीखे रसरूप हो गया, परन्तु आत्मा तीखे रसरूप नहीं होता।

ठण्डी व गरम अवस्था पुद्गल से अभिन्नपने के कारण आत्मा से भिन्न है; परन्तु ठण्डी व गर्म अवस्था का ज्ञान आत्मा में होता है, ज्ञान आत्मा से अभिन्न है। अतः ठण्डी व गरम अवस्था के ज्ञान से आत्मा अभिन्न है और वह ज्ञान पुद्गल से सदा भिन्न है।

यह दृष्टान्त कहा, अब सिद्धान्त कहते हैं :—

"इसी प्रकार ऐसा अनुभव कराने में समर्थ ऐसी राग-द्वेष सुख-दुःखादि रूप पुद्गल परिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उसप्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है।"

जैसे शीत-उष्ण पुद्गल के परिणाम हैं, उसीतरह पुण्य व पाप, दया व दान, व्रत व भक्ति, काम व क्रोध आदि भाव भी पुद्गल के परिणाम हैं। पहले ६१ वीं गाथा में 'राग-द्वेषादि भावों का कर्ता अज्ञानभाव से आत्मा है' – ऐसा कहा था और यहाँ उन्हीं परिणामों को जड़ में डाल दिया है; क्योंकि यहाँ विभाव को स्वभाव से भिन्न करना है।

रागादिभाव जीव के स्वभाव में नहीं हैं और पर के संग से यानि पुद्गल के निमित्त से उत्पन्न हुए हैं, इसकारण वे पुद्गल के परिणाम हैं – ऐसा कहा है। पर के साथ रहकर उत्पन्न हुए परिणाम पर के ही हैं – पुद्गल के ही हैं। वे राग-द्वेष सुख-दुःख आदि परिणाम जीव का ज्ञान कराने में निमित्त हैं। ज्ञान तो आत्मा स्वयं से ही करता है। ज्ञान में स्व-पर को प्रकाशित करने की सहज सामर्थ्य है। इसकारण स्व-पर का ज्ञान करनेवाला जीव स्वयं है तथा उस ज्ञान में राग-द्वेष आदि परपदार्थ निमित्त हैं अर्थात् राग को जाननेवाली ज्ञान की अवस्था स्वयं से हुई है, रागादि से नहीं हुई।

भाई! यह बात खूब शान्ति एवं धैर्य से सुनने जैसी है। शीत-उष्ण अवस्था पुद्गल से अभिन्न है। वह शीत-उष्ण अवस्था ज्ञान में निमित्त है। शीत-उष्ण अवस्था ज्ञान की पर्याय की कर्ता नहीं है तथा ज्ञान की पर्याय शीत-उष्ण अवस्था की कर्ता नहीं है। उसीतरह भगवान आत्मा में दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम तथा हिंसा, झूठ, चोरी आदि के परिणाम तथा सुख-दुःख की कल्पना ये सब पुद्गल के परिणाम हैं; क्योंकि वे शुद्ध चैतन्य की आत्मा की जाति के नहीं हैं। पुण्य-पाप के पुद्गल परिणाम पुद्गल से अभिन्न हैं तथा आत्मा से सदा भिन्न हैं और उनके निमित्त से हुआ उसप्रकार का अनुभव अर्थात् ज्ञान आत्मा से अभिन्नपने के कारण पुद्गल से सदा अत्यन्त भिन्न हैं।

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमय प्रभु आनन्द का नाथ है। उसके द्रव्य-गुण में तो राग है ही नहीं और पर्याय में जो राग है, उसे यहाँ पुद्गल के परिणाम में सम्मिलित किया है। निमित्त के आधीन होने से जो दया, दान, व्रत तथा काम, क्रोधादि शुभाशुभ भाव होते हैं, वे पुद्गल के

परिणाम हैं। वे पुद्गल से अभिन्न एकमेक हैं तथा आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं।

अज्ञानी पुण्य-पाप आदि भावों का अज्ञानभाव से कर्ता है, किन्तु ज्ञान होने पर वह पुद्गलपरिणाम का कर्ता नहीं है – ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। यहाँ राग व ज्ञान का भेदज्ञान कराना है। राग-द्वेष के परिणाम ज्ञान होने में निमित्त हैं; परन्तु राग-द्वेष के परिणाम जीव का कार्य नहीं हैं। आत्मा राग-द्वेष का कर्ता बने – ऐसी आत्मा में कोई शक्ति नहीं है।

राग-द्वेषादि के परिणाम जीव की (चैतन्य की) जाति के नहीं हैं, इसलिये उनको पुद्गल के परिणाम कहा है। ७२ वीं गाथा में उनको अचेतन जड़ कहा है। शुभाशुभ परिणाम अशुचि हैं, भगवान आत्मा अत्यन्त शुचि है, पुण्य-पाप के भाव जड़ हैं, भगवान आत्मा शुद्ध विज्ञानघन है; पुण्य-पाप के भाव दुःखरूप हैं, भगवान आत्मा सदा आनन्दरूप है।

अरेरे! इसे खबर नहीं है कि आत्मा को विज्ञानघन 'भगवान' कहकर पुकारा है। माता बालक को जब पालने में सुलाती है, तब उसे यह कहकर सुलाती है कि "मेरा बेटा चतुर है और पाटला पर बैठकर नहाता है।" ऐसी प्रशंसा करके सुलाती है, यदि उसे डाँटे फटकारे तो वह भी पालने में नहीं सोता। उसीप्रकार यहाँ त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव तथा वीतरागी सन्त जगत के जीवों को जागृत करने हेतु 'भगवान' कहकर बुलाते हैं।

अरे, भगवन्! तू त्रिलोकीनाथ है। ये राग-द्वेष आदि के परिणाम तो पुद्गल के परिणाम हैं, तेरी चैतन्य की जाति के नहीं हैं। ये व्यवहार-रत्नत्रय के परिणाम जड़ – अचेतन – पुद्गल के परिणाम हैं। अरे भाई! जिस व्यवहाररत्नत्रय को तू साधन मानता है, उसे तो यहाँ पुद्गल के परिणाम अर्थात् जड़ – अचेतन कहा है।

अहो! श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने क्या गजब का काम किया है! आत्मा तो आत्माराम है। जो अतीन्द्रिय आनन्द में रमता है, उसे आत्माराम कहते हैं, और जो राग में रमे, वह आत्माराम नहीं है, हराम है। ७२ वीं गाथा में राग को अनात्मा – जड़ कहा है, तथा जीव-अजीव अधिकार में दया, दान, व्रत आदि परिणाम को अजीव कहा है।

यहाँ भी यही कहा है कि राग-द्वेष, सुख-दुःखादि पुद्गलपरिणाम की अवस्था, पुद्गल के साथ अभिन्नता के कारण आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। बात बहुत सूक्ष्म है, जरा शान्ति से समझना चाहिये।

अरे ! कमाने-धमाने में यह जिन्दगी व्यर्थ चली जा रही है । संसार के दु:खों में रुल-रुलकर मरना पड़ेगा । ऐसी सूक्ष्म बात सुनने का मौका मिल गया है, तो धैर्य से सुनकर निर्णय कर ले । यहाँ कहते हैं कि देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग तथा व्यवहाररत्नत्रय का राग पुद्गल से अभिन्न है और तुझसे भिन्न है । शुद्ध चैतन्य के लक्ष्य से जो आत्मा के आनन्द का अनुभव होता है, उसमें वह निमित्त भले हो; परन्तु उससे अनुभव की दशा उत्पन्न नहीं होती ।

भगवान ने नव तत्त्व कहे हैं, वे सब भिन्न-भिन्न हैं । आस्रवतत्त्व जीवतत्त्व से भिन्न है । यदि ऐसा न हो तो नव तत्त्व सिद्ध नहीं हो सकते । पुण्यतत्त्व यदि जीव का हो जावे तो दो तत्त्व एक हो जायेंगे और इस तरह तो नव तत्त्व ही नहीं रह सकेंगे । भगवान आत्मा ज्ञायक तत्त्व है, वह पुण्यतत्त्वरूप कैसे हो सकता है ?

पुण्य-पाप, सुख-दु:खादि का जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान आत्मा से अभिन्न है तथा पुण्य-पाप आदि भाव आत्मा से भिन्न हैं । आत्मा स्व-पर प्रकाशक ज्ञानरूप स्वयं से परिणमता है; उसमें दया, दान आदि पुण्य-पाप के भाव निमित्तमात्र हैं । निमित्त का अर्थ उपस्थिति है । ज्ञान तो स्वयं से हुआ है, निमित्त से नहीं ।

अब कहते हैं कि "जब आत्मा अज्ञान के कारण उस राग-द्वेष सुख-दु:खादि का और उसके अनुभव का परस्पर विशेष नहीं जानता हो, तब एकत्व के अध्यास के कारण, शीत-उष्ण की भाँति (अर्थात् जैसे शीत-उष्ण-रूप से आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है उसीप्रकार) जिसरूप आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है – ऐसे राग-द्वेष, सुख-दु:खादिरूप अज्ञानात्मा के द्वारा परिणमित होता हुआ (परिणमित होना मानता हुआ) ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं अज्ञानमय होता हुआ, 'यह मैं रागी हूँ' – (अर्थात् यह मैं राग करता हूँ) इत्यादि विधि से रागादि कर्म का कर्ता प्रतिभासित होता है ।"

अज्ञानी को दया, दान आदि के परिणाम और आत्मा की एकता का अध्यास है – इसकारण इसे दोनों के बीच जो भिन्नता है, उसका भान नहीं है । पुण्य-पाप के परिणाम मुझसे भिन्न हैं तथा उस सम्बन्धी ज्ञान मुझसे अभिन्न है – ऐसा अज्ञानी को भान नहीं है । जैसे आत्मा द्वारा शीत-उष्ण अवस्था करना अशक्य है, वैसे आत्मा द्वारा राग-द्वेषादि अवस्था करना भी

अशक्य है। दया, दान आदि परिणामरूप से आत्मा का परिणमना अशक्य है।

अहाहा! 'मैं जाननेवाला अर्थात् एकमात्र ज्ञायक हूँ' – ऐसे भान बिना दया-दान, पुण्य-पापरूप से, अज्ञानरूप से परिणमन करता हुआ या उस-रूप से स्वयं को परिणमित हुआ मानकर अज्ञानी होता है; तथा ये दया-दान आदि भाव 'मैं करता हूँ' – ऐसे भाव से अज्ञानी रागादिभाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।

अरे! भगवान आत्मा तो ज्ञायकस्वभावी चैतन्यविम्ब प्रभु है तथा शुभाशुभभाव, पुण्यपाप के भाव, मिथ्यात्व का भाव, अचेतन – जड़ मलिन आस्रवभाव हैं। अर्थात् ये आस्रव आत्मा से विपरीत स्वभाववाले अचेतन – जड़ हैं। इन शुभाशुभभावपने आत्मा का परिणमना अशक्य है। छठवीं गाथा में आता है कि ज्ञायक आत्मा शुभाशुभभाव के स्वभाव से नहीं परिणमता। यदि शुभाशुभभावरूप से परिणमे तो स्वयं जड़ हो जाय; क्योंकि शुभाशुभभाव अचेतन – जड़ हैं। राग स्वयं को नहीं जानता तथा समीपवर्ती आत्मा को भी नहीं जानता; वल्कि दूसरों द्वारा जाना जाता है। इसीकारण राग को जड़ – अचेतन कहा गया है।

आत्मा पर का कर्ता हो या पर का कार्य करे – ये बात तो दूर ही रह गई; शरीर, मन, वाणी की क्रिया तथा जगत की व्यवस्था आत्मा करे – यह बात तो बहुत दूर रही; यहाँ तो यह कहते हैं कि दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के विकल्परूप परिणमना भी आत्मा को अशक्य है। पुण्य-पाप के विकल्प आत्मा के अज्ञानभाव हैं अर्थात् पुण्य-पाप के भावों में ज्ञान-भाव का अंश नहीं है। ये भाव चैतन्य से विरुद्ध जाति के विजातीय, जड़ एवं अचेतन हैं। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान का ज्ञानरूप ही परिणमन होना चाहिये, वही वास्तविक है। परन्तु अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं होने से मिथ्यादृष्टि जीव को ऐसा भासित होता है कि 'मैं राग-द्वेषरूप, पुण्य-पाप के भावरूप परिणमन करता हूँ' – इसप्रकार ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ वह रागादि कर्मो का कर्ता होता है।

जिसे भगवान ज्ञायक स्वरूप आत्मा की दृष्टि का अभाव है, वह मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है कि 'मैं स्वयं रागी हूँ, पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, मैं शुभाशुभभाव करता हूँ – ऐसा मानता हुआ वह रागादि कर्मों का कर्ता प्रतिभासित होता है।

यह सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि का सार भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस शास्त्र में भर दिया है। अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका द्वारा विशेष स्पष्टीकरण किया है। प्रभु! तेरी प्रभुता की तुझे खबर नहीं है। ज्ञान व आनन्दरूप परिणमना तेरी प्रभुता है, रागरूप परिणमना तेरी प्रभुता नहीं है। रागरूप परिणमने से तो ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट होता है।

ज्ञानरस से भरा भगवान ज्ञायक स्वयं ज्ञानरूप परिणमे – ऐसी इसकी सामर्थ्य है, व्यवहाररत्नत्रय के रागरूप परिणमन करे – ऐसी इसकी शक्ति ही नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय के रागरूप ज्ञायक आत्मा का परिणमना अशक्य है, परन्तु ज्ञायकभाव की रुचि छोड़कर अज्ञानी रागरूप (अज्ञानरूप) परिणमता है।

आत्मा जब ज्ञानस्वभाव से परिणमे, तब उसे ज्ञानरूप परिणमन कहते हैं और जब रागरूप परिणमन करे तो उसे अज्ञानरूप परिणमन कहते हैं। अरे भाई! तूने व्यवहाररत्नत्रय के रागरूप तो अनन्तवार परिणमन किया है, एकबार ज्ञानरूप परिणमन कर।

भाई! पंचमहाव्रत के परिणाम और २८ मूलगुणों को पालन के भाव राग हैं, विभाव हैं तथा भगवान आत्मा अमृत का सागर है। अमृत स्वरूप आनन्द का नाथ राग के जहररूप कैसे हो? परन्तु अज्ञानी अपने अमृतस्वरूप भगवान ज्ञायक की दृष्टि छोड़कर, पर्यायबुद्धि होकर – 'मैं पुण्य-पाप आदि भावों का कर्ता हूँ' इसप्रकार अज्ञानपने से विपरीत मानता है।

त्रिकाली सम्यक् स्वरूप की दृष्टि हो तो 'मैं रागरूप परिणमता हूँ' – ऐसी बुद्धि नहीं रहती। सम्यग्दृष्टि के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की दृष्टि का परिणमन होता है। उसका वह परिणमन ज्ञानरूप है। ज्ञानी ज्ञानभाव छोड़कर रागभाव से नहीं परिणमता, क्योंकि उसकी दृष्टि ज्ञायक पर स्थिर हुई है; परन्तु अज्ञानी की दृष्टि ज्ञायक पर नहीं है। इसकारण अपने स्वभाव से ज्ञानरूप होता हुआ, ज्ञानरूप परिणमन के बदले ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, राग का कर्ता होकर परिणमन करता है। 'मैं पुण्य-पाप आदि करता हूँ' – ऐसा मानता हुआ अज्ञानी पुण्य-पाप आदि भावरूप से अज्ञानपने परिणमन करता हुआ रागादि का कर्ता होता है।

अहो! अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अलौकिक टीका की है। 'मैं ज्ञाता हूँ' – ऐसी दृष्टि करके परिणमन करे, वह ज्ञानरूप परिणमन है, क्योंकि इसमें ज्ञान का ज्ञानत्व प्रसिद्ध होता है; परन्तु 'मैं रागी हूँ' – ऐसा मानकर रागरूप परिणमन करना अज्ञानरूप परिणमन है, क्योंकि इसमें ज्ञान का

अज्ञानत्व प्रसिद्ध होता है। अहो ! गजब बात है, इसमें तो जैनदर्शन का सार भर दिया है।

'ज्ञान का अज्ञानत्व' इस शब्द में बहुत भारी गंभीरता है। अहा ! जो अपने चैतन्यस्वरूप को छोड़कर अकेला रागरूप परिणमता है, वह ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ राग का कर्त्ता होता है। अहो ! यह गाथा अलौकिक है। राग में ज्ञान नहीं है तथा ज्ञान में राग नहीं है – ऐसा सूक्ष्म रहस्य इस गाथा द्वारा प्रगट किया है।

इस टीका का नाम आत्मख्याति है। आत्मख्याति में श्री अमृतचन्द्र आचार्यदेव ने अमृत भरा है। आत्मख्याति अर्थात् आत्मप्रसिद्धि। शुद्ध चैतन्य के लक्ष्य से आत्मा प्रसिद्ध होता है, परन्तु अज्ञानी अपने चैतन्य स्वरूप भगवान को भूलकर परलक्ष्य से राग की – अज्ञान की प्रसिद्धि करता है, इससे वह राग का कर्ता होता है।

यह परमात्मा की दिव्यध्वनि में आयी हुई परम सत्य बात है। दो-चार माह शुद्ध चैतन्य की बात भी सुने तो उससे जीव को उत्कृष्ट पुण्य बंधता है और उस पुण्य के उदय में लक्ष्मी आदि बाह्य अनुकूल सामग्री भी मिलती है। अहा ! यदि राग का लक्ष्य छोड़कर शुद्ध चैतन्य की दृष्टि करे तो इसकी तो बात ही क्या कहें ? इससे तो जीव निहाल ही होता है। इससे तो जन्म-मरण का अभाव करनेवाला सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

भाई ! पुण्य के निमित्त से जो बाहर की लक्ष्मी आदि मिलती है – वह तो सब धूल-मिट्टी है, और पुण्य तथा उसके फल को अपना माने तो वह मिथ्यात्व भाव है। जीव तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, परन्तु जो पुण्य-पाप आदि अजीव को अपना माने, वह मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि जीव स्वयं अज्ञानी होता हुआ 'मैं रागी हूँ' इत्यादि विधि से रागादि कर्मों का कर्ता प्रतिभासित होता है। 'मैं रागी हूँ' अर्थात् राग मेरा कर्त्तव्य है तथा 'मैं राग का कर्ता हूँ' – ऐसा अज्ञानी को प्रतिभासित होता है। जहाँ तक दृष्टि राग पर है, वहाँ तक वह राग का कर्ता है और मिथ्यादृष्टि है।

भाई ! जो राग से धर्म माने, वह कायर है, नपुंसक है। आत्मा में वीर्य नाम का गुण है। यह वीर्य गुण निर्मल परिणति उत्पन्न करनेवाला है। वीर्यगुण का काम राग की उत्पत्ति करना नहीं है। राग की परिणति उत्पन्न करनेवाले को तो नपुंसक कहा है। समयसार की ३०वीं गाथा में आत्मा के असाधारण लक्षण को नहीं जानने के कारण अज्ञानी को नपुंसक कहा है।

उसीप्रकार जो शुभराग की रुचि करे, शुभराग की रचना करे, उसको पुण्य-पाप अधिकार की १५४वीं गाथा की टीका में नपुंसक कहा है। "दुरन्तकर्मचक्र को पार करने की नपुंसकता के कारण परमार्थभूत ज्ञान के भवनमात्र सामायिक स्वरूप आत्मस्वभाव को न प्राप्त होते हुए, जिनके अत्यन्त स्थूल संक्लेश परिणामरूप कर्म निवृत्त हुए हैं और अत्यन्त स्थूल विशुद्ध परिणामरूप कर्म प्रवर्त रहे हैं, ऐसे लोग स्वयं स्थूल लक्ष्यवाले होकर संक्लेश परिणाम को छोड़ते हुए भी समस्त कर्मकाण्ड को मूल से से नहीं उखाड़ते।" – ऐसे जीवों को नपुंसक, हीजड़ा आदि नामों से तिरस्कृत किया है। टीका में स्पष्ट 'क्लीब' शब्द आया है, जिसका अर्थ नपुंसक है।

इसप्रकार ज्ञानानन्द स्वभाव की दृष्टि छोड़कर रागरूप परिणमन करता हुआ अज्ञानी 'मैं रागी हूँ तथा इस राग को मैं करता हूँ' – ऐसी बुद्धि या मान्यता द्वारा राग का कर्त्ता होता है।

गाथा ९२ के भावार्थ पर प्रवचन

राग-द्वेष, पुण्य-पाप का भाव, सुख-दुःख आदि अवस्थायें सब पुद्गल-कर्म के उदय का स्वाद है, आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं है। शीत-उष्ण की भाँति ये परिणाम पुद्गल से अभिन्न हैं, भगवान् ज्ञायक से वे परिणाम अत्यन्त भिन्न हैं। दया-दान-व्रत आदि के परिणाम आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं, परन्तु अज्ञानी को ऐसा भेदज्ञान नहीं है; इसकारण वह ऐसा ही जानता है कि यह स्वाद मेरा ही है। अज्ञानी मानता है कि राग मेरी वस्तु है। अरे भाई! वस्तु तो ज्ञायक है। ज्ञायक मेरी वस्तु है – ऐसा मानने के बदले राग मेरी वस्तु है – ऐसा मानता है – यही अज्ञान है, मिथ्यात्व है।

ज्ञान की स्वच्छता के कारण राग-द्वेषादि का स्वाद ज्ञान में प्रतिबिम्बित होता है। जैसा राग होता है, वैसा ज्ञान में जाना जाता है। वहाँ अज्ञानी ऐसा जानता है कि ज्ञान ही राग-द्वेषरूप हो गया है। राग तो वस्तुतः ज्ञान का परज्ञेय है, परन्तु ऐसा न मानकर 'मैं राग-द्वेषरूप ही हो गया हूँ' – ऐसा अज्ञानी को भासित होता है। इसकारण वह ऐसा मानता है कि 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ'। इसप्रकार अज्ञानी जीव रागादि कर्मों का कर्त्ता होता है, अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का भान प्रगट नहीं करता।

ज्ञानात्तु न कर्म प्रभवतीत्याह –

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो ।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥९३॥

परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन् ।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ॥९३॥

अयं किल ज्ञानादात्मा परात्मनोः परस्पर विशेषनिर्ज्ञाने सति परमात्मानमकुर्वन्नात्मानं च परमकुर्वन्स्वयं ज्ञानमयीभूतः कर्मणामकर्ता प्रतिभाति। तथाहि तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञान से कर्म उत्पन्न नहीं होताः –

पर को नहीं निजरूप अरु, निज आत्म को नहिं पर करे ।
यह ज्ञानमय आत्मा अकारक कर्म का ऐसे बने ॥९३॥

गाथार्थः—[परम्] जो पर को [आत्मानम्] अपनेरूप [अकुर्वन्] नहीं करता [च] और [आत्मानम् अपि] अपने को भी [परम्] पररूप [अकुर्वन्] नहीं करता, [सः] वह [ज्ञानमयः जीवः] ज्ञानमय जीव [कर्मणाम्] कर्मों का [अकारकः भवति] अकर्त्ता होता है अर्थात् कर्त्ता नहीं होता ।

टीकाः— यह आत्मा जब ज्ञान से पर का और अपना परस्पर विशेष (अन्तर) जानता है, तब पर को अपनेरूप और अपने को पररूप नहीं करता हुआ, स्वयं ज्ञानमय होता हुआ, कर्मों का अकर्त्ता प्रतिभासित होता है । इसी को स्पष्टतया समझाते हैंः– जैसे शीत-उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ ऐसी शीत-उष्ण पुद्गलपरिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला

नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य चात्मानोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्य ज्ञानात्परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति नानात्व-विवेकाच्छीतोष्णरूपेणेवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदु:खादि-रूपेणाज्ञानात्मना मनागप्यपरिणममानो ज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन् स्वयं ज्ञानमयीभूतः एषोऽहं जानाम्येव, रज्यते तु पुद्गल इत्यादिविधिना समग्रस्यापि रागादेः कर्मणो ज्ञानविरूद्धस्याकर्ता प्रतिभाति ।

उसप्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है, उसीप्रकार वैसा अनुभव कराने में समर्थ ऐसी राग-द्वेष, सुख-दु:खादिरूप पुद्गलपरिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है। जब ज्ञान के कारण आत्मा उस राग-द्वेष, सुख-दु:खादि का और उसके अनुभव का परस्पर अन्तर जानता है, तब वे एक नहीं, किन्तु भिन्न हैं – ऐसे विवेक (भेदज्ञान) के कारण, शीत-उष्ण की भाँति (जैसे शीत-उष्णरूप आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है उसीप्रकार) जिनके रूप में आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है – ऐसे राग-द्वेष, सुख-दु:खादिरूपसे अज्ञानात्मा के द्वारा किंचित्मात्र परिणमित न होता हुआ, ज्ञान का ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं ज्ञानमय होता हुआ, 'यह मैं (राग को) जानता ही हूँ; राग तो पुद्गल है (अर्थात् राग तो पुद्गल करता है)' इत्यादि विधि से, ज्ञान से विरुद्ध समस्त रागादि कर्म का अकर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थः– जब आत्मा राग-द्वेष, सुख-दु:खादि अवस्था को ज्ञान से भिन्न जानता है अर्थात् 'जैसे शीत-उष्णता पुद्गल की अवस्था है उसीप्रकार राग-द्वेषादि भी पुद्गल की अवस्था है' ऐसा भेदज्ञान होता है, तब अपने को ज्ञाता जानता है और रागादिरूप पुद्गल को जानता है। ऐसा होने पर, रागादि का कर्ता आत्मा नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है।

गाथा ६३ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

"यह आत्मा जब ज्ञान से पर का और अपना परस्पर विशेष (अन्तर – भेद) जानता है, तब पर को अपनेरूप और अपने को पर नहीं करता हुआ, स्वयं ज्ञानमय होता हुआ कर्मों का अकर्ता प्रतिभासित होता है।"

सम्यग्दर्शन होने पर 'मैं ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान चैतन्यमूर्ति आत्मा हूँ तथा अचेतन – जड़ रागादि मुझसे भिन्न हैं – ऐसा भान होता है। दया-दान का राग हो या पंच महाव्रत का – ये सब आस्रव हैं, दुःखदायक हैं, और निजवस्तु अर्थात् आत्मवस्तु आनन्ददायक है। इसप्रकार जो आत्मा और पर का अन्तर (भेद) जानता है, वह स्वयं ज्ञानमय होता हुआ कर्म का अकर्ता प्रतिभासित होता है।

भेदज्ञान होने पर ज्ञानी राग को अपनेरूप नहीं करता तथा अपने को रागरूप नहीं करता। अहाहा! आत्मा त्रिकालीध्रुव चैतन्यस्वभावमय, ज्ञायक स्वभावमय वस्तु है। ऐसी चैतन्यवस्तु की दृष्टि होने पर धर्मी ऐसा जानता है कि मैं तो ज्ञानमय हूँ, मैं व्यवहाररत्नत्रय के परिणामरूप भी नहीं हूँ। ज्ञानी के व्यवहार होता तो अवश्य है, परन्तु उस व्यवहार को ज्ञानी स्वरूप से भिन्न ही मानते हैं। मैं तो व्यवहार का – राग का जाननेवाला हूँ – ज्ञानी ऐसा मानता है। समय-समय में उत्पन्न हुआ राग ज्ञानी को मात्र जानने के लिए प्रयोजनवान है, यह वस्तुस्थिति है। अहो! वस्तुस्थिति को स्पष्ट करनेवाली भगवान कुन्दकुन्ददेव की वाणी अलौकिक है।

जो व्यक्ति अपने ज्ञानानन्द स्वभाव को राग से भिन्न करके ज्ञानमय हुआ, वह ऐसा जानता है कि मैं तो ज्ञायक – जाननेवाला हूँ; यद्यपि वर्तमान में अपनी कमजोरी से विषय-वासना का राग भी मौजूद है, तथापि मैं तो उस राग से भिन्न, मात्र उस राग को जाननेवाला ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ। अहा! मेरे ज्ञानस्वभाव में राग नहीं है और राग में मेरा ज्ञान नहीं है। मैं तो ज्ञानस्वरूप चेतनतत्त्व हूँ और राग अचेतन है; यह शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा अचेतन रागरूप कैसे हो सकता है? – ऐसा भेदज्ञान होने पर आत्मा स्वयं ज्ञानमय होता हुआ कर्म का अकर्ता होता है। यहाँ 'स्वयं' शब्द इसलिए डाला है, ताकि कोई ऐसा न समझ ले कि कर्म का अभाव हुआ, इसलिए आत्मा ज्ञानमय हुआ है। वस्तु में ऐसी पराधीनता नहीं है। बल्कि वास्तविकता यह है कि अन्दर में (आत्मा) वस्तु स्वयं चिदानन्दघन-स्वरूप विद्यमान है, उसका आश्रय करने से आत्मा स्वयं ज्ञानमय हो जाता है।

अहो! जैनदर्शन तो विश्वदर्शन है और यही विश्व को शरणभूत है। धर्मी ऐसा मानते हैं कि 'मैं तो स्वयं ज्ञानमय हूँ।' राग है – इसकारण राग का ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है अर्थात् राग का ज्ञान करने के लिए

राग की उपस्थिति आवश्यक नहीं है, ज्ञान स्वयं अपनी योग्यता से अपने में से होता है, ज्ञान को ज्ञानपर्यायरूप होने में पर की अपेक्षा नहीं है। ज्ञानी स्वयं ज्ञानरूप होता हुआ कर्म का अकर्त्ता प्रतिभासित होता है। यहाँ जड़कर्म की बात नहीं है। ज्ञानी दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभभाव का अकर्त्ता प्रतिभासित होता है।

इसी को और स्पष्टीकरण के साथ समझाया जाता है :—

"जैसे शीत-उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ ऐसी शीत-उष्ण पुद्गलपरिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदैव अत्यन्त भिन्न है तथा उस शीत-उष्ण के निमित्त से हुआ उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा अत्यन्त भिन्न है।"

देखो, शीत-उष्ण अवस्था पुद्गल का परिणाम है, वह पुद्गल से अभिन्न अर्थात् एकमेक है। इसकारण वह अवस्था आत्मा से सदा अत्यन्त भिन्न है। शीत-उष्णरूप पुद्गल की अवस्था जीव को शीत-उष्णपने का अनुभव कराने में समर्थ है अर्थात् वह शीत-उष्ण अवस्था जीव को शीत-उष्ण का ज्ञान कराने में निमित्त है। उस शीत-उष्ण के निमित्त से हुआ उसप्रकार का अनुभव अर्थात् उसप्रकार का ज्ञान आत्मा से अभिन्न है। शीत-उष्ण का जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान आत्मा से अभिन्न है। तात्पर्य यह है कि जो शीत-उष्ण का ज्ञान हुआ है, वह आत्मा से स्वयं से हुआ है, शीत-उष्ण की अवस्था के कारण नहीं हुआ है। शीत-उष्ण का ज्ञान शीत-उष्ण अवस्था से सदा भिन्न है।

भगवान आत्मा ठण्डी और उष्ण अवस्था का अनुभव या ज्ञान करने में समर्थ है। आत्मा शीत-उष्ण का अनुभव तो कर नहीं सकता, क्योंकि शीत-उष्ण तो जड़ की अवस्था है, जड़ की अवस्था का आत्मा अनुभव कैसे कर सकता है ? हाँ, शीत-उष्ण का ज्ञान आत्मा कर सकता है, अतः अनुभव करता है अर्थात् ज्ञान करता है। आत्मा स्वयं से शीत-उष्ण अवस्था का ज्ञान करता है। उस ज्ञान में वह शीत-उष्ण अवस्था निमित्त है। शीत-उष्ण अवस्था के कारण ज्ञान हुआ हो – ऐसा नहीं है, ज्ञान तो स्वयं से स्वतन्त्र हुआ है।

शीत-उष्ण का ज्ञान भी सम्यग्ज्ञानी को यथार्थ होता है। जिसको स्वरूपग्राही ज्ञान होता है, उसको शीत-उष्ण अवस्था का भी सच्चा ज्ञान होता है। कलशटीका के ६०वें कलश में यह बात कही है कि जिसको

स्वरूपग्राही ज्ञान होता है, उसको शीत-उष्ण अवस्था का भी सच्चा ज्ञान होता है, उसको परसम्बन्धी परप्रकाशक ज्ञान भी यथार्थ होता है।

भाई ! यह जन्म-मरण का अन्त करनेवाला अलौकिक सिद्धान्त है। जैसे शीत-उष्ण का ज्ञान आत्मा से अभिन्न है तथा पुद्गल से सदा अत्यन्त भिन्न है, उसीप्रकार उसप्रकार का अनुभव करने में समर्थ राग-द्वेष, सुख-दुःखादिरूप पुद्गलपरिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा अत्यन्त भिन्न है तथा उसके निमित्त से हुआ उस-प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नपने के कारण पुद्गल से सदा अत्यन्त भिन्न है।

देखो, शुभाशुभ राग तथा हर्ष-शोक के परिणाम सब पुद्गल-परिणाम हैं। जैसे शीत-उष्ण अवस्था अचेतन है, उसीप्रकार राग-द्वेष व सुख-दुःख की अवस्था भी अचेतन है। ये राग-द्वेष आदि अवस्थायें पुद्गल-जन्य हैं। वे अनुभव कराने में समर्थ हैं अर्थात् ये अवस्थायें ज्ञान में निमित्त हैं। जैसा राग-द्वेष तथा जैसी सुख-दुःख की कल्पनायें हैं, वैसा ज्ञान होता है। जैसी वस्तु हो, उसे वैसा जानना ही ज्ञान का स्वभाव है। दया, दान का विकल्प कर्मचेतना है तथा हर्ष-शोक का परिणाम कर्मफलचेतना है। कर्म-चेतना व कर्मफलचेतना पुद्गल के परिणाम हैं, अचेतन हैं। उक्त पुद्गल-परिणाम पुद्गल से अभिन्न हैं तथा आत्मा से सदा अत्यन्त भिन्न हैं।

यहाँ राग से भेदज्ञान कराया है। यद्यपि राग चैतन्य की पर्याय में होता है, तथापि निमित्त की उपाधिपूर्वक होने से निमित्त की अपेक्षा उसे पुद्गल कहा गया है। भगवान आत्मा में राग नहीं है और आत्मा के स्वभाव के लक्ष्य से राग उत्पन्न नहीं होता – इसकारण राग को पुद्गल-परिणाम कहा गया है।

राग-द्वेष व हर्ष-शोक के परिणाम के निमित्त से उसका जो अनुभव अर्थात् ज्ञान होता है, वह आत्मा से अभिन्न है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान तो ज्ञान से ही होता है, किन्तु उसमें वे राग-द्वेषादि के परिणाम निमित्त होते हैं। जब ज्ञान ज्ञान में एकाग्र होता है तो उसे ज्ञानचेतना कहते हैं। उस ज्ञानचेतना में ये रागादि परिणाम निमित्त होते हैं। वे रागादि-भाव पुद्गल से अभिन्न होने के कारण जीव से सदा अत्यन्त भिन्न हैं। यदि राग आत्मा की निजवस्तु हो तो वह आत्मा में से निकल नहीं सकती। जो वस्तु जीव में से निकल जाती है, वह जीव की नहीं है; इसलिये रागादि पौद्गलिक हैं।

पञ्चाध्यायी में पुण्य-पाप के भाव को आगंतुक कहा है। उनको यहाँ अचेतन कहकर अनुभव कराने में समर्थ (अर्थात् ज्ञान कराने में निमित्त) हैं – ऐसा कहा है। ज्ञान तो स्वयं अपने से ही होता है, उसमें रागादिभाव निमित्त हैं – ऐसा कहा है। राग ज्ञान को उत्पन्न करता है – ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। जब भगवान आत्मा राग से भिन्न होकर ज्ञानमय होता है, तब कर्मचेतना व कर्मफलचेतना के परिणाम उसके ज्ञान में मात्र ज्ञेयपने ज्ञात होते हैं, अतः ज्ञेयपने निमित हैं।

अपना जो स्व-पर प्रकाशक ज्ञान परिणमा है, वह ज्ञान आत्मा से अभिन्न है तथा पर से – रागादि से सदैव अत्यन्त भिन्न है। और पर्याय में जो रागादि परिणाम हुए हैं, वे पुद्गल से अभिन्न हैं और आत्मा से सदा अत्यन्त भिन्न हैं। अहा! जैसे करोंत से लकड़ी के दो टुकड़े हो जाते हैं, ऐसे ही ज्ञान व राग के बीच भेदज्ञानरूपी करोंत से दो टुकड़े करने की यह बात है। रागादि परिणाम ज्ञान में निमित्त हैं – इसका क्या अर्थ है? बस, इसका मात्र इतना ही अर्थ है कि ज्ञान स्वयं से स्व-परप्रकाशकपने परिणमता है, उसमें वे रागादिभाव परज्ञेयरूप से मात्र निमित हैं। आत्मा ज्ञान करने में स्वतंत्र है। राग हुआ है, इसकारण राग का ज्ञान हुआ हो – ऐसा नहीं है।

देखो, यह परमात्मा की वाणी है, परमेष्ठी की वाणी है। आचार्य भी परमेष्ठी हैं न? 'धवला' शास्त्र में 'णमो लोए त्रिकालवर्ती सव्व अरहंताणं' इत्यादि पाठ है। त्रिकालवर्ती पंचपरमेष्ठी के अस्तित्व को स्वीकार करके उनको नमस्कार करने का जो राग हुआ, वह पुद्गल का परिणाम है। यद्यपि वह पुद्गलपरिणाम ज्ञान कराने में निमित्तरूप से समर्थ है, किन्तु है तो वह पुद्गल का ही परिणाम; अतः वह पुद्गल से अभिन्न है उसका जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान आत्मा से अभिन्न है और राग के परिणाम से अत्यन्त भिन्न है।

पर को नमस्कार का भाव राग है, विकल्प है। अपने अनुभव में लीन होना, स्व में नमना-झुकना ही निश्चय नमस्कार है। स्व के आश्रय से निर्विकल्पदशा भाव नमस्कार है। पंच परमेष्ठी की वन्दना का विकल्प कर्मचेतना है और उनकी वन्दना के भाव में जो हर्ष हुआ, वह कर्मफल-चेतना है। ये कर्मचेतना व कर्मफलचेतना के परिणाम पुद्गल से अभिन्न हैं और उस प्रकार के ज्ञान से सर्वथा भिन्न हैं। अहाहा! कैसी गजब बात है।

प्रभु ! तू अपनी ऋद्धि तो देख ! राग का ज्ञान करने में तू स्वतंत्र है, किन्तु राग करने की शक्ति तुझमें नहीं है, क्योंकि राग की तुझमें नास्ति है। इस नीम के एक फूल में (कोपल में) असंख्य शरीर हैं और एक शरीर में एक-एक जीव है – इसप्रकार ठसाठस जीव भरे हैं। प्रत्येक के कार्माण व तेजस शरीर भिन्न हैं। ऐसे जीव के अस्तित्व को ज्ञानी ही स्वीकार कर सकते हैं। एक राई के दाने के बराबर आलू के टुकड़े में निगोदिया जीवों के असंख्य औदारिक शरीर हैं तथा प्रत्येक शरीर में अनन्त एकेन्द्रिय जीव हैं। प्रत्येक के परिणाम भिन्न हैं। एक जीव का परिणाम दूसरे जीव के परिणाम को स्पर्श नहीं करता। अरे प्रभु ! तू अपने ज्ञान की गम्भीरता तो देख ! ज्ञान उन्हें स्वीकार करता है तथा वह वस्तु ज्ञान में निमित्त भी है, परन्तु उसको स्वीकार करनेवाला ज्ञान स्वयं से हुआ है, निमित्त से नहीं।

अहाहा···· ! कहते हैं कि राग-द्वेष, सुख-दुख आदि अवस्थायें पुद्गल के परिणाम हैं। गजब बात है न ? जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बँधती है, वह भाव भी पुद्गल की अवस्था है, क्योंकि उसके निमित्त से पुद्गल कर्म बँधता है, उससे पुद्गल का संयोग होता है। वह भाव आत्म-भाव नहीं है, इसकारण पुद्गल परिणाम है। ज्ञानी को तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के कारणरूप जो शुभराग आता है, वह राग ज्ञान में निमित्त होता है। उस शुभराग सम्बन्धी जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान आत्मा से अभिन्न है और पुद्गल से अर्थात् उस शुभरागरूप पुद्गल से अत्यन्त भिन्न है। अहो ! ज्ञान की पर्याय का इतना विषय है कि वह अनन्त के अस्तित्व को अनन्तरूप से जानती है, किन्तु वह जानपना पराधीन नहीं है अर्थात् परपदार्थ व रागादि हैं, इसकारण ज्ञान उनको जानता है – ऐसा नहीं है, बल्कि ज्ञान का ऐसा ही स्वतंत्र स्वभाव है।

ज्ञान स्वयं से होता है, शास्त्र से नहीं तथा पर को जानते हुए जो विकल्प होता है, वह विकल्प भी ज्ञान से भिन्न है, इसलिए उस विकल्प से भी ज्ञान नहीं होता। वीतरागी जिनेन्द्र भगवान का सिद्धान्त तो कोई अलौकिक ही है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि भाई समन्वय कर लो; परन्तु भाई ! वीतरागी धर्म का राग में धर्म माननेवालों के साथ समन्वय कैसे हो सकता है ? वीतरागियों का किसी के साथ वैर – विरोध या द्वेषभाव नहीं होता, अतः वीतराग धर्म में आस्था रखनेवालों को भी किसी के साथ

राग-द्वेष या वैर – विरोध रखने की बात नहीं है, किन्तु सत्य में समझ होती है, सत्य में किसी के साथ समझौता या समन्वय नहीं हो सकता ।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि तीर्थंकर प्रकृति के कारण ही तीर्थंकर होते हैं, किन्तु भाई ! तीर्थंकर प्रकृति के कारण कोई तीर्थंकर नहीं होता । तीर्थंकर तो स्वयं अपनी योग्यता से होते हैं, तीर्थंकर प्रकृति किसी को तीर्थंकर नहीं बनाती । हां, इतना अवश्य है कि जो जीव तीर्थंकर होने की योग्यतावाले होते हैं, उनको राग की भूमिका में ऐसा राग आ जाता है, जिसमें तीर्थंकर प्रकृति बँध जाती है, परन्तु बाद में जब स्वभाव के आश्रय से समस्त राग टूट जाता है, तब केवलज्ञान होने पर तीर्थंकर प्रकृति का उदय आता है ।

'राग मेरा कर्म है और मैं राग का कर्त्ता हूँ' – ऐसी राग में कर्त्तृत्व बुद्धि से अज्ञानी जीव दुःखी है । भगवान आत्मा जो आनन्द का नाथ प्रभु है, उसे भूलकर राग मेरा है – ऐसा माननेवाला अज्ञानी जीव चार गति में भटकता हुआ महादुःखी रहता है, क्योंकि राग दुःख है । आचार्यदेव यहाँ कहते हैं कि ज्यों ही भेदज्ञान हुआ कि राग का परिणाम – दुःख का परिणाम पुद्गल के साथ अभिन्न है; और उस राग परिणाम के निमित्त से होनेवाला उसप्रकार का ज्ञान आत्मा से अभिन्न है एवं राग से भिन्न है – ऐसा विवेक जागृत हो जाता है । जब तक भगवान आत्मा ऐसा भेदज्ञान नहीं करेगा, तब तक वह भूला हुआ भगवान चार गति में ही रुलेगा ।

जगत के बिचारे भोले-भाले जीव व्यापार धन्धे में, कमाने-खाने में फंसे हुए हैं, उन्हें तत्त्व की इस महत्त्वपूर्ण बात का निर्णय करने की फुर्सत ही कहां है ? किन्तु दुःख से बचना हो तो यह समझे बिना निर्वाह नहीं होगा । अरे भाई ! तू यह तत्वज्ञान की अलौकिक खेती तो करता नहीं और ज्वार-बाजरा आदि की लौकिक खेती करता है, जिससे पैसा आता है, उसे देख-देखकर हर्षित होता है, प्रसन्न हो जाता है । जब कपास खूब पकता है, तो लोग कहते हैं कि कच्चा सोना पका है । अरे भाई ! जो खेती का मूल्य है, वह तेरी वस्तु नहीं है; वह तो पर वस्तु है । उससे सम्बन्धित जो विकल्प आता है, वह भी तीव्र राग होने से दुःखरूप ही है । वह राग का या दुःख का परिणाम निश्चय से जीव से भिन्न है और उसका जो ज्ञान हुआ वह आत्मा से अभिन्न है । यह भेदज्ञान की बात है, तथा यही दुःख दूर करने का उपाय है ।

शीत-उष्ण की तरह पुण्य-पाप के भाव को भी यहाँ पुद्गल में ही सम्मिलित किया है। शीत-उष्ण परमाणु की अवस्था है तथा यह राग-द्वेष जीव की पर्याय है, तथापि यहां उसे अचेतन कहकर पुद्गल परिणाम कहा है। अचेतन तो है, किन्तु उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण नहीं है। जड़कर्म की अवस्था में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण है तथा इस रागादि अवस्था में स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण नहीं; परन्तु रागादि की पर्याय में ज्ञान का अंश नहीं है, इसलिए उसे अचेतन कहकर पुद्गल परिणाम कहा है।

अहो ! यह समयसार जगत् का अजोड़ – अद्वितीय चक्षु है, भरतक्षेत्र का भगवान है। शीत-उष्ण का अपने को ज्ञान होता है, तो इस शीत-उष्ण अवस्था को ज्ञान कराने में समर्थ कहा है। समर्थ का अर्थ यहाँ निमित्त है। उसीप्रकार राग-द्वेष का ज्ञान कराने में समर्थ है, अर्थात् निमित्त है। ज्ञान तो स्वयं से होता है, निमित्त से नहीं।

बड़े-बड़े बंगले हों, उनमें मखमल के गलीचे हों, लाखों का फर्नीचर हो; किन्तु यह सब तो बाहर की धूल-मिट्टी है, जो अनंतबार मिली है, यदि इसमें ममत्व रहे तो इसमें से निकलना बहुत कठिन हो जाता है। यदि तुझे आत्मा की चैतन्यलक्ष्मी का अवलोकन करना हो तो जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बँधती है, वह भाव भी अचेतन है – पुद्गल परिणाम है – ऐसा नक्की कर। इसमें ज्ञानस्वभाव का अभाव है, इसलिये वह भाव पुद्गल परिणाम है। अरे भाई ! जो भाव अचेतन है, वह निश्चय का कारण कैसे हो सकता है ? चेतन की निर्मल पर्याय होने में अचेतन राग कारण नहीं हो सकता। वह भाव ज्ञान में निमित्त हो; परन्तु इससे निश्चय-मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता। अचेतन राग कारण व चैतन्य की पर्याय कार्य – ऐसा कभी नहीं होता।

दृष्टि की अपेक्षा से तो स्वानुभव की निर्विकल्प दशा भी जीव नहीं है। यह दशा तो जीव का पर्याय भाव है। पर्याय का भाव त्रिकाली शुद्ध द्रव्य में नहीं है। सम्यग्दर्शन का विषय तो त्रिकाली शुद्धद्रव्य है। सम्यग्दर्शन की पर्याय या मोक्षमार्ग की पर्याय सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। अनुभूति की पर्याय त्रिकाली ध्रुवसामान्य को विषय करती है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

प्रश्न :– व्यवहार-रत्नत्रय को परम्परा कारण कहा है न ?

उत्तर :– हाँ, ज्ञानी के व्यवहार-रत्नत्रय (शुभराग) को व्यवहार से मोक्ष का कारण कहा है, किन्तु इसका अर्थ ही यह है कि शुभरागरूप

व्यवहार-रत्नत्रय मोक्ष का वास्तविक कारण नहीं है। जिसको राग से भिन्न अपने ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव हुआ है, ऐसे समकिती धर्मीजीव को शुभ के काल में अशुभ टलता है और स्वाश्रय से शुभ टलकर शुद्ध दशा प्रगट होगी – इस अपेक्षा से ज्ञानी के व्यवहार-रत्नत्रय को मोक्ष का परम्परा कारण व्यवहारनय से कहा जाता है।

यथार्थ सिद्धान्त तो यह एक ही है कि व्यवहार से निश्चय नहीं होता, क्योंकि व्यवहार का शुभराग अचेतन है – पुद्गल के परिणामरूप है; वह चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा की निर्मल परिणति का कारण नहीं बन सकता। वह ज्ञान में निमित्त है तथा ज्ञान उसको जाननेवाला है – ऐसी ज्ञान की स्व-परप्रकाशक सहज सामर्थ्य है।

भेदज्ञान होने से धर्मीजीव राग-द्वेष, सुख-दुःख की कल्पना व ज्ञान के बीच परस्पर अन्तर जानता है। देखो! सुन्दर युवती को देखकर अज्ञानी राग करता है और उसमें आनन्द मानता है। जब ज्ञानी को ऐसे प्रसंग में राग होता है तो उसका उसे खेद होता है। वास्तव में ज्ञानी का तो यह राग ज्ञान में निमित्त है। ज्ञानी तो जानता है कि यह राग दुःखरूप है। जो इन्द्रियों के विषयों से निर्वृत्त न हो – ऐसे ज्ञानी को चारित्र के दोष से राग आता है। पाँचवें गुणस्थान तक रौद्रध्यान भी होता है, परन्तु रौद्रध्यान के परिणाम ज्ञान कराने में निमित्त हैं।

ऐसी बात जिन लोगों ने सुनी नहीं है, उन्हें नई लगती है; किन्तु यह नई बात नहीं है। अरे प्रभु! तू तो चैतन्य का नाथ है, अपने स्वभाव में ठहर! इसी में तेरी शोभा है और उसी में तुझे आनन्द होगा। तू निज भगवान आत्मा को अपने अन्तर में विराजमान कर। अज्ञानी की अनादिकाल से पर्याय पर दृष्टि है, इसकारण उसे, शुद्ध चैतन्यतत्त्व की – त्रिकाली द्रव्य की महिमा नहीं आती; परन्तु प्रभु! तू शुद्ध चैतन्य सिन्धु ज्ञान का सागर है, उसमें से ज्ञान की पर्याय उछलती है। जैसे नदी में पानी की तरंगें उठती हैं, रेत की नहीं; उसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञान का दरिया है, उसमें ज्ञानपर्याय की कल्लोलें उठती हैं, रागपर्याय की नहीं – ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

भाई! बात तो जरा सूक्ष्म है, परन्तु क्या करें? सुखी होने का अन्य कोई उपाय नहीं। उपाय तो एकमात्र यह ही है, जो अनन्त तीर्थंकरों ने कहा है। वही (उपाय) दिगम्बर सन्तों ने जगत के जीवों के समक्ष प्रगट किया है। सन्त तीर्थंकर भगवान के आढ़तिया बनकर ये माल

(तत्त्वज्ञान) तेरे लिए लाये हैं। प्रभु ! तू अपनी महिमा तो देख ! जगत में अनन्त रजकण व अनन्त जीव हैं। प्रत्येक रजकण व प्रत्येक जीव प्रतिसमय अनन्त गुण-पर्याय सहित हैं। तेरे ज्ञान की एक समय की पर्याय में उनकी सत्ता को स्वीकार करने की अद्भुत ताकत है।

जिसकी एकसमय की ज्ञानपर्याय में ऐसी अचिन्त्य शक्ति है, ऐसी-ऐसी अनन्त शक्तियों का घनपिण्ड तू स्वयं है। आत्मा तो त्रिकाली ज्ञान का घनपिण्ड प्रभु है। उसका स्वभाव तो परमपारिमाणिक भावरूप है। औदयिक आदि जो चार भाव हैं, उनमें कर्म के सद्भाव की या अभाव की अपेक्षा आती है। पाँचवा परमपारिमाणिक भाव निर्पेक्ष है, उसमें निमित्त की अपेक्षा नहीं है। जिसको ऐसे स्वभाव के भानपूर्वक भेदज्ञान हुआ है, उस धर्मी को, ज्ञानपर्याय में सहज स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य प्रगट होती है। उसे तीर्थरक्षा का जो अनुराग होता है, वह राग उस ज्ञान में निमित्त है। वह राग पुद्गल के साथ अभिन्न है तथा उस सम्बन्धी जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान आत्मा से अभिन्न है। ज्ञानी को जो अनुराग हुआ, वह मात्र जाना हुआ प्रयोजनवान है।

ज्ञानी को भी दया, दान, व्रत आदि का राग होता है, किन्तु वह धर्म नहीं है; वह राग मात्र ज्ञान में जानने लायक ही है, क्योंकि राग ज्ञान से भिन्न व पुद्गल से अभिन्न है। निश्चय से आत्मा ज्ञायकस्वभावी है। उसकी अनन्त शक्तियाँ शुद्ध व पवित्र हैं। पवित्रता रूप से परिणमना शक्य है; किन्तु राग, विकार या पुद्गलपरिणामरूप से आत्मा का परिणमना शक्य नहीं है।

मुनिदशा में जो पंचमहाव्रतादि का राग आता है, वह द्रव्यलिंग है। जिसप्रकार शरीर की नग्नदशा – जड़ की दशा द्रव्यलिंग है, उसीप्रकार पंचमहाव्रतादि के परिणाम भी द्रव्यलिंग हैं तथा आत्मा का द्रव्यलिंगरूप से परिणमना अशक्य है। गजब बात है, भाई ! इसको समझने के लिए खूब धीरज चाहिए और समझकर अन्तर्मुख होने में अनन्तगुणा पुरुषार्थ चाहिए। अहो ! आचार्यदेव ने कैसी अलौकिक बात की है।

राग से भिन्न स्वभावसन्मुख होना तथा स्वभाव को राग से भिन्न (अधिक) जानना सम्यग्ज्ञान है। चैतन्यस्वभाव से विभाव को भिन्न (अधिक) जानना ही आत्मा की प्राप्ति का यथार्थ मार्ग है। गाथा १७-१८ में आता है कि आबाल-गोपाल सभी के ज्ञान में आत्मा ज्ञात हो रहा है' ज्ञान की पर्याय का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है, इसकारण ज्ञान

की पर्याय में अपना द्रव्यस्वभाव अनुभव में – जानने में आता है; परन्तु अज्ञानी की दृष्टि अपने त्रिकाली द्रव्यस्वभाव पर नहीं जाती। उसकी दृष्टि राग व व्यवहार पर रहती है, इसकारण 'मैं इस राग को जानता हूँ' – ऐसी भ्रान्ति से जानता है।

यहाँ तो ज्ञान की बात है। धर्मी – समकिती की दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर स्थिर हो गई है, इसकारण वह ज्ञानस्वभावरूप से परिणमन करता है। वह राग की परिणती से भिन्नपने परिणमता है। यह शरीर तो जड़ – मिट्टी है तथा अन्तर में जो शुभराग तथा पुण्य का परिणाम होता है, वह पुद्गलपरिमाण है – ऐसा ज्ञानी जानता है। राग पुद्गल का परिणाम है, क्योंकि वह ज्ञान के साथ तन्मय नहीं है, किन्तु ज्ञान से भिन्न है।

उस ज्ञान की पर्याय में अपना द्रव्य ज्ञात होता है, परन्तु अज्ञानी की द्रव्य पर दृष्टि ही नहीं है। अज्ञानी की दृष्टि अनादि से राग व पर्याय पर है, इसकारण वह ऐसा मानता है कि मैंने दया का पालन किया, मैंने व्रत किये, मैंने भक्ति की, पूजा की आदि – ऐसा जानता हुआ वह अपने को अकेला परप्रकाशक मानता है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान को यदि केवल परप्रकाशक माना जाय तो वह मिथ्यात्व है। राग को मानना व स्वभाव को न मानना – यह तो एकान्त मिथ्यात्व है, मिथ्या भ्रान्ति है।

अरे प्रभु ! तू अनन्तगुणों से अविनाभावी ज्ञानस्वरूप आत्मा है। जिसको ऐसे शुद्ध चैतन्यमय आत्मा की दृष्टि हुई है, उस ज्ञानी का परिमर्मन ज्ञानमय है। उसको जो राग होता है, उसे ज्ञान जानता है – ऐसा कहना व्यवहार है। वास्तव में जब निज का ज्ञान हुआ, तब उस ज्ञान पर्याय में स्व-परप्रकाशकने की सामर्थ्य प्रगट हुई, तब राग ज्ञान में ज्ञात हो जाता है। ज्ञान राग को जानता है – यह उपचार का कथन है। वास्तविकता तो यह है कि ज्ञान स्व-परप्रकाशक पर्याय को स्वयं जानता है।

ज्ञान व राग एक समय में, एक साथ उत्पन्न होते हैं। वहाँ 'मैं राग-स्वरूप हूँ' – ऐसा अज्ञानी मान लेता है। मोक्षमार्ग प्रकाशक के चौथे अधिकार में कहा है कि 'जिस समय ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी समय राग उत्पन्न होता है। दोनों का एक काल है, तथापि अज्ञानी को ऐसा भासता है कि 'राग मेरी वस्तु है, दोनो भावभिन्न हैं – ऐसा अज्ञानी को भान नहीं है।

अहो ! कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जगत को निहाल कर दिया है। वे विदेहक्षेत्र में साक्षात् सदेह पधारे थे; यह बात 'पंचास्तिकाय, षट्पाहुड़ की श्रुतसागरसूरिकृत टीका तथा दर्शनसार इन तीनों ग्रन्थों में है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी राग-द्वेष, सुख-दुःखादि तथा उनके अनुभव से आत्मा का परस्पर विशेष (अन्तर) जानते हैं। अपना स्वभाव ज्ञान है तथा राग का स्वभाव जड़पना है, आत्मा स्वयं त्रिकाल सत्तारूप है तथा राग एक समय का अस्तित्व है, स्वयं नित्यानन्द प्रभु है और राग दुःखरूप है – इसप्रकार ज्ञानी परस्पर दोनों का अन्तर जानते हैं। अहाहा····! राग से भिन्न भगवान आत्मा को जहाँ स्वलक्ष्य से अनुभव किया, वहीं ज्ञान राग से भिन्न हो जाता है। इसी का नाम भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन है।

जो इसमें विवाद करता है और सत्य को असत्य व असत्य को सत्यरूप से स्थापित करने का असफल प्रयास करता है, वह सत्य का अपलाप करने के कारण दुःखी होता है। भाई ! फिर इसके फल में जो दुखद संयोग मिलेंगे, उन्हें भोगना मुश्किल होगा। अतः विवेक से काम लो। राग व भगवान आत्मा एक नहीं है। जैसे उड़द की दाल और उसके ऊपर का छिलका भिन्न-भिन्न हैं – एक नहीं है, वैसे ही आत्मा व राग एक नहीं है। भगवान आत्मा केवल आनन्द का कन्द है और राग छिलके के समान है। आत्मा की ज्ञान पर्याय और उसी काल में उत्पन्न हुई राग की पर्याय दोनों के अन्तर को जानता हुआ ज्ञानी पर को अपनेरूप नहीं जानता और स्वयं को पररूप नहीं जानता। राग से दृष्टि उठा ली तथा भगवान आत्मा पर दृष्टि स्थापित की – इसका नाम विवेक अर्थात् भेदज्ञान है, तथा इसी से धर्म का प्रारम्भ होता है।

समयसार कलश १३१ में कहा है :–

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥

अर्थात् जिन्होंने भी आजतक मुक्ति प्राप्त की है, उन सबने भेदविज्ञान से ही पायी है, और जो आज भी संसारबन्धन में बँधे हैं, वे सब एकमात्र भेदविज्ञान के अभाव में ही बँधे हैं। अहो ! भेदविज्ञान की महिमा अपरंपार है।

७३वीं गाथा में कहा है कि "पुद्गलद्रव्य जिसका स्वामी है – ऐसे क्रोधादि भावों का विश्वरूपपना, उसके स्वामीपनेरूप स्वयं सदा ही नहीं

परिणमता होने से 'ममता रहित' हूँ" – इस प्रकार राग का स्वामी पुद्गल है, आत्मा नहीं है। यहाँ कहते हैं कि जैसे उष्णपने आत्मा का परिणमना अशक्य है, वैसे ही प्रभु ज्ञायक द्वारा दया, दान आदि रागरूप परिणमना अशक्य है। अहाहा....! गजब बात है, रागरूप परिणमना तो आत्मा का स्वभाव नहीं है; किन्तु ज्ञान व आनन्दरूप परिणमना आत्मा का स्वभाव है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने पुकार-पुकार कर कहा है कि जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बँधती है, वह भाव भी अपराध है। रागभाव आत्मा की हिंसा है। देखो ! पांच पाण्डव मुनिदशा में ध्यानस्थ थे। उनके ऊपर घोर उपसर्ग हुआ। उपसर्ग काल में नकुल व सहदेव का लक्ष्य सहोदर मुनिवरों पर चला गया और उन्हें विचार आया कि 'अरे मुनिवरों पर ऐसा उपसर्ग !' साधर्मी के प्रति इतने से राग के शुभ विकल्प से उन्होंने सर्वार्थसिद्धि (देवलोक) की आयु बांध ली और केवलज्ञान होने की अवधि बढ़ गई। तीन पाण्डव ध्यान में लीन रहे तो उन्होंने केवलज्ञान प्रगट करके मोक्षपद पा लिया। जिस विकल्प से स्वर्ग के भव का बंध हुआ और केवलज्ञान नहीं हुआ, उस विकल्प से लाभ कैसे हो सकता है ? यह वीतराग मार्ग अनन्त तीर्थंकरों, अनन्त केवलियों तथा अनन्त भावलिंगी सन्तों द्वारा प्रकाशित किया गया है।

प्रथम श्री महावीरस्वामी, दूसरे गणधरदेव श्री गौतमस्वामी तथा तीसरे स्थान पर कुन्दकुन्दाचार्यदेव का नाम आता है, जिन्होंने इस जैनशासन को जीवित रखा है – ऐसे महासमर्थ आचार्य की यह वाणी है।

आचार्यदेव ने ९२वीं गाथा में ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट किया था और यहाँ ज्ञान का ज्ञानत्व प्रगट करते हुए 'जीव स्वयं ज्ञानमय होकर राग का अकर्ता प्रतिभासित होता है' – ऐसा कहा है। यहाँ अज्ञान शब्द का अर्थ राग समझना। राग में ज्ञान नहीं है, इसकारण राग को अज्ञान कहा है। यहाँ अज्ञान का अर्थ मिथ्यात्व नहीं है, किन्तु राग है। जो जीव रागादि अज्ञानरूप परिणमन करें, वे अज्ञानात्मा हैं तथा जो रागरूप परिणमन न करके ज्ञानरूप परिणमन करते हैं, वे ज्ञानात्मा हैं।

आचार्य कहते हैं कि धर्मीजीव किंचित्मात्र भी रागरूप नहीं परिणमता। राग में ज्ञान का अंश नहीं है। राग तो अज्ञान है तथा भगवान आत्मा ज्ञान की मूर्ति चैतन्यप्रकाश के नूर का पूर है। ज्ञानरूप परिणमन करने का ही इसका स्वभाव एवं सामर्थ्य है। धर्मीजीव का

परिणमन द्रव्यसन्मुख हो गया है, अर्थात् अब उसका रागसन्मुख परिणमन नहीं है। जो राग आता है, उसका वह ज्ञाता-दृष्टा रहता है। ज्ञानी का परिणमन वस्तुतः ज्ञाता-दृष्टारूप ही है।

यह तो सम्यग्दर्शन व भेदज्ञान की बात है। चारित्र तो कोई अलौकिक ही वस्तु है। सम्यग्दर्शन सहित अन्तर में आनन्द की रमणता का नाम चारित्र है। ऐसे चारित्रवन्त भावलिंगी मुनिवरों के तो आज दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं।

एकबार जंगल में गया था। वहाँ ऐसा विचार आया कि अहो! कोई भावलिंगी मुनिवर आ जावे तो उस धन्यदशा के साक्षात् दर्शन हो। अहाहा! मुनिपद तो परमेश्वरपद है। नियमसार में टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव २५३वें कलश में ऐसा कहते हैं कि जो मुनि में व केवली में किञ्चित् फेर (फर्क) माने, वह जड़ (मूर्ख) है। अहाहा! ऐसे मुनिवर साक्षात् परमेष्ठी हैं। पद्मप्रमभलधारिदेव यहाँ से वैमानिक देवलोक में गये हैं और वहाँ से मनुष्य होकर केवलज्ञान प्राप्तकर सिद्धपद प्राप्त करेंगे। भाई! मुनिपद ऐसा अलौकिक है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि धर्मी का द्रव्य स्वभावसन्मुख परिणमित हो गया है अर्थात् उसका ज्ञाता-दृष्टारूप ही परिणमन है। इस ग्रन्थ के अंतिम परिशिष्ट में ४७ शक्तियों का वर्णन है। वहाँ अशुद्ध परिणमन की बात ही नहीं की है। भगवान आत्मा क्रमरूप शुद्धपने से परिणमन करता है। वहाँ यह कहा है कि क्रम (पर्याय) शुद्ध तथा अक्रम (गुण) शुद्ध। द्रव्य की शक्ति शुद्ध है। त्रिकाली शुद्ध शक्तिवान द्रव्य के सन्मुख होने पर शक्ति की प्रतीति आ जाती है और उसकी पर्याय में शुद्धता का क्रम चालू हो जाता है। पश्चात् पर्याय के क्रम में अशुद्धता आती ही नहीं है।

यहाँ द्रव्य की शक्ति का वर्णन है अर्थात् दृष्टिप्रधान कथन में क्रम पर्याय निर्मल है – ऐसा कहा है। प्रवचनसार में ज्ञानप्रधान कथन है। वहाँ कहा है कि मुनिराज को जितना राग है, उस रागरूप परिणमन के वे कर्त्ता हैं। वहाँ परिणमन है, अतः उन्हें उस परिणमन का कर्त्ता कहा है। भाई! जहाँ जिस अपेक्षा से कथन होता है उस अपेक्षा को यथार्थ समझना चाहिए।

दृष्टि व दृष्टि का विषय पवित्र है, इसलिए कहते हैं कि ज्ञानी किंचित् भी रागरूप परिणमन नहीं करता; राग के स्वामीपने भी नहीं परिणमता, राग से भिन्न ज्ञाता-दृष्टारूप से परिणमता है। भगवान आत्मा

ज्ञाता-दृष्टा है और वह ज्ञानरूप से परिणमन करता है, वही ज्ञान का ज्ञानत्व है। अज्ञानी रागरूप परिणमता है, वह ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता है। आत्मा ज्ञान व आनन्दरूप परिणमता है, वह ज्ञान का ज्ञानत्व है।

आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञान का ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं ज्ञानमय होता हुआ, 'मैं राग को मात्र जानता ही हूँ' – इस विधि से राग का अकर्ता प्रतिभासित होता है। 'स्वयं ज्ञानमय होता हुआ' अर्थात् राग है, इसकारण राग हुआ हो – ऐसा नहीं है, बल्कि मैं स्वयं अभेद ज्ञानरूप परिणमता हुआ राग को मात्र जानता ही हूँ – ऐसा धर्मी मानता है। राग से लाभ (धर्म) होता है अथवा राग मेरा कर्त्तव्य है – ऐसा धर्मीजीव नहीं मानता। व्यवहार से निश्चय होता है – यह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए बात की है। राग से वीतरागता कभी नहीं हो सकती। ज्ञानी तो यह मानता है कि मैं तो राग को जानता ही हूँ, करता नहीं हूँ।

प्रश्न :—मैं राग को जानता भी हूँ और करता भी हूँ – ऐसा अनेकान्त करें तो क्या आपत्ति है?

उत्तर :—भाई! यह अनेकान्त नहीं है, मैं राग को एकान्त से मात्र जानता ही हूँ, रागरूप परिणमता नहीं हूँ – इसका नाम सम्यक् एकान्त है। व्यवहार-रत्नत्रय का राग पुद्गल है। जीव स्वरूप से रागी नहीं है, क्योंकि जीव तो चैतन्यस्वरूप है। रागी तो पुद्गल है अर्थात् राग का कर्त्ता पुद्गल है, इत्यादि विधि से ज्ञान से विरुद्ध समस्त रागादि कर्म का ज्ञानी अकर्ता प्रतिभासित होता है। देखो, यह भेदज्ञान की विधि! धर्मी राग का ज्ञान करता है, वह ज्ञान का ज्ञानत्व प्रगट करता है। राग प्रगट करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसप्रकार ज्ञानी राग का अकर्ता प्रतिभासित होता है।

गाथा ९३ के भावार्थ पर प्रवचन

अहो! कैसी अलौकिक बात है। भाई! यह बात बहुत धैर्य से सुनना चाहिए। कहते हैं कि ज्ञानी राग-द्वेष एवं सुख-दुख की अवस्था को ज्ञान से भिन्न जानता है। अपनी पर्याय में जो पुण्य-पाप के भाव व सुख-दुख की कल्पना आदि विकारीभाव होते हैं, वे पुद्गल की अवस्थायें हैं तथा धर्मी उन्हें ज्ञान से भिन्न जानता है। पर में सुख-दुख हैं – ऐसा विकल्प तथा पुण्य-पाप के विकल्प, उन सबको यहाँ पुद्गल की अवस्था कहा गया है।

अरे भाई ! व्यवहार से निश्चय होता है – ऐसा है ही नहीं। व्यवहार है अवश्य। जब तक पूर्ण वीतरागता होकर केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता, तब तक चारित्र में अधूरापन रहता है। स्वयं के आश्रय में कचास है, इस कारण राग आता है, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का भाव आता है, किन्तु वह सब निज की वस्तु नहीं है। जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बँधती है, वह भाव भी पुद्गल की अवस्था है।

बात तो यही सत्य है। यह कोई नई बात नहीं है, अनन्त तीर्थंकरों द्वारा कही गई बात है; परन्तु लोक ने सुनी नहीं, अत: उन्हें नई सी लगती है। जब विभाव से विमुख होकर स्वभावसन्मुख होने पर 'राग से आत्मा भिन्न है' – ऐसा भेदज्ञान होता है, तब वह स्वयं को ज्ञाता जानता है। भेदज्ञान व सम्यग्दर्शन होने पर धर्मी को राग आता है, सुख-दु:ख की कल्पना होती है, व्यवहार होता है; किन्तु वह उसका जाननेवाला – ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है।

आत्मा सदा वीतराग स्वभावी है तथा वीतरागता प्रगट करना मोक्षमार्ग है। पुद्गल की अवस्थारूप राग वीतरागता का कारण कैसे हो सकता है ? अरे ! जिसको व्यवहार की यथार्थ समझ नहीं है, उसे निश्चय की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? जिसे निश्चय है, उसे व्यवहार होता है। ज्ञानी को दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि व्यवहार होता है, परन्तु यह उसका ज्ञाता – जाननेवाला ही रहता है। 'व्यवहार मेरा है' – ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। जब भेदज्ञान होता है, तब जीव स्वयं को ज्ञाता जानता है और राग-द्वेष को पुद्गल जानता है। राग अपनी वस्तु नहीं है, किन्तु अपने से भिन्न है – ऐसा जानता है।

अहाहा ! चैतन्यस्वभावी ज्ञायकवस्तु केवल आनन्द से भरी हुई है। भगवान आत्मा नित्यानन्द, सहजानन्द, परमानन्दस्वरूप प्रभु है। जिसने उसको राग से भिन्न करके – भेदज्ञान करके जाना, वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा राग व सुख-दु:ख की कल्पना को ज्ञाताभाव से जानता है, उसे अपनी वस्तु व अपना कर्तव्य नहीं मानता है।

९२ वीं गाथा में अज्ञानी की बात की है। अज्ञानी ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता है। धर्मी राग का कर्त्ता नहीं है, परन्तु ज्ञाता-दृष्टा है। सम्यग्दृष्टि भले ही चक्रवर्ती राजा हो, लड़ाई में भी जावे, उसे लड़ाई का विकल्प आता है; परन्तु वह उस विकल्प का ज्ञाता ही रहता है, कर्त्ता नहीं होता।

समयसार गाथा ९४

कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति चेत् –

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि कोहोऽहं ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ।।९४।।

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोऽहम् ।
कर्त्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ।।९४।।

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परात्मनोरविशेषदर्शनेनाविशेषरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य भाव्यभावकभावापन्नयोश्चेतनाचेतनयोः सामान्याधिकरण्येना-

---

अब यह प्रश्न करता है कि अज्ञान से कर्म कैसे उत्पन्न होता है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि :–

'मैं क्रोध' आत्मविकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे ।
तब जीव उपयोगरूप, जीवभाव का कर्ता बने ।।९४।।

गाथार्थ :– [त्रिविधः] तीन प्रकार का [एषः] यह [उपयोगः] उपयोग [अहम् क्रोधः] 'मैं क्रोध हूं' ऐसा [आत्मविकल्पं] अपना विकल्प [करोति] करता है; इसलिये [सः] आत्मा [तस्य उपयोगस्य] उस उपयोगरूप [आत्मभावस्य] अपने भाव का [कर्ता] कर्त्ता [भवति] होता है ।

टीका :– वास्तव में यह सामान्यतया अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकार का सविकार चैतन्यपरिणाम है वह, पर के और अपने अविशेष दर्शन से, अविशेष ज्ञान से और अविशेष रति (लीनता) से समस्त भेद को छिपाकर, भाव्यभावकभाव को प्राप्त चेतन और अचेतन का सामान्य अधिकरण से (मानों उनका एक आधार हो इस प्रकार)

नुभवनात्क्रोधोऽहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति; ततोऽयमात्मा क्रोधोऽहमिति भ्रांत्या सविकारेण चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सविकारचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात्। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमाया लोभ-मोहरागद्वेष-कर्मनोकर्म-मनोवचनकाय-श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयान्यनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

अनुभव करने से, 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है; इसलिये 'मैं क्रोध हूँ' ऐसी भ्रान्ति के कारण जो सविकार (विकारयुक्त) है ऐसे चैतन्यपरिणामरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सविकार चैतन्यपरिणामरूप अपने भाव का कर्त्ता होता है। इसीप्रकार 'क्रोध' पद को बदलकर मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन के सोलह सूत्र व्याख्यानरूप से लेना चाहिये; और इस उपदेश से दूसरे भी विचार करना चाहिये।

भावार्थ :– अज्ञानरूप अर्थात् मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकार का जो सविकार चैतन्यपरिणाम है, वह अपना और पर का भेद न जान कर 'मैं क्रोध हूँ, मैं मान हूँ' इत्यादि मानता है; इसलिए अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सविकार चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है।

गाथा ६४ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

६३ वीं गाथा में रागादि परिणामों को पुद्गल का परिणाम कहा है तथा यहाँ उन्हीं को सविकार चैतन्यपरिणाम कहा जा रहा है।

पर को स्व माननेरूप मिथ्यादर्शन, स्व-पर के अज्ञानरूप मिथ्याज्ञान तथा राग-द्वेष की प्रवृत्तिरूप अविरति – ऐसे तीन प्रकार के सविकार चैतन्यपरिणाम हैं। अज्ञानी इन सविकार चैतन्यपरिणामरूप परभावों को तथा स्वयं को अविशेष दर्शन से एक मानता है। अज्ञान से कर्म अर्थात् विकारीपरिणाम उत्पन्न होते हैं। वहाँ अज्ञान परिणाम स्व व पर को अविशेषपने अर्थात् सामान्यपने एक मानता है। दोनों के मध्य विशेष नहीं मानता, भेद नहीं करता। विकारीपरिणाम से मैं (चैतन्यतत्त्व) भिन्न हूँ – ऐसा अज्ञानी नहीं मानता। 'विकार से मैं भिन्न हूँ' – ऐसा विशेष न जानकर दोनों एक हैं, ऐसा सामान्यपने मान लेता है।

राग अर्थात् सुख-दुःख की कल्पना तथा निज आत्मा दोनों एक हैं – ऐसा सविकार चैतन्यपरिणाम मानता है। अज्ञान के कारण वह ऐसा

नहीं मानता कि दोनों में भेद है, विशेष अन्तर है। 'राग व मैं एक हूँ' इसप्रकार जीव एवं सविकार रागपरिणाम में एकत्व मानता है, दोनों में एकत्व जानता है व दोनों में एकपनेरूप ही आचरण करता है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि यह मान्यता जड़कर्म के कारण नहीं हुई, बल्कि स्व-पर का भेदज्ञान न होने से अपने अज्ञान से ही हुई है। स्व-पर के अज्ञान के कारण अपने को सविकार चैतन्यपरिणामरूप मानता है। इस विकारीभाव को निजभाव से भिन्न नहीं जानता।

लोग भगवान के समक्ष कहते हैं कि हे भगवान्! दया करो; किन्तु अरे भाई! तू स्वयं भगवान है, इसलिए तू स्वयं अपने ऊपर दया कर! और जो तू राग – विकार को निज मानता है, यह मान्यता छोड़ दे। प्रभु! तू स्वयं पर दया कर। राग व आत्मा दोनों एक हैं – ऐसी मान्यता छोड़कर स्वभाव में लीन हो जा, यही स्व-दया है। भाई! तू पर की हिंसा नहीं कर सकता और पर की दया भी नहीं पाल सकता, यही वस्तु की यथार्थ स्थिति है। पुण्य-पाप का भाव, दया, दान आदि भाव या सुख-दु:खरूप भाव और अपना त्रिकाली चैतन्यस्वभावमय भगवान आत्मा – इन दोनों को अज्ञानरूप से जीव एक मानता है, परन्तु ये दोनों एक नहीं है, भिन्न-भिन्न ही है। भाई! सर्वज्ञ वीतरागदेव द्वारा पुकार-पुकारकर कहा गया मार्ग तो यही है, ऐसा ही है, अन्य प्रकार नहीं है।

प्रवचनसार के अन्तिम २२ वें कलश में कहा है कि "इसप्रकार अमन्दरूप से जो थोड़ा-बहुत तत्त्व कहने में आया है, वह सब इस चैतन्य के लिए तो वस्तुत: अग्नि में होमी गई वस्तु के समान स्वाहा हो गया है।" कितना कहें, प्रभु! तू स्व-पर के अज्ञान के कारण मिथ्यादर्शन, अज्ञान व अविरतिरूप सविकार चैतन्यपरिणाम को व आत्मा को एक मानता है। दर्शनमोह कर्म के उदय के कारण ऐसा मानता हो – ऐसी बात भी नहीं है। अरे! अज्ञानी तो जहाँ-तहाँ अपना अपराध कर्म के माथे मढ़ना चाहता है, परन्तु ऐसा नहीं है। कर्म तो बिचारे जड़ हैं।

चन्द्रप्रभु पूजन की जयमाला में आता है :–

"कर्म बिचारे कौन, मूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहै घनघात, लोह की संगति पाई॥"

अज्ञानी ऐसा मानता है कि दया, दान, व्रतादि के शुभभाव तथा शुद्ध निर्मल आत्मा – दोनों एक हैं, किन्तु ज्ञानी दोनों के भेद – विशेष या अन्तर को जानते हैं। ज्ञानी को भी राग तो आता है, पाँचवें गुणस्थान

पर्यन्त रौद्रध्यान भी होता है, क्षायिक समकिती मुनि को भी छट्ठे गुण-स्थान में आर्त्तध्यान होता है। छट्ठे गुणस्थान में तीन शुभ लेश्यायें होती हैं, ये लेश्यायें भी राग हैं, तथापि ज्ञानी राग व आत्मा – दोनों को भिन्न मानता है।

अज्ञानी अज्ञान के कारण राग व व्यवहार-रत्नत्रय के विकल्पों में तथा उसमें हुए हर्षरूप भोक्तृत्व के भावों में एकत्व स्थापित करता है, इन भावोंरूप ही मैं हूँ या ये भाव मेरे हैं – दोनों में ऐसी एकरूप मान्यता, एकरूप जानपना और राग में एकपने लीनता करता है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा की लीनता छोड़कर अज्ञानी राग में लीनता करता है। इसप्रकार समस्त भेद को छुपाकर (भूलकर) दोनों को एकरूप मानता है।

अहाहा....! 'व्यवहार-रत्नत्रय का राग व मैं एक हूँ' – ऐसा जो माने, वह समस्त भेद को छुपा देता है – ढक देता है तथा दोनों के मिथ्या अभेद को – एकपने को प्रगट करता है। भाई! सर्वप्रथम श्रद्धा में यह भेदज्ञान नक्की करना पड़ेगा, ज्ञान में ऐसा निर्णय करने के पश्चात् ही स्वभावसन्मुखता के प्रयोग की बात होगी। पहले यथार्थ निर्णय ही नहीं करेगा तो प्रयोग कैसे संभव होगा?

इसप्रकार अज्ञानी भाव्यभावक को प्राप्त चेतन व अचेतन के सामान्यअधिकरणरूप अनुभव करने से "मैं क्रोध हूँ" – ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है। मैं भोगनेवाला भावक तथा भोगने योग्य विकार मेरा भाव्य अथवा विकारीभाव भावक तथा मैं भोगनेयोग्य भाव्य – ऐसे भाव्य-भावकपने को प्राप्त चेतन-अचेतन का अज्ञानी एक ही आधार मान लेता है।

भगवान आत्मा ज्ञायकप्रभु शुद्ध चैतन्यमय है और राग में चैतन्य का अभाव होने से वह अचेतन है। अज्ञानी इन चेतन-अचेतन – दोनों का आधार एक मानता है। विकार का उत्पन्न करनेवाला भी मैं और ज्ञान में जो जानना होता है, उसका उत्पन्न करनेवाला भी मैं – इसप्रकार दोनों का सामान्याधिकरण मानता है। भाई! बात बहुत सूक्ष्म है, जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म है।

भाई! सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक वस्तु है। मात्र देव-शास्त्र-गुरु की भेदरूप श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन हो जाता है – ऐसा माननेवाले वस्तुतः अज्ञानी ही हैं। प्रभु! ऐसी श्रद्धा तो अनंतबार की, परन्तु उससे

कुछ भी लाभ नहीं हुआ। यहाँ तो यह कह रहे हैं कि ऐसे राग-विकार के परिणामों का आधार व आत्मा के ज्ञान का आधार सामान्यपने एक है– ऐसा अज्ञानी मानता है।

स्वयं के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अनादर करके राग मेरा है, पुण्य-पाप के भाव मेरे हैं – इसप्रकार मानना आत्मस्वभाव की अरुचि है, आत्मा के प्रति द्वेष है, क्रोध है।

"मैं राग से भिन्न ज्ञातास्वरूप आत्मा हूँ" – इसप्रकार न जानकर अज्ञान से उत्पन्न राग और आत्मा का एक आधार मानकर मैं राग हूँ, मैं द्वेष हूँ, मैं पुण्य-पाप हूँ, दया-दान, व्रतादि के विकल्पों का मैं कर्ता हूँ – इसप्रकार मानकर अज्ञानी स्वयं का विकल्प (वृत्ति) उत्पन्न करता है।

देखो ! कितनी बातें हुई ? एक बात तो यह हुई कि मिथ्यादर्शन आदि सविकार चैतन्यपरिणाम हैं। दूसरी बात यह कि वे सविकार चैतन्यपरिणाम ऐसा जानते, मानते व आचरते हैं कि राग व आत्मा एक है। यहाँ राग व आत्मा एक है – ऐसा मानना दर्शन (अविशेष), राग व आत्मा एक है – ऐसा जानपना यह ज्ञान (अविशेष) तथा राग में तन्मयता से लीनता करना – यह वृत्ति (अविशेष) है। इसप्रकार अज्ञानी राग व आत्मा को एक मानता है, एक जानता है और एकरूप अनुभव करता है। अहो ! आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित यह टीका कितनी गम्भीर है ? संक्षेप में कितना भाव भर दिया है, मानो गागर में सागर ही समाया है।

कहते हैं कि प्रभु ! तू ज्ञायकस्वरूप चैतन्य मात्र वस्तु है। पुण्य-पाप, दया, दान तथा व्यवहार-रत्नत्रय के विकल्प पुद्गल की अवस्थाएँ हैं, क्योंकि वे अचेतन हैं। उन्हें जीव अज्ञानभाव में करता है, इसलिए उनको यहाँ सविकार चैतन्यपरिणाम कहा है। वे सविकार चैतन्यपरिणाम अज्ञानपने राग व आत्मा को एकरूप मानते हैं। दोनों के बीच भेद नहीं है, इसतरह अविशेष दर्शन से दोनों को एक मानते हैं। ९२वीं गाथा में अज्ञानी की बात की थी। वहाँ कर्ता-कर्म की बात की थी। यहाँ इस गाथा में भाव्य-भावकभाव कहकर भोक्तापने की बात कही है। राग के विकल्प का तथा आत्मा का एक आधार मानकर अज्ञानी दोनों में एकपने का अनुभव करता है, अर्थात् विकारी परिणाम का वेदन करता है। अज्ञानी विकारी परिणाम का भोक्ता होता है। भगवान आत्मा जो ज्ञाता-दृष्टा है, अज्ञानी उसका भोक्ता नहीं होता, जबकि ज्ञानी अपने ज्ञान का भोक्ता होता है।

भाई ! अपना आग्रह छोड़कर खूब शान्ति व धैर्य से भगवान ने जैसा कहा हो, उसको वैसा ही समझना चाहिए। अज्ञानी जीव अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अनुभव करने के बदले राग व आत्मा का एक आधार मानकर "मैं राग हूँ, मैं क्रोध हूँ," इत्यादि रूप से अनुभव करता है।

चैतन्यस्वभाव से विरुद्ध भाव के अनुभव को क्रोध कहते हैं। अज्ञानी "मैं क्रोध हूँ" – ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है, इसकारण मैं क्रोध हूँ – ऐसी भ्रान्ति के कारण जो सविकार (विकार सहित) है, ऐसे चैतन्य-परिणाम से परिणत होता हुआ यह आत्मा उस सविकार चैतन्यपरिणाम-रूप अपने भाव का कर्त्ता होता है।

देखो, "मैं क्रोध हूँ" – ऐसा मानना भ्रान्ति है। व्यवहार के राग का स्वयं को कर्त्ता तथा भोक्ता मानना मिथ्यात्व है। जिसे अपने आनन्द का वेदन नहीं है, वह अकेले अपने राग का वेदन करता है; उसे आत्मा के प्रति क्रोध है। भाई ! जिनेश्वर परमात्मा का मार्ग समझने के लिए बहुत तत्परता आवश्यक है। कहते हैं कि "मैं क्रोध हूँ" – ऐसी भ्रान्ति के कारण अज्ञानी सविकार चैतन्यपरिणाम से परिणमता है। तथा वह आत्मा सविकार चैतन्यपरिणामस्वरूप अपने भाव का कर्त्ता होता है। जड़कर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानी अज्ञानपने से अपने सविकारी परिणाम का स्वयं कर्त्ता होता है। जो विकारीभाव होता है, वह मेरा है, मेरा कर्तव्य है – अज्ञानी ऐसा मानता है; इसकारण वह उनका कर्त्ता होता है।

शरीर तो बाह्य संयोगी परपदार्थ है, धूल के रजकणों का पिण्ड है; इसका अस्तित्व मुझमें नहीं हैं। आत्मप्रदेशों के साथ रहनेवाले जड़कर्म भी मेरी वस्तु नहीं है। यहाँ तक तो ठीक, किन्तु यहाँ तो यह कहते हैं कि व्यवहार-रत्नत्रय के विकल्पों का अस्तित्व भी त्रिकाली शुद्ध चैतन्यमय वस्तु में नहीं है। ऐसा भेदज्ञान जिसको नहीं है, ऐसा अज्ञानी जीव सविकार चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता होता है। यद्यपि विकार का परिणाम चैतन्य का परिणाम है, तथापि भेदज्ञान कराने के प्रयोजन से यहाँ उसे पुद्गल का कहा है; परन्तु अज्ञानपने से वह भाव अपनी पर्याय में होता है। राग-द्वेष के भाव कहीं जड़ में नहीं होते, प्रयोजनवश उन्हें जड़ का कहा जाता है – ऐसा यथार्थ समझना।

अब कहते हैं – इसी प्रकार 'क्रोध' पद पलटकर मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना,

स्पर्शन के सोलह सूत्र व्याख्यानरूप करना तथा इसी उपदेश से अन्य का भी विचार कर लेना ।

अज्ञानी क्रोध की तरह ही 'मैं मान हूँ, माया हूँ, लोभ हूँ' इत्यादि भ्रान्ति के कारण अपने सविकार परिणाम का कर्त्ता होता है । अहा ! दो भिन्न वस्तुओं की भिन्नता नहीं जानने से दोनों को एक मानकर विकारी परिणाम व शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ वगैरह मैं हूँ – ऐसा मानकर अज्ञानी जीव पर का कर्त्ता होता है । भ्रान्ति के कारण अज्ञानी पर को अपना मानता है ।

ये शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ इत्यादि में "मैं हूँ" – ऐसा जानना व मानना अज्ञान है । शरीर ठीक रहे तो धर्म हो, शरीर में रोग होने पर 'मुझे रोग हो गया,' शरीर पुष्ट रहने से 'मैं पुष्ट हूँ'– इत्यादि अनेक प्रकार से शरीर व आत्मा को एक जानना, मानना तथा इसी में लीन होना – ये सब संसार भाव हैं । अज्ञानी अज्ञानभाव से उनका कर्त्ता होता है । मेरा कण्ठ बहुत मधुर है तथा मैं सरस (मीठा) बोल सकता हूँ – इस प्रकार वाणी व आत्मा को एक मानकर उसमें लीन होना संसार है । मन व स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ ज्ञान में निमित्त हैं, किन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि मन व इन्द्रियाँ मैं हूँ, उनसे मुझे ज्ञान होता है, मैं मन से विचार करता हूँ, स्पर्शन से मैं शीत-उष्ण आदि स्पर्श को जानता हूँ, जीभ से मीठा, खट्टा आदि रस को जानता हूँ, नाक से सूंघता हूँ, आँख से वर्ण को जानता हूँ और कान से सुनता हूँ । ये मन व इन्द्रियाँ न हों तो मैं कैसे जान सकता हूँ ? इसप्रकार मन, इन्द्रियाँ व आत्मा को एक मानकर उसमें जो लीनता करता है, यही संसार है । अज्ञानी इस संसारभाव का कर्त्ता होता है ।

इसप्रकार जो वस्तु आत्मा से भिन्न है, उसका विचारकर भेदज्ञान करना । राग व विकल्प भी परवस्तु है । परवस्तु से स्ववस्तु अर्थात् आत्मा का लाभ हो – ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है । आत्मा अपने ज्ञायक-स्वभाव से जानने में आता है, अतः वह प्रत्यक्ष ज्ञाता है । प्रवचनसार की १७२वीं गाथा में अलिंगग्रहण के बीस बोल हैं । उसके छठवें बोल में कहा है कि "लिंग द्वारा नहीं, बल्कि स्वभाव से जिसका ग्रहण होता है, वह अलिंगग्रहण है । इससे आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है ।" आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं है । आत्मा ऐसा नहीं है जो इन्द्रियों से जाना जाय और आत्मा इन्द्रियों से जानता भी नहीं है ।

ये बाह्य में धन, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, परिवार, दास, दासी, इत्यादि जो नोकर्म हैं, वे मेरे हैं – ऐसी एकत्वबुद्धि से लीन होना ये सभी अज्ञान है। स्त्री व पुत्र मैं हूँ या मेरे हैं ऐसी तू एकत्व व ममत्व बुद्धि करता है, किन्तु ये कदापि तेरे नहीं हो सकते। ये सब मात्र अज्ञानभाव, संसारभाव हैं तथा अज्ञानी उस संसारभावरूप सविकार चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता होता है।

जड़कर्मों को मैं बाँधता हूँ। जड़कर्म का उदय आने पर रागादिभाव होते हैं तथा कर्म का अभाव हो या कर्म कुछ मार्ग देवे – रास्ते से हटे तो धर्म करूँ, गुण प्रगट हों – ऐसा जो माने, वह जड़कर्म व आत्मा को एक मानता है। कर्म ही मैं हूँ तथा कर्मों से मुझे लाभ होता है – ऐसा मानना-जानना तथा इन्हीं में लीनता करना अज्ञान है तथा उस अज्ञान-भाव का अज्ञानी जीव कर्त्ता होता है।

गाथा ६४ के भावार्थ पर प्रवचन

अज्ञानरूप अर्थात् मिथ्यादर्शन, अज्ञान व अविरतिरूप तीनप्रकार का जो सविकार चैतन्यपरिणाम अपना व पर का भेद नही जानकर "मैं क्रोध हूँ, मैं मान हूँ," इत्यादि मानता है, इससे सविकार चैतन्यपरिणामरूप से परिणमता हुआ वह अपने सविकार चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता होता है तथा वह अज्ञानरूप भाव इसका कर्म होता है।

दया, दान, पुण्य-पाप के भाव तथा अपना (आत्मा का) भेद नहीं जानकर "मैं क्रोध हूँ, मैं राग हूँ, मैं मान हूँ, ये रागादिभाव मैं करता हूँ, मैं दया पालता हूँ", – ऐसा अज्ञानी मानता है। इससे सविकार चैतन्य-परिणामरूप से परिणमता हुआ वह अपने सविकार चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता होता है तथा वह अज्ञानरूप भाव इसका कर्म होता है।

इसप्रकार भोक्तापने की इस गाथा में भी कर्त्ता-कर्म का कथन किया।

करता परनामी दरव, करम रूप परिनाम।
किरिया परजय की फिरनि, वस्तु एक त्रय नाम ॥७॥
एक करम करतव्यता, करै न करता दोइ।
दुघा दरव सत्ता सधी, एक भाव क्यौं होइ ॥९॥

☐ पण्डित बनारसी दास : समयसार नाटक, कर्त्ता-कर्म क्रियाद्वार

समयसार गाथा ९५

तिविहो एसुवग्रोगो ग्रप्पवियप्पं करेदि धम्मादी ।
कत्ता तस्सुवग्रोगस्स होदि सो ग्रत्तभावस्स ।।९५।।

त्रिविध एष उपयोग ग्रात्मविकल्पं करोति धर्मादिकम् ।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स ग्रात्मभावस्य ।।९५।।

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परस्परमविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोः परात्मनोः समानाधिकरण्येनानुभवनाद्धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवांतरमहमित्यात्मानो विकल्पमुत्पादयति; ततोऽयमात्मा धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं

ग्रब इसी बात को विशेष रूप से कहते हैं :—

'मैं धर्म ग्रादि' विकल्प यह, उपयोग त्रयविध ग्राचरे ।
तब जीव उस उपयोगरूप, जीवभाव का कर्ता बने ।।९५।।

गाथार्थ :— [**त्रिविधः**] तीन प्रकार का [**एषः**] यह [**उपयोगः**] उपयोग [**धर्मादिकम्**] 'मैं धर्मास्तिकाय ग्रादि हूँ' ऐसा [**ग्रात्मविकल्पं**] ग्रपना विकल्प [**करोति**] करता है; इसलिये]**सः**] ग्रात्मा [**तस्य उपयोगस्य**] उस उपयोगरूप [**ग्रात्मभावस्य**] ग्रपने भाव का [**कर्त्ता**] कर्त्ता [**भवति**] होता है ।

टीका :— वास्तव में यह सामान्यरूप से ग्रज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-ग्रज्ञान-ग्रविरतिरूप तीन प्रकार का सविकार चैतन्यपरिणाम है वह, पर के ग्रौर ग्रपने ग्रविशेष दर्शन से ग्रविशेष ज्ञान से ग्रौर ग्रविशेष रति (लीनता) से समस्त भेद को छिपाकर, ज्ञेय-ज्ञायकभाव को प्राप्त ऐसे स्व-पर का सामान्य ग्रधिकरण से ग्रनुभव करने से, 'मैं धर्म हूँ मैं ग्रधर्म हूँ, मैं ग्राकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं ग्रन्य जीव हूँ' — ऐसा ग्रपना विकल्प उत्पन्न करता है; इसलिये, मैं धर्म हूँ, मैं ग्रधर्म हूँ, मैं ग्राकाश हूँ, मैं काल हूँ,

कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवांतरमहमिति भ्रांत्या सोपाधिना चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सोपाधिचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् ।

पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ – ऐसी भ्रान्ति के कारण जो सोपाधिक (उपाधियुक्त) है ऐसे चैतन्यपरिणामरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सोपाधिक चैतन्यपरिणामरूप अपने भाव का कर्त्ता होता है ।

भावार्थ :– धर्मादिक के विकल्प के समय जो स्वयं शुद्ध चैतन्यमात्र होने का भान न रखकर, धर्मादि के विकल्प में एकाकार हो जाता है वह अपने को धर्मादि द्रव्यरूप मानता है ।

इसप्रकार अज्ञानरूप परिणाम अपने को धर्मादि द्रव्यरूप मानता है, इसलिए अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सोपाधिक चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है, इसलिए कर्तृत्व का मूल अज्ञान है ।

गाथा ९५ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

९४ वीं गाथा में ऐसा कहा था कि अज्ञानी पर के साथ भाव्य-भावक भाव को प्राप्त होकर स्व-पर को एकरूप अनुभव करता है । इस गाथा में यह कहते हैं कि अज्ञानी ज्ञेय-ज्ञायकभाव को प्राप्त होकर स्व-पर को एकरूप अनुभव करने से "मैं धर्म हूँ" – ऐसा अनुभव करता है ।

आत्मा ज्ञायक है एवं रागादि व धर्मादि छहों परद्रव्य ज्ञेय हैं उन ज्ञेय तथा ज्ञायक दोनों का अधिकरण एक है – इसप्रकार का अनुभव अज्ञानी करता है । अत: अज्ञानी तीन प्रकार के सविकार चैतन्यपरिणाम का कर्ता होता है ।

अज्ञानी अपने शुद्ध चैतन्यमय ज्ञायकस्वरूप का विचार छोड़कर धर्मास्तिकाय आदि छह प्रकार के द्रव्यों के विचार में, विकल्पों में तल्लीन हो जाता है, धर्मास्तिकाय को अपना मानता है । धर्मास्तिकाय जीव व पुद्गलों की गति में निमित्त होनेवाला एक पदार्थ है । उसका विचार करने पर जो विकल्प आता है, अज्ञानी उसमें तन्मय हो जाता है । अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के भान को भूलकर "मैं धर्मास्तिकाय हूँ" – ऐसा मानता है ।

इसीप्रकार अधर्मास्तिकाय जीव व पुद्गल को गतिपूर्वक स्थिति में निमित्त है । अधर्मास्तिकाय का विचार करने पर उसका जो विकल्प आता

है, अज्ञानी उसमें तद्रूप – एकाकार हो जाता है, वह अधर्मास्तिकाय को अपना मानता है। मैं सदा ज्ञायकस्वभावी ज्ञाता-दृष्टास्वरूप चैतन्यतत्त्व हूं, – इस वात को भूलकर 'मैं अधर्मास्तिकाय हूँ' – ऐसे विकल्प में एकाकार होकर अधर्मास्तिकाय को तथा स्वयं को एक मानता है।

मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी आनन्दकन्द प्रभु स्वरूप से ही ज्ञाता-दृष्टा हूँ – ऐसा, जिसको भान नहीं हुआ वह अज्ञानी जीव परपदार्थ का विचार करता हुआ उस काल में 'यह परपदार्थ मैं हूँ' ऐसे विकल्प के साथ तदाकार होकर उस परपदार्थ को अपना मानता है।

सर्वव्यापी आकाश नाम का एक पदार्थ है, जो सर्वद्रव्यों के अवगाहन में निमित्त होता है, उस आकाश का विचार करते हुए जो विकल्प होता है, अज्ञानी उसमें एकाकार हो जाता है। 'मैं आकाश हूँ' – ऐसे विकल्प के साथ एकाकार होकर उस आकाश को व स्वयं को एक मानता है। जो इसप्रकार के विकल्पों का कर्त्ता होता है वह मिथ्यादृष्टि है।

लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है, इसप्रकार लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य हैं। वे कालद्रव्य जीवादि सर्व द्रव्यों के प्रतिसमय होने वाले परिणमन के निमित्त हैं। उन कालद्रव्यों के विचार के काल में जो विकल्प होते हैं, अज्ञानी उन विकल्पों में तल्लीन हो जाता है, इससे "मैं कालद्रव्य हूँ" ऐसे विकल्पों में लीन होकर कालद्रव्य को तथा स्वयं को एक मानता है और इन विकल्पों का वह कर्त्ता हो जाता है।

इसीप्रकार शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय, धन, सम्पत्ति इत्यादि पुद्गल सम्वन्धी विचार में हुए विकल्प के साथ एकाकार होकर "ये पुद्गल मैं ही हूँ" – ऐसे अज्ञानभाव से पर में एकत्व मानता है, अतः वह भी मिथ्यादृष्टि है।

तथा निज आत्मा के सिवाय अन्य जीवों में भी अज्ञानी एकत्व की भावना करता है। देव व गुरु भी अन्य जीव हैं। उन देव-गुरु के विचार के काल में जो विकल्प उठते हैं, अज्ञानी उन विकल्पों में तन्मय हो जाता है, इसकारण ये मेरे देव हैं, ये मेरे गुरु हैं, ये मेरे धर्म के प्रदाता हैं, इत्यादि अनेक विकल्पों में लीन हुआ वह मिथ्यादृष्टि जीव उन-उन विकल्पों का कर्त्ता होता है।

अरे ! लोगों को जैनदर्शन की ऐसी सूक्ष्म बात कभी सुनने को मिली नहीं है। स्वयं की भी वैसी योग्यता नहीं थी, इसकारण कोई सुनानेवाला

भी नहीं मिला। भगवान सीमन्धर महाविदेह में विराजते हैं। सुनने की योग्यता हो तो वहाँ जावे, या वहाँ जन्म लें। भगवान की वाणी सुनने से अपना कल्याण हो जायेगा – ऐसा मानता रहे तो यह भी अज्ञान है, क्योंकि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यद्यपि भगवान की वाणी सुनने का राग आता है, किन्तु यदि कोई उस राग में तन्मय अर्थात् एकाकार हो जावे तो वह मिथ्यादृष्टि ही है।

जीव समोशरण में अनन्तवार गया है, परन्तु उससे क्या हुआ? मिथ्यादृष्टि जैन साधु भी समोशरण में होते हैं, परन्तु निमित्त क्या करे? अहाहा! "भगवान आत्मा चैतन्य स्वभावमय वस्तु त्रिकाल अबद्धस्पृष्ट है" – ऐसा जो भगवान ने कहा है, पहले उसकी ओर अन्तर्मुख दृष्टि करके स्वीकार कर। देव-गुरु-शास्त्र का लक्ष्य छोड़कर अन्तर्मुख दृष्टि करके स्वरूप का लक्ष्य करने पर ही धर्म प्रगट होता है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प भी छूटकर आत्मा का साक्षात् अनुभव होने पर स्वरूप में लीनता होने का नाम धर्म है। गुरु की भक्ति करने से धर्म हो जायेगा – ऐसी एकान्त मान्यता मिथ्यादर्शन है। अपने स्वरूप के लक्ष्य से धर्म प्रगट होता है – यही बात यथार्थ है।

प्रश्न :– मोक्षमार्ग-प्रकाशक में आता है कि जो देव-गुरु का वास्तविक स्वरूप जाने, उसे अवश्य ही सम्यग्दर्शन होता है तथा शास्त्र में कहे गये अनेकान्त स्वरूप को यथार्थ समझे तो धर्म प्रगट होता है। इसका क्या अर्थ है?

उत्तर :– इसका अर्थ यह है कि जो देव-गुरु-शास्त्र को जानकर उसका लक्ष्य छोड़कर अन्दर स्वरूप में – शुद्ध चैतन्य में एकाकार हो उसे धर्म होता है। इसके अतिरिक्त कोई ऐसा माने कि देव-गुरु-शास्त्र मुझे धर्म प्रगट कर देंगे, तो यह मान्यता मिथ्यादर्शन है।

अहाहा! भगवान आत्मा निर्मलानन्द प्रभु शुद्ध चैतन्यस्वरूप वस्तु है, उसका आश्रय लेने से अन्तरंग में जो निर्विकल्प दृष्टि तथा निर्विकल्प ज्ञान प्रगट होता है, आत्मा उस ज्ञान से ज्ञानी हो जाता है। 'परमात्मप्रकाश' में कहा है कि दिव्यध्वनि से भगवान आत्मा जानने में नहीं आता। गणधर आदि महासंतों द्वारा रचे गये शास्त्रों से आत्मा जानने में नहीं आता। देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का भाव तो राग है और राग से भी कहीं धर्म होता है? नहीं, बिल्कुल नहीं होता। धर्म की पर्याय तो अपने त्रिकाली

सच्चिदानन्दस्वरूप अबद्धस्पृष्टस्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से प्रगट होती है – ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

'अन्य जीव – स्त्री, पुत्रादिक मैं हूँ' ऐसा जो माने, वह मिथ्यादृष्टि है। अरे भाई ! स्त्री का आत्मा जुदा और तेरा आत्मा जुदा है। स्त्री का शरीर जुदा और तेरा शरीर जुदा है। दोनों द्रव्य जुदे-जुदे हैं। स्त्री कहीं से आयी और कहीं जायेगी। तू कहीं से आया और कहीं जायेगा। दोनों का कोई मेल नहीं है। मैं और पर के आत्मा एक हैं – ऐसी तेरी एकपने की मान्यता मिथ्यात्व है, सर्वथा अज्ञान है। तू भ्रान्तिवश एकपना मानकर अज्ञान का सेवन कर रहा है। अरे भाई ! सभी द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, तथा तीन काल में भी उनका एकरूप होना संभव नहीं है। तुझे जो यह एकपने की भ्रान्ति है, वह संसार में रखड़ने का कारण है। परवस्तु तो जानने योग्य ज्ञेय (परज्ञेय) है तथा तू भगवान ज्ञायक है। भ्रमवश तूने दोनों के आकार को एक मान रखा है अन्य जीव अर्थात् परद्रव्य का विचार करते हुए तुझे जो विकल्प उठते हैं, उन विकल्पों का कर्त्ता होता है और यही मिथ्यादर्शन है।

अब कहते हैं – "इसलिए मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ – ऐसी भ्रान्ति के कारण जो सोपाधिक (उपाधियुक्त) है – ऐसे चैतन्यपरिणामरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सोपाधिक चैतन्यपरिणामरूप अपने भाव का कर्त्ता होता है।"

देखो ! यहाँ विकल्पों को – विकारों को सोपाधिक – उपाधि सहित चैतन्यपरिणाम कहा है। अन्यत्र उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा है, वहाँ भेदज्ञान कराने का प्रयोजन है। परन्तु यहाँ तो अज्ञानी की बात चलती है न ? जिसको भेदज्ञान नहीं है – ऐसे अज्ञानीजीव अज्ञानपने से विकल्पों को या विकार को उत्पन्न करते हैं, इसकारण उनको यहाँ सोपाधिक चैतन्यपरिणाम कहा है।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा सहजानन्दस्वरूप ज्ञायक भगवान है। उसको नहीं जानने से अज्ञानी को परद्रव्य सम्बन्धी जो विकल्प होते हैं, उन विकल्पों में वह पर्यायबुद्धि से स्वार्पणता कर देता है, इसकारण वह विकल्पों का कर्त्ता हो जाता है। त्रिकाली स्वरूप की दृष्टि बिना अज्ञानी विकल्प का कर्त्ता होता है। जिन्हें स्वरूप की दृष्टि हुई है, वे ज्ञानी उनके ज्ञाता रहते हैं। भाई ! यह कर्त्ता-कर्म का स्वरूप बहुत सूक्ष्म है।

नाटक समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार में आता है –

"करै करम सोई करतारा, जो जानै सौ जानन हारा।

जो करता नहिं जाने सोई, जानै सो करता नहिं होई ॥३३॥

जो आत्मा अपने में उत्पन्न होने वाले परद्रव्य सम्बन्धी विकल्पों का कर्त्ता होता है, वह ज्ञाता-दृष्टारूप नहीं परिणमता। तथा जो विकल्पों का ज्ञायक रहता है, वह विकल्पों का कर्त्ता नहीं होता। जब तक चिदानन्द चैतन्यस्वरूप आनन्द का नाथ भगवान आत्मा का अन्तर में लक्ष्य करके, उसे जानकर निर्विकल्प आनन्द प्रगट न करे, तब तक उसने कुछ नहीं जाना।

'परद्रव्य मेरा है' – ऐसा मानते हुए जो विकल्प होता है, वह विकल्प दुःखरूप है, उस विकल्प का जो कर्त्ता होता है, वह दुःख का कर्त्ता होता है। भगवान आत्मा तो आनन्द का सागर है। उसकी दृष्टि होने पर अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है। उसमें राग नहीं है, वह राग का कर्त्ता भी नहीं है, किन्तु "छह द्रव्य मैं हूँ" – ऐसी भ्रान्ति के कारण अज्ञानी सोपाधिक चैतन्यपरिणामरूप से परिणमित होता है, इसीकारण वह सोपाधिक चैतन्यपरिणामरूप अपने भाव का कर्त्ता होता है। जो परद्रव्य को अपना माने, वह अज्ञानभाव से ऐसे विकल्पों का कर्त्ता होता है। और वह कर्तृत्व चार गति के दुःख का कारण होता है।

गाथा ९५ के भावार्थ पर प्रवचन

"धर्मादि के विकल्प के समय जो, स्वयं शुद्ध चैतन्य मात्र होने का भान न रखकर, धर्मादि के विकल्प में एकाकार हो जाता है वह अपने को धर्मादि द्रव्यरूप मानता है।"

छह द्रव्य के विचार के समय अज्ञानी उन विकल्पों में एकाकार हो जाता है। वह धर्मास्किाय आदि छह द्रव्यरूप स्वयं को मानता है। 'मैं स्वभाव से ज्ञाता-दृष्टा हूँ' – ऐसी दृष्टि से भ्रष्ट होकर मिथ्यादृष्टि विकल्पों का कर्त्ता होता है।

"इसप्रकार अज्ञानरूप चैतन्यपरिणाम स्वयं को धर्मादि द्रव्यरूप मानते हैं, इसलिए अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सोपाधिक चैतन्य परिणाम का कर्त्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है।"

छह द्रव्य का विचार करते हुए जो राग होता है वह अज्ञानरूप भाव है। राग ज्ञाता का परिणाम नहीं है। जो ऐसा मानता है कि देव-शास्त्र-गुरु

मुझे तार देंगे, वे उस विकल्प के कर्त्ता होकर मिथ्यादृष्टि होते हैं – यह एकदम सारभूत बात है।

अज्ञानरूप चैतन्यपरिणाम स्वयं को छह द्रव्यरूप मानता है, इसलिए अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सोपाधिक चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता होता है, तथा वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म या कार्य होता है। राग अज्ञानी का कार्य है

आतम सकति सौं जगत जीत लयौ है

एक परिनाम के न करता दरव दोइ,
दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कवहूं न करैं,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है।।
जीव पुद्‌गल एक खेत-अवगाही दोउ,
अपनें अपनें रूप कोउ न टरतु है।
जड़ परनामनिको करता है पुदगल,
चिदानंद चेतन सुभाउ आचरतु है।।१०।।

मह धीठ दुख को वसीठ परदर्वरूप,
अन्धकूप काहूपै निवार्‌यो नहि गयौ है।
ऐसौ मिथ्याभाव लग्यौ जीवकौं अनादि ही कौ,
याहि अहंवुद्धि लिए नाना भाँति भयौ है।।
काहू समै काहूकौ मिथ्यात अन्धकार भेदि,
ममता उछेदि सुद्ध भाव परिनयौ है।
तिन ही विवेक धारि वंधको विलास डारि,
आतम सकतिसौं जगत जीत लयौ है।।११।।

☐ पण्डित बनारसी दास : समयसार नाटक, कर्त्ताकर्म क्रिया द्वारा

ततः स्थितं कर्तृत्वमूलमज्ञानम् –

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण ।। ९६ ।।

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु ।
आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ।। ९६ ।।

यत्किल क्रोधोऽहमित्यादिवद्धर्मोऽहमित्यादिवच्च परद्रव्याण्यात्मीकरोत्यात्मानमपि परद्रव्यीकरोत्येवमात्मा, तदयमशेषवस्तुसंबंधविधुरनिरवधिविशुद्धचैतन्यधातुमयोऽप्यज्ञानादेव सविकारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामतया तथाविधस्यात्मभावस्य कर्ता प्रतिभातीत्यात्मनो, भूताविष्टध्याना-

---

इसलिए कर्तृत्व का मूल अज्ञान सिद्ध हुआ – यह अब कहते हैं :–

यह मंदबुद्धि जीव यों, परद्रव्य को निजरूप करे ।
इस भाँति से निज आत्म को, अज्ञान से पररूप करे ।।९६।।

गाथार्थ :– [एवं तु] इसप्रकार [मंदबुद्धिः] अज्ञानी [अज्ञानभावेन] अज्ञानभाव से [पराणि द्रव्याणि] परद्रव्यों को [आत्मानं] अपनेरूप [करोति] करता है [अपि च] और [आत्मानम्] अपने को [परं] पर [करोति] करता है ।

टीका :– वास्तव में इसप्रकार, 'मैं क्रोध हूं' इत्यादि की भाँति और 'मैं धर्मद्रव्य हूं' इत्यादि की भाँति आत्मा परद्रव्यों को अपनेरूप करता है और अपने को भी परद्रव्यरूप करता है; इसलिए यह आत्मा, यद्यपि समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित अनन्त शुद्ध चैतन्यधातुमय है तथापि, अज्ञान के कारण ही सविकार और सोपाधिक किये गये चैतन्य परिणामवाला होने से उसप्रकार के अपने भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है । इसप्रकार भूताविष्ट (जिसके शरीर में भूत प्रविष्ट हो ऐसे) पुरुष की भाँति और ध्यानो-

विष्टस्येव प्रतिष्ठितं कर्तृत्वमूलमज्ञानम् । तथा हि—यथा खलु भूतविष्टोऽज्ञानाद्भूतात्मानावेकीकुर्वन्नमानुषोचितविशिष्टचेष्टावष्टंभनिर्भरभयंकरारंभगंभीरामानुषव्यवहारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति, तथायमात्माप्यज्ञानादेव भाव्यभावकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नविकारानुभूतिमात्रभावकानुचितविचित्रभाव्यक्रोधादिविकारकरम्बितचैतन्यपरिणामविकारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति । यथा वाऽपरीक्षकाचार्यादेशेन मुग्धः कश्चिन्महिषध्यानाविष्टोऽज्ञानान्महिषात्मानावेकीकुर्वन्नात्मन्यभ्रङ्कषविषाणमहामहिषत्वाध्यासात्प्रच्युतमानुषोचितापवरकद्वारविनिस्सरणतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति, तथायमात्माऽप्यज्ञानाद् ज्ञेयज्ञायकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नात्मनि परद्रव्याध्यासान्नोइन्द्रियविषयीकृतधर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतरनिरुद्धशुद्धचैतन्यधातुतया तथेन्द्रियविषयीकृतरूपिपदार्थ

विष्ट (ध्यान करनेवाले) पुरुष की भाँति, आत्मा के कर्तृत्व का मूल अज्ञान सिद्ध हुआ । यह प्रगट दृष्टान्त से समझाते हैं :– जैसे भूताविष्ट पुरुष अज्ञान के कारण भूत को और अपने को एक करता हुआ, अमनुष्योचित विशिष्ट चेष्टाओं के अवलम्बन सहित भयंकर आरम्भ (कार्य) से युक्त अमानुषिक व्यवहारवाला होने से उसप्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है; इसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ही भाव्य-भावकरूप पर को और अपने को एक करता हुआ, अविकार अनुभूतिमात्र भावक के लिये अनुचित विचित्र भाव्यरूप क्रोधादि विकारों से मिश्रित चैतन्यपरिणाम विकारवाला होने से उसप्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है ।

जैसे अपरीक्षक आचार्य के उपदेश से भैंसे का ध्यान करता हुआ कोई भोला पुरुष अज्ञान के कारण भैंसे को और अपने को एक करता हुआ, 'मैं गगनस्पर्शी सींगोंवाला बड़ा भैंसा हूँ' – ऐसे अध्यास के कारण मनुष्योचित मकान के द्वार में से बाहर निकलने से च्युत होता हुआ उसप्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है; इसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ज्ञेय-ज्ञायकरूप पर को और अपने को एक करता हुआ, 'मैं परद्रव्य हूँ' – ऐसे अध्यास के कारण मन के विषयभूत किये गये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव के द्वारा (अपनी) शुद्ध चैतन्यधातु रुकी होने से तथा इन्द्रियों के विषयरूप किये गये रूपी पदार्थों के द्वारा (अपना) केवलबोध (ज्ञान) ढँका हुआ होने से और मृतक शरीर के द्वारा परम अमृतरूप विज्ञानघन (स्वयं) मूर्च्छित हुआ होने से उसप्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है ।

तिरोहितकेवलबोधतया मृतककलेवरमूर्छितपरमामृतविज्ञानघनतया च तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति ।

भावार्थ :– यह आत्मा अज्ञान के कारण, अचेतन कर्मरूप भाव के क्रोधादि भाव्य को चेतन भावक के साथ एकरूप मानता है; और वह जड़ ज्ञेयरूप धर्मादि द्रव्यों को भी ज्ञायक के साथ एकरूप मानता है, इसलिये वह सविकार और सोपाधिक चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता होता है ।

गाथा ९६ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

देखो ! यह अज्ञान की बात चल रही है । 'मैं क्रोध हूँ' – ऐसा मानता हुआ आत्मा अपने सविकार चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता होता है – यह बात गाथा ९४ में कही गई है तथा 'मैं धर्मादि छह द्रव्य हूँ' – ऐसा मानता हुआ आत्मा सोपाधिक चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता होता है – यह बात ९५ वीं गाथा में कही है ।

एक में सविकार चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता तथा दूसरे में सोपाधिक चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता कहकर दोनों में अन्तर डाला है । मैं क्रोध हूँ, मान हूँ, माया हूँ, लोभ हूँ, राग हूँ, द्वेष हूँ इत्यादि सोलह बोल गाथा ९४ में कहे हैं । तथा 'मैं अन्य जीव हूँ, पुद्गल हूँ, इत्यादि छह द्रव्य हूँ' – ऐसा गाथा ९५ में कहा है ।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि यह बालक मेरा है, पत्नी मेरी है, कन्या मेरी है, मकान मेरा है, धन-सम्पत्ति मेरी है आदि – इसप्रकार वह परद्रव्यों को निजरूप करता है तथा स्वयं को भी परद्रव्यरूप करता है ।

भाई ! यह वीतराग मार्ग की बात खूब धैर्य और शान्ति से सुनना चाहिए । मात्र सुनना ही नहीं, बल्कि इसका घर पर भी स्वाध्याय एवं मनन करना चाहिए । घर पर बही-खाते लिखते हैं, जबकि वह तो केवल पाप का व्यापार है । 'मैं इन स्त्री-बच्चों को ठीक रखता हूँ, कमाई करता हूँ और इनका पालन-पोषण करता हूँ – ऐसा जो मानता है, वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है ।

किसका कुटुम्ब और किसका पैसा ? कुटुम्ब तो सब अन्य जीव हैं और पैसा जड़ है; सब भिन्न-भिन्न हैं । अहो ! स्वद्रव्य व परद्रव्य की भिन्नता जानना अलौकिक वस्तु है । जिसे भेदज्ञान हो जाय, उसे तो मानो मुक्ति ही हाथ आ गयी है, परन्तु अज्ञानी परद्रव्यों को निजरूप तथा स्वयं को परद्रव्यरूप करता है ।

अज्ञानी जीव स्वद्रव्य-परद्रव्य को एक मानता है। यद्यपि यह आत्मा उन समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित पूर्णशुद्ध चैतन्य धातुमय है, तो भी अज्ञान के कारण ही सविकार एवं सोपाधिक चैतन्यपरिणामवाला होने से उसप्रकार के अपने भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है।

अहो! भगवान आत्मा समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित बेहद शुद्ध चैतन्यधातुमय है। आत्मा राग-द्वेष, पुण्य-पाप, शरीर, मन, वाणी, देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि सर्व वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित शुद्ध चैतन्य प्रभु है; जिसने शुद्ध चैतन्य को धारण कर रखा है – ऐसा चैतन्यधातुमय है, फिर भी अज्ञानी जीव अपने अज्ञान के कारण 'मैं क्रोध, मान, माया, लोभ हूँ तथा मैं धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्यस्वरूप हूँ' – ऐसा मानता है। वह जीव सविकार एवं सोपाधिक चैतन्यपरिणामवाला होने से उसप्रकार के अपने भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है। सविकार व सोपाधिक चैतन्य-परिणाम को अपना भाव कहा है और उसप्रकार के अपने भाव का वह कर्त्ता प्रतिभासित होता है – ऐसा कहा है। ज्ञायक तो ज्ञायक है; परन्तु अज्ञान में ऐसा प्रतिभासित होता है कि मैं विकारीभाव का कर्त्ता हूँ तथा वह भाव मेरा कर्त्तव्य है।

इसप्रकार भूताविष्ट (जिसके शरीर मे भूत प्रविष्ट हो गया है) पुरुष की भांति तथा ध्यानाविष्ट (ध्यानस्थ) पुरुष की भांति आत्मा के कर्त्तापने की मान्यता का मूल अज्ञान है। यहाँ सविकार चैतन्यपरिणाम को समझाने के लिए भूताविष्ट पुरुष का दृष्टान्त दिया है। रागादि परि-णाम मेरे हैं तथा छह द्रव्य मेरे हैं – ऐसा अज्ञानभाव ही राग का मूल है, यह सिद्ध हुआ। आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावमय ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप है; उसका भान नहीं होने से 'मैं राग हूँ, मैं परद्रव्य स्वरूप हूँ' – ऐसी मान्यता से उत्पन्न हुआ अज्ञान ही राग के कर्तृत्व का मूल है, परद्रव्य नहीं।

यह बात प्रगट दृष्टान्त से समझाते हैं –

भूताविष्ट पुरुष अज्ञान के कारण भूत को व स्वयं को एक मानता है। जब भूत किसी मनुष्य के शरीर में प्रवेश करके अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करता है, तव वह भूताविष्ट मनुष्य ऐसा मानता है कि 'वह मैं ही हूँ' उसीप्रकार पर्याय में जो पुण्य-पाप का भाव होता है, वह पुण्य-पाप का भाव 'मैं ही हूँ' – ऐसा अज्ञानी मानता है। वास्तव में भूत की तरह वे पुण्य-पाप के भाव आत्मा नहीं है। पुण्य-पाप के भाव 'मैं हूँ' – ऐसा माननेवाला अज्ञानीजीव भूताविष्ट पुरुष के समान है।

देखो यह चारित्रमोह के राग की विचित्र चेष्टा ! रामचन्द्रजी क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे । वे चौदह वर्ष तक जंगल में सीताजी व लक्ष्मण के साथ रहे । एक बार जब रावण सीताजी को अपहरण करके ले गया, तब रामचन्द्रजी व्यग्र होकर जंगल के वृक्षों व बेलों से, पहाड़ और पत्थरों से भी पूछने लगे कि क्या तुमने मेरी सीता को कहीं देखा है ? रामचन्द्रजी हाथ में सीताजी के कर्णफूल लेकर उन्हें लक्ष्मण को बताकर पूछने लगे कि ये गहने किसके हैं ? क्या ये कर्णफूल सीताजी के हैं ? तब लक्ष्मण ने कहा – हे बन्धुवर ! मेरी दृष्टि सदैव सीतामाता के चरणों पर रहती थी; अतः मैं मात्र उनके नूपुर ही पहिचान सकता हूँ, ये कर्णफूल मैं नहीं पहिचान सकता । अहो, कैसा नैतिक व पवित्र जीवन ।

युद्ध में रावण ने लक्ष्मण को विद्यायुक्त बाण मारा; जिससे लक्ष्मण मूर्छित हो गिर पड़े । राम को यह पता था कि लक्ष्मण वासुदेव (नारायण) हैं, तो भी राम खेदखिन्न हुए, विलाप करने लगे – 'हे भाई ! हे लक्ष्मण ! एक बार तो बोल ! मुझे अकेला देखकर माता कौशल्या पूछेगी कि सीता व लक्ष्मण कहाँ हैं ? तो माता को क्या जवाब दूँगा ?'

देखो, चारित्रमोह के राग की यह कैसी विचित्र लीला है ? चारित्र की कमजोरी के कारण समकिती को भी ऐसा अनेक प्रकार का राग आता है; किन्तु किसी भी राग को धर्मी समकिती अपना नहीं मानते । राम तो पुरुषोत्तम थे, तद्भव मोक्षगामी थे; तो भी ऐसे विचित्र राग को प्राप्त हुए; इतना होने पर भी वे उस राग को – परद्रव्य को अपना नहीं समझते थे । भेदज्ञान की ऐसी ही कोई अचिन्त्य महिमा है ।

यहाँ कहते हैं – भाई ! तू अपनी त्रिकाली चैतन्यमय वस्तु को भूलकर राग व परद्रव्य में एकाकार हुआ है तथा पुण्य-पाप के भावों को तथा परद्रव्य को अपना मानता है, तेरी यह चेष्टा भूताविष्ट पुरुष जैसी है । पुण्य-पाप के भाव तथा परद्रव्य मेरे हैं – ऐसा जो तू मानता है, यह तेरा भूताविष्ट पुरुष की भाँति पागलपन है ।

भूताविष्ट पुरुष अज्ञान के कारण अमानुषिक अनुचित चेष्टाएँ करता है । जिसको भूत लगा हो, उसे ऐसा भान नहीं रहता कि मैं मनुष्य हूँ और यह भूत है तथा वह जो मनुष्य को शोभा नहीं देती – ऐसी अमानवीय अनुचित चेष्टाएँ करता है और उन सबको अपनी मानता है । क्षणिक में हँसने लगता है तो क्षणिक में रोने । क्षण-क्षण में हाथ-पैर मारता है, भागता है, दौड़ता है, चिल्लाता है, अनेक कौतुक करता है –

इसप्रकार भूताविष्ट पुरुष विशिष्ट चेष्टाओं के आलम्बन सहित भयंकर आरम्भ से भरा हुआ अमानुषिक व्यवहारवाला होने से उसप्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है।

यह आत्मा अज्ञान के कारण भाव्य-भावकरूप पर को व स्वयं को एक करता है। मोहकर्म भावक तथा पुण्य-पाप के विकारीभाव उसके भाव्य – इन दोनों को अज्ञानी स्वयं से एकरूप मानता है। निश्चय से कर्म भावक व शुभाशुभ राग उसका भाव्य है; परन्तु 'मैं भावक हूँ और शुभाशुभ राग मेरा भाव्य है' – ऐसा अज्ञानी मानता है। 'मैं राग से भिन्न शुद्ध चैतन्यमय ज्ञायकमात्र हूँ' – ऐसी दृष्टि जिन्हें नहीं हुई वे अज्ञानी दया, दान व्रतादि एवं हिंसादि के अनेक विकल्परूप चेष्टा को अपनी मानते हैं।

यद्यपि पुण्य-पाप के भाव मोहकर्म के भाव्य हैं, तथापि अज्ञानी ऐसा मानता है कि ये विकारीभाव मेरे (आत्मा के) भाव्य हैं तथा ऐसी मान्यता के कारण अज्ञानी जीव भूताविष्ट पुरुष की भांति पागल हो गया है।

जिसको भूत लगा हो, वह तो मर्यादित काल तक (अधिक से अधिक हो तो एक भव) ही पागल-सा गहल रहता है; परन्तु जिसने 'शरीरादि मेरे हैं' – ऐसा मान रखा है, उसका पागलपन तो असीम है – अमर्यादित है, अनादि से है और यदि सच्ची समझ नहीं की तो अनन्तकाल रहेगा। हे भाई! यदि इस मनुष्यभव में ये पागलपन नहीं गया – ये मिथ्या मान्यता नहीं मिटी तो बुरी हालत होगी। इस पागलपन का फल तो चतुर्गति में भटकना है। यह पागलपन भेदज्ञान द्वारा ही दूर होगा। पर में सुखबुद्धि है, इसकारण पर को निज माननेरूप भाव होता है, परन्तु शुद्ध चैतन्यमय सुखधाम निज आत्मा में सुखबुद्धि होने पर, पर को निज माननेरूप पागलपन दूर हो जाता है। हे भाई! मनुष्यभव की सार्थकता विचारकर भेदज्ञान प्रगट कर ले।

अज्ञानी राग व आत्मा को एक करता हुआ अनुभूतिमात्र भावक आत्मा को एक अनुचित विचित्र भाव्यरूप क्रोधादिविकारों से मिश्रित चैतन्यपरिणाम विकारवाला मानने से उसप्रकार के भावों का कर्त्ता प्रतिभासित होता है। देखो, पुण्य व पाप का भाव अपने अविकार अनुभूति-मात्र भावक का अनुचित भाव्य है। भगवान आत्मा तो निर्मल ज्ञान व आनन्द की मूर्ति है। उसको तो सम्यक्दर्शन-ज्ञान व अतीन्द्रिय आनन्द की

निर्मल अवस्थारूप होना ही शोभा देता है। निर्मल वीतरागी शान्ति का वेदन करना ही उसका उचित भाव्य है। जैसे भूत की चेष्टा मनुष्य के योग्य चेष्टा नहीं है, उसीप्रकार पुण्य-पाप के भावों की चेष्टा भगवान आत्मा के योग्य चेष्टा नहीं है। वह अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा का अनुचित भाव्य है। पुण्य-पाप के भाव की चेष्टा प्रगट होने पर जैसा निर्विकार चैतन्यस्वरूप है, वैसी निर्विकारी अवस्था नहीं रहने से चैतन्य की पर्याय में विकार का मिश्रितपना हो जाता है।

अज्ञानी को पुण्य-पाप के भाव, क्रोधादि भाव अपने भाव – निजभाव भासित होते हैं; परन्तु 'मैं उन भावों से भिन्न हूँ, चैतन्यमूर्ति भगवान ज्ञायक हूँ' – ऐसा भासित नहीं होता। 'मैं तो मेरे निर्मल ज्ञान-सुखादि-स्वरूप का अनुभव करनेवाला हूँ' – ऐसा अज्ञानी को अपना स्वरूप भासित नहीं होता, इसकारण वह अपने से एकरूप माने हुए पुण्य-पाप आदि विकारी भावों का कर्त्ता होता है।

अहो ! लोगों को यह मार्ग यदि सुनने में भी कठिन लगता है तो वे इसे अपने में प्रगट कैसे करेंगे ? जिसका जन्म-मरण का अन्त नजदीक आ गया हो, उसे ही यह बात समझ में आयेगी, उसी के हृदय में बैठेगी।

इसप्रकार ९४ वीं गाथा में सोलह बोलों द्वारा जो कहा गया है, अज्ञानी उन सब सविकार चैतन्य परिणामों का कर्त्ता प्रतिभासित होता है, क्योंकि उसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा प्रतिभासित नहीं होता। उसके कर्त्तापने का मूल अज्ञान है – ऐसा यहाँ सिद्ध किया है।

जैसे अपरीक्षक आचार्य के उपदेश से भैंसे का ध्यान करता हुआ कोई भोला पुरुष अपने अज्ञान के कारण भैंसे को और अपने को एक करता हुआ "मैं गगनस्पर्शी सींगों वाला भैंसा हूँ" ऐसे अध्यास के कारण मनुष्योचित मकान के द्वार में से बाहर निकलने से च्युत होता हुआ, उस प्रकार के भावका कर्त्ता प्रतिभासित होता है।

देखो, कोई अपरीक्षक अर्थात् अनजान गुरु ने किसी भोले पुरुष से कहा कि जो तुझे इष्ट हो, उसका ध्यान कर, तेरा कल्याण होगा। उस पुरुष को भैंसा इष्ट था, अतः वह भैंसे का ध्यान करने लगा। ध्यान में विचार ने लगा कि भैंसा ऐसा पुष्ट शरीर वाला है, भारी माथा है, खूब मोटे-मोटे सींग हैं – इत्यादि। ऐसा ध्यान करते-करते वह अज्ञान के कारण भैंसा व स्वयं को एक मानने लगा। भैंसा ऐसा है, वैसा है। भैंसा.......

भैंसा.......भैंसा.......के विचार में मग्न वह अज्ञानी 'मैं ही गगनचुम्बी सींगवाला मोटा भैंसा हूँ' – ऐसा भैंसामय हो गया।

वह आगे सोचता है – 'यह घर का दरवाजा छोटा और मैं बड़ा हू, इसमें से मैं कैसे निकल सकूँगा", यद्यपि स्वयं मनुष्य है तथा मनुष्य के योग्य दरवाजा भी है; अतः आसानी से बाहर निकल सकता है, तथापि इस बात को वह भूल गया। जब स्वयं घर के दरवाजे में से अन्दर गया तब मनुष्य ही था, परन्तु अब 'मैं मोटे सींगवाला भैंसा हूँ' – ऐसा अध्यास हो जाने से मनुष्य के योग्य घर के दरवाजे से बाहर निकलने में असमर्थ हो गया। वह अज्ञानी हुआ उसप्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है।

इसीप्रकार अज्ञानी को 'परद्रव्य मेरा है' – ऐसी चिरकाल की मान्यता के कारण परद्रव्य में से निकलना कठिन हो गया है। ये स्त्री, पुत्र, परिवार, मकान, धन-सम्पत्ति, देव, गुरु इत्यादि सभी परद्रव्य मेरे हैं – ऐसा ध्यान करता है और जानता है कि मैं स्वयं उनरूप हो गया हूँ, इसलिए अब उसको इनसे छूटना भारी मुश्किल हो गया है। परद्रव्य के विचार में वह इतना एकाकार हो गया है कि "मैं शुद्ध चैतन्यमय ज्ञायक आत्मा हूँ" इस बात को बिल्कुल भूल गया है तथा स्वयं को परद्रव्य-स्वरूप ही मानने लगा है, इसप्रकार स्वयं को भूलकर परद्रव्य के ध्यान में मशगूल होने से अब उसको परद्रव्य से छूटना अत्यन्त कठिन हो गया है।

अहो ! आचार्यदेव ने अपार करुणा करके यह बात कही है। वे कहते हैं कि जो परद्रव्य को अपना मानते हैं, उनको उसमें से बाहर निकलना बहुत कठिन पड़ता है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का विकल्प राग है तथा वह राग भला है – ऐसा जो माने उसका उससे छूटना अत्यन्त कठिन है।

अब कहते हैं कि जैसे ध्यानाविष्ट पुरुष उसप्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है, इसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ज्ञेय-ज्ञायकरूप पर को और अपने को एक करता हुआ "मैं परद्रव्य हूँ" ऐसे अध्यास के कारण मन के विषयरूप किये गये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल तथा अन्य जीव के द्वारा (अपना) केवलबोध (ज्ञान) ढँका हुआ होने से और मृतक शरीर के द्वारा परम अमृतरूप विज्ञानघन स्वयं मूर्च्छित हुआ होने से उसप्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, पुद्गल तथा अन्य-जीव – देव, गुरु इत्यादि वस्तुतः ज्ञान के ज्ञेय हैं। वे परद्रव्य आत्मा में नहीं है, स्वयं ज्ञायक है तथा वे सब परज्ञेय हैं।

अज्ञानी ज्ञायक व ज्ञेय को एक करता है, जो देव-गुरु-शास्त्र आदि पर-द्रव्य जाने गये, उन परद्रव्यों से मेरा ज्ञान हुआ है, परद्रव्यों के बिना मेरा ज्ञान प्रगट नहीं होता – इसप्रकार वह परज्ञेय को व स्वयं को एक करता है। स्त्री, कुटुम्ब, मित्र, देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि मैं हूँ तथा ये मेरे हैं – ऐसी मान्यता से मिथ्यादृष्टि जीव अपने अज्ञानभाव का कर्त्ता होता है।

मन के विषयरूप छह द्रव्य हैं। धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्य मन के विषय हैं। स्त्री, पुत्र, परिवार, देव, गुरु, शास्त्र, भगवान तीर्थंकर देव तक सभी परपदार्थ मन के विषय हैं तथा सहज चैतन्यस्वभाव – ज्ञायक स्वभाव अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है। आत्मा के निर्मल स्वसंवेदन के पुरुषार्थ के समय मन उपस्थित है, परन्तु वह मुख्य नहीं है; आत्मा ही मुख्य है। आत्मा का भान तो आत्मा के द्वारा ही होता है, मन की तो वहाँ उपस्थिति मात्र है, मन का विषय तो वस्तुतः परवस्तु है। छह द्रव्यरूप पर का विचार करने पर मन के निमित्त से शुभाशुभ विकल्प उत्पन्न होते हैं और इन विकल्पों में अपनी शुद्ध चैतन्यधातु रुक जाती है। जब आत्मा स्वयं अपने ज्ञायकभावस्वरूप भगवान आत्मा को छोड़कर परद्रव्य के विकल्प में रुक जाता है, तब ऐसा कहा जाता है कि शुद्ध चैतन्य आत्मा पर के द्वारा रोका गया है। परद्रव्य के विचार में अटका अज्ञानी भ्रम से ऐसा मानता है, जानता है कि 'मैं पररूप हो गया हूँ।'

अपने ज्ञायकस्वभाव को ज्ञानद्वारा ग्रहण करना चाहिए, ज्ञान में धारण करके रखना चाहिए। उसके बदले अज्ञानी मन के विषय में अटक जाता है। सिद्ध भगवान, अरहंत भगवान, आचार्य भगवान आदि पंचपर-मेष्ठी अरूपी हैं तथा धर्म, अधर्म आकाश व काल भी अरूपीद्रव्य हैं, वे सब मन के विषय हैं, परन्तु मैं इन सब से भिन्न चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा हूँ – ऐसा जिसको भान हुआ है, वह ज्ञानी – धर्मी जीव जीवादि परद्रव्य के विचार के समय भी "मैं परद्रव्य से भिन्न हूँ" – ऐसा भान रहने से ज्ञेय-ज्ञायक को एक नहीं करता। भाई, बात तो बहुत सूक्ष्म है, परन्तु सावधानी से सुने तो समझ में न आये – ऐसी नहीं है।

यहां तक मन के विषय की बात की है। अब इन्द्रियों के विषय की बात करते हैं।

इन्द्रियों के विषय स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं शब्द द्वारा केवलज्ञान-स्वरूप भगवान आत्मा ढँक गया है। इन्द्रियों के विषयों के लक्ष्य से भगवान आत्मा दृष्टि से ओझल हो गया है। रूपी पदार्थों के लक्ष्य से राग होता है तथा उस राग को व विषय को अपना मानने से केवलज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा ढँक जाता है अर्थात् अनुभव में नहीं आता। देखो, यहाँ केवलज्ञान पर्याय की बात नहीं है। इन्द्रियों के विषय मेरे हैं ऐसे विकल्पों द्वारा 'शुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मा मैं स्वयं हूँ' – यह अनुभव में नहीं आता।

अब तीसरी बात कहते हैं कि मृतक कलेवर द्वारा परम अमृतस्वरूप विज्ञानघन स्वयं मूर्च्छित हो गया है। देखो, यहां शरीर को मृतक कलेवर अर्थात मुर्दा कहा है।

प्रश्न :– परन्तु शरीर मुर्दा अभी थोड़े ही है, यह तो मृत्यु के बाद मुर्दा होगा न ?

उत्तर :– हमारा शरीर अभी – इसी समय मुर्दा है। अरे भाई ! शरीर तो स्वरूप से अचेतन – जड़ – मुर्दा ही है, परन्तु जीव के संयोग की अपेक्षा से उसको उपचार से सचेतन – जीवित कहा जाता है। वास्तव में तो जीव होते हुए भी शरीर तो मृतक कलेवर ही है, क्योंकि शरीर कभी भी जीवरूप – चैतन्यरूप नहीं होता तथा जीव कभी शरीररूप नहीं होता। जीव सदा जीव ही है एवं शरीर सदा शरीर ही है, इसकारण उसको मृतक कलेवर अर्थात् मुर्दा कहा है।

यहाँ कहते हैं कि परम अमृतरूप विज्ञानघन प्रभु आत्मा अज्ञान के कारण शरीररूप मृतक कलेवर में – मुर्दे में मूर्च्छित हो रहा है। अरे ! इसे रात-दिन इस मुर्दा शरीर की कितनी चिन्ता रहती है। खिलाना, पिलाना, सुलाना और पुष्ट रखना आदि इसकी ही दिन-रात संभाल किया करता है। यह जीव शरीर के लक्ष्य से पर में मूर्च्छित हो गया है – बेहोश हो गया है। (आचार्यदेव) कहते हैं कि – भाई ! तू इस मुर्दे में क्यों मूर्च्छित हो गया है ? तू तो अमृतस्वरूप आनन्द का नाथ विज्ञानघन प्रभु है न ? जागृत हो जा, और स्वरूप का भान करके स्वरूप में ही समा जा, आत्मा में ही ठहर जा।

आत्मा अकेला ज्ञानस्वरूप अमृतरस का सागर है। प्रभु ! इसकी दृष्टि छोड़कर इस देह की – मुर्दे की रखवाली में कहाँ अटक गया है ? ये दूध, भात, रोटी, दाल, लाडू वगैरह के खान-पान में जो तू एकाकार हो गया है – यह तेरा अज्ञान है। 'बादाम की मिगी से मस्तक ठंढा रहता है' – आदि

बातें जो तू करता है, वह तेरा मूढ़पना है। भगवान! तू तो सच्चिदानन्द प्रभु अमृत का सागर है। तुझे यह क्या हो गया है? शरीर की सर्व चिन्तायें छोड़कर अमृतस्वरूप आत्मा का भान कर।

देखो, यहाँ तीन बातें कही – (१) मन के विषय में एवं छह पदार्थ के विचार में चैतन्यधातु अटक गयी है। (२) पांच इन्द्रियों के विषयों में केवलबोध रुक गया है तथा (३) परम अमृतरूप विज्ञानघनस्वभाव मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो गया है।

इसप्रकार अज्ञान के कारण जीव इन्द्रियों के विषयों में, मन के विषय में तथा शरीर में मूर्च्छाभाव को प्राप्त होने से इसप्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है अर्थात् जिस-जिस प्रकार का शुभभाव – राग आता है, उसका वह कर्त्ता होता है।

गाथा ६६ के भावार्थ पर प्रवचन

'यह आत्मा अज्ञान के कारण अचेतन कर्मरूप भावक के क्रोधादि भाव्य को चेतन भावक के साथ एकरूप मानता है और वह जड़ ज्ञेयरूप धर्मादि द्रव्यों को भी ज्ञायक के साथ एकरूप मानता है, इसलिए वह सविकार और सोपाधिक चैतन्य परिणाम का कर्त्ता होता है।'

यह आत्मा अपने स्वरूप के भान बिना अचेतन कर्मरूप भावक के जो क्रोधादि भाव्य हैं, उनको चेतन भावक के साथ एकरूप मानता है। अर्थात् अचेतन कर्म भावक हैं तथा पुण्य-पाप के भाव उस अचेतन कर्मरूप भावक के भाव्य हैं। स्वभाव की रुचि के बिना जो शुभाशुभ भाव होते हैं, वे *अचेतन मोहकर्म के भाव्य हैं; परन्तु ऐसा नहीं मानता हुआ अज्ञानी* विकारी भाव्य को चेतन भावक का भाव्य मानता है। शुभाशुभ भावों का कर्त्ता वास्तव में तो जड़कर्म है। यह द्रव्यदृष्टि कराने की बात है। पुण्य-पाप की परिणति उत्पन्न तो जीव की पर्याय में होती है तथा वह अपने षट्कारक की परिणति से अपने में स्वतन्त्रपने होती है; वह पर्याय कहीं पर से होती हो – ऐसा नहीं है। परन्तु यहाँ तो द्रव्यदृष्टि कराना है, इसलिए ऐसा कहते हैं कि पर्याय में जो विकार होता है वह निमित्त के वश होकर होता है; अतः विकारी भाव अचेतन कर्मरूप भावक का भाव्य है, वह चेतन भावक का भाव्य नहीं है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, पुण्य-पाप इत्यादि सभी राग-द्वेषादि के परिणाम अचेतन भावक के अर्थात् जड़कर्मरूप भावक के भाव्य हैं। चेतन

भगवान आत्मारूप भावक तो अपने अतीन्द्रिय आनन्द की दशारूप भाव्य का करनेवाला है। भगवान आत्मा भावक तथा अतीन्द्रिय आनन्द की दशा इसका भाव्य है। समकित होने पर भगवान आत्मा भावक होकर जो निर्मल वीतरागी आनन्द की दशा प्रगट करता है, वह चेतन का भाव्य है; परन्तु अज्ञानी जीव चेतन भावक एवं विकारी भावरूप भाव्य को एकरूप मानता है। राग मेरी चीज है, मेरा भाव्य है, मेरा कर्त्तव्य है – ऐसी अज्ञानी की मान्यता है। भगवान आत्मा भावक होकर निर्मल पर्याय को – शुद्ध रत्नत्रय को अपने भाव्यरूप से अंगीकार करता है – ऐसा ही उसका स्वभाव है; परन्तु जिसने अपने स्वभाव को छोड़कर निज चेतन भावक का भाव्य विकार को माना है, वह अज्ञानी जीव विकार का कर्त्ता होता है।

अहाहा.... ! वस्तुस्वरूप का जैसा स्पष्टीकरण दिगम्बर सन्तों ने किया है, वैसा अन्य किसी ने नहीं किया।

भगवान आत्मा विज्ञानघन प्रभु अविकारी अनुभूतिमात्र भावक है तथा उसके लक्ष्य से जो वीतरागी आनन्द व शान्ति की दशा प्रगट होती है, वह उसका भाव्य है। वीतरागी आनन्द की पर्याय प्रगट करना सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है। धर्मी जीव कभी भी राग व पर की क्रिया का कर्त्ता नहीं होता, परन्तु अज्ञानी जीव आत्मा के अनुचित व अशोभनीक विकारी भावों को अपना कर्तव्य मानकर उन भावों का कर्त्ता होता है। यहाँ सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन का स्वरूप बतलाना है। अज्ञानी जीव राग व परवस्तु को अपना मानकर भावक जड़कर्म के भाव्यरूप विकारी भावों का कर्त्ता स्वयं बनता है। विकारी भाव जो जड़कर्म का कर्तव्य है, उसे वह अपना कर्तव्य मानता है। अरे भाई ! धर्मी का कर्तव्य तो वीतरागी परिणाम है।

अपने ज्ञायक भाव को भूलकर परज्ञेय (छह द्रव्य) मेरे हैं – ऐसा विचार करने पर जो विकल्प उत्पन्न होता है, वह कर्मरूपी भावक का भाव्य है। उसे अपना भाव्य मानकर अज्ञानी जीव शुभाशुभ विकल्प का कर्त्ता होता है शरीर का कर्त्ता या देश का कर्त्ता तो जीव कभी होता ही नहीं है। स्त्री-कुटुम्ब का पालन करना, समाज की सेवा करना, देश का रक्षण करना इत्यादि कर्तव्य भी जीव का नहीं है। छह द्रव्यरूप परज्ञेय को अपना मानकर जो मिथ्यात्व व रागादि का भाव उत्पन्न करता है, उस भाव का वह अज्ञानपने कर्त्ता होता है, वह भाव उसका कर्म है; किन्तु जो परद्रव्य

की क्रिया होती है, वह क्रिया उसका कर्म या कर्तव्य नहीं है। निश्चय से तो ये विकारभाव जड़कर्मरूप भावक के भाव्य हैं। यदि वे आत्मा के भाव्य हों तो इससे कभी भी नहीं छूटेंगे। यहाँ यह कहा है कि अचेतन कर्म भावक व विकारी दशा उसका भाव्य है।

प्रश्न : – तो क्या विकार जीव की अवस्था नहीं है, जीव की पर्याय या जीव का कार्य नहीं है ?

उत्तर : – अरे भाई ! विकारी परिणाम जीव की (अपनी) पर्याय में होता है– ऐसा जिसने नक्की (निश्चय) किया है, उसको स्वभाव की दृष्टि कराने के लिए ऐसा कहा है कि विकारी पर्याय (परिणाम) तेरा – जीव का कर्तव्य नहीं है, बल्कि विकार का परिणाम स्वयं अपने षट्कारक से जीव की पर्याय में होता है, वह विकारीपर्याय कर्म का कार्य भी नहीं है एवं कर्म के कराने से होता भी नहीं है – ऐसा जिसको पक्का निर्णय हुआ है, उसको विकार का लक्ष्य छुड़ाकर दृष्टि के विषयभूत शुद्ध चैतन्यमय आत्मा का आश्रय कराने के लिए द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से उसे जड़कर्मरूपी भावक का भाव्य कहा है। भाई ! जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो, वहाँ उस अपेक्षा से यथार्थ समझना चाहिए।

अज्ञानी की दृष्टि राग व पर के ऊपर है। स्वयं शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञायक भगवान पर इसकी दृष्टि नहीं है, इसकारण यहाँ यह कहा है कि यह जो पर्याय में राग है, वह अचेतन जड़कर्मरूपी भावक का भाव्य है और तू तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, तेरा यह विकारीपरिणाम भाव्य कैसे हो सकता है ? अरे भाई ! दया, दान, व्रतादि का विकल्प हो या अशुभभाव का विकल्प हो – ये सब पुद्गल के या कर्म के कार्य हैं, चेतन के कार्य नहीं हैं। अज्ञानी उन विकारी भावों को चेतन भावक के साथ एकरूप करके उन-उन प्रकार के विकारी भावों का कर्त्ता होता है।

अहो ! यह समयसार शास्त्र कोई अद्भुत अलौकिक वस्तु है। इसको समझने के लिए खूब शान्ति व धैर्य होना चाहिए तथा इसका गंभीरता एवं जिज्ञासा से स्वाध्याय करना चाहिए। पढ़ने मात्र से यह समझ में नहीं आयेगा।

जहाँ ऐसा कहा कि प्रत्येक द्रव्य की विकारी या अविकारी पर्याय स्वतंत्ररूप से अपने षट्कारक से परिणमित होती है, वहाँ पर्याय का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध करने की बात है तथा यहाँ राग को कर्म – कार्य कहकर राग से भेदज्ञान कराके त्रिकाली शुद्ध द्रव्य की दृष्टि कराने की बात है।

अ....हा....हा....! आनन्द के नाथ भगवान आत्मा के लक्ष्य से प्रगट हुआ धर्म धर्मी का कर्तव्य है। धर्मी को लड़ाई का परिणाम, विषयवासना का परिणाम कमजोरीवश होता है, तथापि धर्मी उसका ज्ञाता रहता है, कर्त्ता नहीं होता; परन्तु अज्ञानी पुण्य-पाप के भाव, जो कि अचेतन मोहकर्म के भाव्य हैं; उनको अपना कर्तव्य मानता है, अतः वह उन भावों का कर्त्ता बनता है। मैं पर का कार्य करता हूँ, पर को मारता हूँ, पर को जीवित करता हूँ, पर की रक्षा करता हूँ – इत्यादि माननेवाला मिथ्यादृष्टि मूढ़ है।

अरे ! जो अपनी दया तो पालता नहीं और पर की दया का जो शुभराग आता है, उसे अपना कर्तव्य मानता है, वह अपनी हिंसा करता है। अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में राग को हिंसा कहा है। भाई ! तुझे बाहर में कोई शरण नहीं है और तू भी कोई अन्य को शरण नहीं है। अन्तरंग में प्रगट विराजमान चैतन्यमूर्ति भगवान आनन्द का नाथ ही एकमात्र तुझे शरण है, उसीमें दृष्टि कर तो शरण मिले। अरहन्तादि जो चार शरण लोक में कहे जाते हैं; वे व्यवहार से कहे गये हैं।

अज्ञानी परज्ञेयरूप धर्मादि द्रव्यों को भी ज्ञायक के साथ एकरूप मानता है। छह द्रव्यों के विचार के विकल्प में एकाकारपने तल्लीन होता है, वह परद्रव्य को अपना मानता है।

भाई ! अनन्त निगोदिया जीव तथा अनन्त सिद्धों को ज्ञान की एक पर्याय जानती है, उस पर्याय की सामर्थ्य कितनी ? किन्तु निगोद के जीव को बचा सके या उनकी दया पाल सके – यह बात नहीं है। हाँ, अनन्त की सत्ता को अनन्तपने जानता है – यह ज्ञान की पर्याय की अद्भुत सामर्थ्य है।

अरे भाई ! अनन्त सिद्ध भगवान भक्ति करने योग्य हैं, इसलिए शास्त्र में उनका कथन है – ऐसा नहीं, उसीप्रकार जो अनन्त निगोदिया हैं, उनकी दया पालने योग्य है; इसलिए शास्त्र में उनका कथन है – ऐसा भी नहीं है। तो फिर किस प्रकार है ? अहाहा....! अरे प्रभु ! तेरी ज्ञान की पर्याय में इतने अनन्त ज्ञेय जानने में आते हैं – ऐसी तेरी ज्ञान की पर्याय की स्व-परप्रकाशक अचिन्त्य सामर्थ्य है – यह समझाने के लिए शास्त्र में यह बात कही है। अनन्त परद्रव्य ज्ञेय हैं तथा भगवान आत्मा ज्ञायक है। ज्ञानी अनन्त पर ज्ञेयों को जानता हुआ ज्ञाता रहता है। तथा

अज्ञानी ज्ञेय व ज्ञायक को एकरूप करता हुआ, शुभाशुभ विकल्पों को उत्पन्न करता हुआ, उन सविकार व सोपाधिक चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता होता है।

क्रोधादिकभाव सविकार चैतन्यपरिणाम है तथा धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्य मेरे हैं – ऐसा माने तो वह मानना सोपाधिक चैतन्य-परिणाम है। अज्ञानी राग को अपना मानता हुआ, उसका कर्त्ता होता है और परद्रव्य मेरा है – ऐसा मानता हुआ मिथ्या मान्यता का कर्त्ता होता है; किन्तु परद्रव्य का कर्त्ता तो कोई जीव कभी हो ही नहीं सकता। पर की दया पाल सके या पर को जीवित कर सके – ऐसा तो वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। उस परजीव की आयु हो तो वह बचता है तथा यदि उसकी आयु पूर्ण हो गई हो तो देह नियम से छूट ही जाती है, उसमें कोई क्या कर सकता है ? क्या कोई उसे आयु दे सकता है ? कोई उसकी आयु को छीन सकता है ? नहीं। न कोई किसी को आयु दे सकता है और न छीन सकता है। तो फिर "मैं किसी को वचा सकता हूँ या मार सकता हूँ" – क्या यह मान्यता मिथ्या नहीं है ? अरे भाई ! यह तेरी मान्यता मिथ्या है। प्रभु ! भगवान वीतराग का मार्ग सारी दुनियाँ से जुदा है। अरे ! जैनकुल में जन्मा, उसे भी जिनेश्वर के मार्ग की खवर नहीं है।

प्रश्न :– मुनिराज छहकाय के जीवों की रक्षा करते हैं – ऐसा शास्त्र में आता है न ?

उत्तर :– भाई ! शास्त्र में व्यवहारनय से यह कथन आता है। मुनिराज तीन कषाय के अभावरूप अकषाय परिणति के – स्वदया के स्वामी हैं। उन्हें परजीव की हिंसा का विकल्प नहीं होता तथा परजीव की दया का विकल्प कदाचित् होता है; उसके वे स्वामी नहीं होते, मात्र ज्ञाता रहते हैं, इस-कारण व्यवहार से मुनिराज छहकाय के जीवों की रक्षा करते हैं – ऐसा कथन करने में आता है। जहाँ जो अपेक्षा हो उसे यथार्थ समझना चाहिए।

कमाना, व्यापारधन्धा करना, स्त्री-वच्चों को संभालना, इनका पालन-पोषण व रक्षण करना – इत्यादि प्रवृत्तियों में अटका यह जीव मजदूर की तरह पाप की मजदूरी में अपना कीमती काल गमाता है। अज्ञानी राग का कर्त्ता है, किन्तु बाहर के एवं पर के कार्यों का कर्त्ता तो किसी भी अपेक्षा से कदापि नहीं है। कारखाने में जो कपड़ा बनता है, वह जड़ की क्रिया है; उस क्रिया को आत्मा नहीं कर सकता। जड़ की

क्रिया का स्वामी तो जड़ है। क्या उसका स्वामी जीव हो सकता है? नहीं, कदापि नहीं। तथापि जो जड़ की क्रिया का कर्त्ता या स्वामी स्वयं को मानता है, वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है।

भाई! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श भी नहीं करता। अपने स्वद्रव्य में पर का, शरीर का व लक्ष्मी का अभाव है। इसलिए आत्मा पर का कुछ भी नहीं करता तथा परद्रव्य आत्मा का कुछ नहीं करता। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र स्वयं से टिक रहा है और परिणमन कर रहा है। तीनकाल में कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के परिणाम का कर्त्ता नहीं है – ऐसी ही वस्तुस्थिति है, इसलिए हे भाई! पर के बिना मेरा चलता नहीं – ऐसी मान्यता छोड़ दे। तुझे खबर नहीं है, परन्तु अनन्तकाल में तूने पर के बिना ही चलाया है। अपनी मान्यता विपरीत है, इसकारण अज्ञानी को लगता है कि पर के बिना चलता नहीं है।

आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्व-चतुष्टय में रहा है, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में आत्मा कभी रहा नहीं है, इसलिए पर के बिना ही प्रत्येक जीव ने अपना काम चलाया है। पर का तुझ में अभाव है, उस अभाव से तेरा स्वभाव कैसे टिक सकता है? यह एक उंगली स्वयं से टिकती है, इसमें दूसरी उंगली का अभाव है। भाई! पहले इस बात को स्वीकार तो कर। पर के बिना चलता ही नहीं है – यह तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि की मान्यता है, यह जैनदर्शन की श्रद्धा नहीं है।

पर की सहायता कर सकता हूँ, पर को सुखी कर सकता हूँ, पर को जीवित कर सकता हूँ – यह सब मिथ्यादृष्टि का भ्रम है। अज्ञानी अपने विकारी परिणाम का कर्त्ता होता है, परन्तु परद्रव्य के कार्य का कर्त्ता कभी नहीं होता।

यहाँ क्रोधादिक के साथ एकपने की मान्यता से उत्पन्न हुआ कर्तृत्व समझाने के लिए भूताविष्ट पुरुष का दृष्टान्त कहा तथा धर्मादि अन्यद्रव्य के साथ एकपने की मान्यता से उत्पन्न हुआ कर्तृत्व समझाने के लिए ध्यानाविष्ट पुरुष का दृष्टान्त कहा है।

भेदज्ञान साबू भयौ, समरस निरमल नीर।
धोबी अन्तर आतमा, धोवै निजगुण चीर ॥६॥

☐ समयसार नाटक, संवर द्वार

ततः स्थितमेतद् ज्ञानान्नश्यति कर्तृत्वम् –

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुञ्चदि सव्वकत्तित्तं ॥६७॥

एतेन तु स कर्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः।
एवं खलु यो जानाति सो मुंचति सर्वकर्तृत्वम् ॥६७॥

येनायमज्ञानात्परात्मनोरेकत्वविकल्पमात्मनः करोति तेनात्मा निश्चयतः कर्ता प्रतिभाति, यस्त्वेवं जानाति स समस्तं कर्तृत्वमुत्सृजति ततः स खल्वकर्ता प्रतिभाति। तथा हि – इहायमात्मा किलाज्ञानी सन्नज्ञानादासंसारप्रसिद्धेन मिलितस्वादस्वादनेन मुद्रितभेदसंवेदनशक्ति-

---

इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान से कर्तृत्व का नाश होता है – यही अब कहते हैं :–

इस हेतु से परमार्थविद्, कर्त्ता कहे इस आत्म को।
यह ज्ञान जिस को होय, वो छोड़े सकल कर्तृत्व को ॥६७॥

गाथार्थ :– [एतेन तु] इसलिये [निश्चयविद्भिः] निश्चय के जाननेवाले ज्ञानियों ने [सः आत्मा] उस आत्मा को [कर्ता] कर्त्ता [परिकथितः] कहा है – [एवं खलु] ऐसा निश्चय से [यः] जो [जानाति] जानता है [सः] वह (ज्ञानी होता हुआ) [सर्वकर्तृत्वम्] सर्व कर्तृत्व को [मुञ्चति] छोड़ता है।

टीका :– क्योंकि यह आत्मा अज्ञान के कारण पर के और अपने एकत्व का आत्मविकल्प करता है, इसलिये वह निश्चय से कर्त्ता प्रतिभासित होता है – ऐसा जो जानता है, वह समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है; इसलिये वह निश्चय से अकर्त्ता प्रतिभासित होता है। इसे स्पष्ट समझाते हैं :–

यह आत्मा अज्ञानी होता हुआ, अज्ञान के कारण अनादि संसार से लेकर मिश्रित स्वाद का स्वादन – अनुभवन होने से (अर्थात् पुद्गलकर्म का

रनादित एव स्यात्; ततः परात्मानावेकत्वेन जानाति; ततः क्रोधोऽहमित्यादिविकल्पमात्मनः करोति; ततो निर्विकल्पादकृतकादेकस्माद्विज्ञानघनात्प्रभ्रष्टो वारम्वारमनेकविकल्पैः परिणमन् कर्ता प्रतिभाति । ज्ञानी तु सन् ज्ञानात्तदादिप्रसिध्यता प्रत्येकस्वादस्वादनेनोन्मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिः स्यात्; ततोऽनादिनिधनानवरतस्वदमाननिखिलरसांतरविविक्तात्यंतमधुरचैतन्यैकरसोऽयमात्मा भिन्नरसाः कषायास्तैः सह यदेकत्वविकल्पकरणं तदज्ञानादित्येवं नानात्वेन परात्मानौ जानाति; ततोऽकृतकमेकं ज्ञानमेवाहं न पुनः कृतकोऽनेकः क्रोधादिरपीति क्रोधोऽहमित्यादिविकल्पमात्मनो मनागपि न करोति; ततः समस्तमपि कर्तृत्वमपास्यति; ततो नित्यमेवोदासीनावस्थो जानन् एवास्ते; ततो निर्विकल्पोऽकृतक एको विज्ञानघनो भूतोऽत्यंतमकर्ता प्रतिभाति ।

और अपने स्वाद का एकमेकरूप से मिश्र अनुभव होने से) जिसकी भेदसंवेदन (भेदज्ञान) की शक्ति संकुचित हो गई है ऐसा अनादि से ही है, इसलिये वह स्व-पर को एकरूप जानता है; इसीलिये 'मैं क्रोध हूँ, इत्यादि आत्मविकल्प करता है, इसलिये निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन (स्वभाव) से भ्रष्ट होता हुआ, वारम्बार अनेक विकल्परूप परिणमित होता हुआ, कर्त्ता प्रतिभासित होता है ।

और जब आत्मा ज्ञानी होता है, तब ज्ञान के कारण ज्ञान के प्रारम्भ से लेकर पृथक्-पृथक् स्वाद का अनुभवन होने से (पुद्गलकर्म का और अपने स्वाद का एकरूप नहीं, किन्तु भिन्न-भिन्नरूप अनुभवन होने से) जिसकी भेदसंवेदनशक्ति प्रगट हो गई है ऐसा होता है; इसलिये वह जानता है कि "अनादिनिधन, निरन्तर स्वाद में आनेवाला, समस्त अन्य रसों से विलक्षण (भिन्न) अत्यन्त मधुर चैतन्यरस ही एक जिसका रस है – ऐसा आत्मा है और कषायें उससे भिन्न रसवाली हैं, उनके साथ जो एकत्व का विकल्प करना है वह अज्ञान से है" – इसप्रकार पर को और अपने को भिन्नरूप जानता है; इसलिये 'अकृत्रिम (नित्य) एक ज्ञान ही मैं हूँ, किन्तु कृत्रिम (अनित्य) अनेक जो क्रोधादिक हैं, वह मैं नहीं हूँ' – ऐसा जानता हुआ 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि आत्मविकल्प किंचित्मात्र भी नहीं करता; इसलिये समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है, अतः सदा ही उदासीन अवस्थावाला होता हुआ, मात्र जानता ही रहता है और इसलिये निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन होता हुआ, अत्यन्त अकर्त्ता प्रतिभासित होता है ।

भावार्थ :– जो परद्रव्य के और परद्रव्य के भावों के कर्तृत्व को 'अज्ञान' जानता है, वह स्वयं कर्त्ता क्यों बनेगा ? यदि अज्ञानी बना रहना हो तो परद्रव्य का कर्त्ता बनेगा, इसलिये ज्ञान होने के बाद परद्रव्य का कर्तृत्व नहीं रहता ।

गाथा ६७ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

अज्ञान से जो कर्त्तापना है, उस कर्त्तापने का नाश ज्ञान से होता है । मैं ज्ञाता-दृष्टा भगवान सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ' – ऐसे अनुभव से कर्त्तृत्व का नाश होता है और वही धर्म है । आचार्यदेव यही बात इस गाथा ६७ में कहते हैं ।

यह गाथा बहुत सरस है । इसमें कहा है कि अज्ञानी जीव को अपने शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव का भान नहीं होने से राग व परद्रव्य के साथ स्वयं को एक मानकर स्व-पर के एकत्व का आत्मविकल्प करता है, इस-कारण निश्चय से वह कर्त्ता प्रतिभासित होता है । अज्ञान से राग का कर्त्ता है – ऐसा जो यथार्थ जानता है, वह सकल कर्तृत्व को छोड़ देता है अर्थात् वह अकर्त्ता हो जाता है ।

लोग बाहर के संयोग छोड़ने को त्याग मानते हैं, आहार के त्याग को उपवास मानते हैं; किन्तु ये उपवास नहीं हैं, ये तो लंघन हैं । वस्तुतः आत्मा में वसना – ठहरना उपवास है । 'मैंने आहार का त्याग किया' – ऐसा मानना तो मिथ्यात्व है, क्योंकि आत्मा पर के ग्रहण-त्याग से शून्य है । जड़ रजकणों को आत्मा कैसे ग्रहण कर सकता है और कैसे त्याग सकता है ? मैंने स्त्री, पुत्र, धन-सम्पत्ति इत्यादि का त्याग किया – ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की होती है ।

इसी ग्रन्थ के परिशिष्ट में ४७ शक्तियों का वर्णन है । उनमें सोलहवीं त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति कही है, वहाँ कहा है – "जो घटता-बढ़ता नहीं है – ऐसे स्वरूप में नियतत्वरूप (निश्चय से जैसे का तैसा रहने-रूप) त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है ।

देखो, आत्मा पर के ग्रहण व त्याग से शून्य है । आत्मा एक भी रजकण को न ग्रहण करता है और न त्याग करता है । पर्याय में केवल अज्ञान को ग्रहण किया है और उसी अज्ञान को छोड़ता है । जो ऐसा मानता है कि मैंने पर का त्याग किया, उसने समकित का त्याग किया है और मिथ्यात्व को ग्रहण किया है ।

जैन परमेश्वर देवाधिदेव सर्वज्ञदेव धर्मसभा में गणधर व इन्द्रों की उपस्थिति में दिव्यध्वनि द्वारा जो बात कहते थे, यह वही बात है। जैसे ज्ञान आत्मा का त्रिकाली गुण है, उसीप्रकार पर के त्याग-ग्रहण से शून्य आत्मा की त्रिकाली शक्ति (गुण) है। इसलिए आत्मा पर का कभी भी ग्रहण व त्याग नहीं करता – यह मूल मुद्दे की बात है। ऐसा यथार्थ जानकर जो स्व-पर को एक नहीं करता, किन्तु पर को पररूप जानकर स्वरूप में चैतन्यस्वभावमय अपने वस्तुस्वरूप में लीन होता है, वह अपने एक ज्ञायकस्वभाव का अनुभव करता है, इसप्रकार वह सकल कर्तृत्व को छोड़ देता है।

इसी बात को यहाँ और अधिक स्पष्टरूप से समझाते हैं। अपनी ज्ञानानन्दस्वभावी त्रिकाली वस्तु का अभान (भान न होना) ही अज्ञान है। यह अज्ञान नया नहीं है, किन्तु अनादि से है। अनादि संसार से इस जीव ने अपनी शुद्ध चिद्रूप वस्तु की दृष्टि नहीं की; इसी अज्ञान के कारण इसको मिश्रित (मिलित) स्वाद का अनुभव है। अनादिनिगोद से लेकर अब तक अज्ञानी को अपनी ज्ञान की पर्याय में राग-द्वेष के विकल्पों की आकुलता का स्वाद आता है। 'अज्ञान के कारण' – ऐसा कहकर कर्म के कारणपने का निषेध किया है। जीव अनादिकाल से अज्ञान के कारण पुण्य-पाप व शुभाशुभभाव की आकुलता का – दुख का स्वाद ले रहा है। 'मिलितस्वाद' का अर्थ ऐसा नहीं है कि कुछ आत्मा के आनन्द का और कुछ राग के विकल्पों की आकुलता का स्वाद ले रहा है; क्योंकि अज्ञानी को आत्मा का आनन्द तो है ही कहाँ? यहाँ 'मिलितस्वाद' का अर्थ यह है कि शुभाशुभराग का ज्ञान में जो एकमेकपने अनुभव होता है, वही पौद्गलिक विकार का स्वाद है, उसी स्वाद को मिलितस्वाद कहा है।

राग पुद्गल की अवस्था है। अज्ञानी उस राग का स्वाद लेता है, वह जगत की अन्य वस्तुओं का स्वाद नहीं लेता। लाडू, जलेबी, मैसूर, द्राक्ष, मोसम्मी आदि परवस्तुओं का स्वाद जीव को नहीं आता, परन्तु पर-वस्तुओं को अच्छा-बुरा (इष्ट-अनिष्ट) मानकर जो राग-द्वेष करता है, वह उस राग-द्वेष का स्वाद लेता है। अपने चैतन्यस्वभाव से भ्रष्ट होकर दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव जो दुःखरूप हैं, उसका स्वाद लेनेवाला मूढ़ – मिथ्यादृष्टि है। शुभराग चैतन्य की स्वभावरूप अवस्था नहीं है, इसी कारण उसको पुद्गल की अवस्था कहा है। अज्ञानी जीव पुद्गल

की अवस्था का अर्थात् राग-द्वेष के भाव का स्वाद लेता है – यही मिथ्यादृष्टि का लक्षण है।

भले ही उसे ग्यारह अंग व नौ पूर्व का ज्ञान हो, तथापि जब तक राग के स्वाद का अनुभव करता है, तब तक वह मिथ्यादृष्टि है। भगवान आत्मा त्रिकाली चिदानन्दस्वरूप प्रभु है – ऐसा जिसने आत्मा के सन्मुख होकर कभी उस ओर अपना झुकाव नहीं किया ऐसा अज्ञानी जीव पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि अठ्टाइस मूलगुण पाले तो भी वह अज्ञानी दुःख के स्वाद का ही अनुभव करता है। उसे लेशमात्र भी सुख का स्वाद नहीं आता, क्योंकि वह सब शुभराग है।

छहढाला में भी कहा है, –

"मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो;
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।"[1]

अहाहा.... ! नववें ग्रैवेयक तक चला जावे – ऐसा विशिष्ट शुभराग भी इस जीव ने अनन्तबार किया, किन्तु शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा का भान किये बिना अनन्त काल से आज तक लेशमात्र भी सुख नहीं मिला। अरे भाई ! शुभभाव करके भी इसको अनादि से दुःख का ही स्वाद अनुभव में आया है।

प्रश्न :– ये सब श्रीमन्त लोग एवं स्वर्ग के देवगण तो सुखी हैं न ?

उत्तर :– अरे भाई ! ये सभी सेठिया और स्वर्ग के देव विषयों की चाह की दाह से जल रहे हैं। ये सब बिचारे दुःखी ही हैं। जिसको अपने आनन्दस्वरूप आत्मा का भान नहीं है, उन सबको पुण्य-पाप के भाव का स्वाद आता है और वह आकुलतामय दुःख का ही स्वाद है।

पुद्गलकर्म का तथा अपने स्वाद का एकमेकपने – एकरूप अनुभव होते रहने से अज्ञानी की भेदसंवेदन की शक्ति ही नष्ट हो गई है। अज्ञानी को तो आत्मा के स्वाद का (ज्ञान का) लेश (अंश) भी नहीं है। राग को, पुण्य-पाप के भाव को व आत्मा के ज्ञान को एकमेक करने से उसकी भेद-संवेदन संबंधी शक्ति अस्त हो गई है। राग से भिन्न निर्मल ज्ञानानन्द-स्वभावी अपनी चीज है – ऐसा भेदज्ञान करने की इसकी शक्ति नष्ट हो गई है अर्थात् उसे राग में एकता हो गई है। परन्तु राग चाहे शुभ हो या अशुभ आकुलता उत्पन्न करनेवाला होने से दुःखरूप ही है। यहाँ शुभराग

१. पण्डित दौलतराम: छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ५

की प्रधानता से बात है, क्योंकि शुभ में धर्म मानकर अज्ञानी अनंतकाल से दुःखी हो रहा है।

बाह्य तपश्चर्या में जो राग है, वह भी आकुलता का स्वाद है, दुःख है। वह वास्तविक तपश्चर्या नहीं है, 'जिसमें स्वभाव का प्रतपन होकर निराकुल आनन्द का स्वाद आवे, उसका नाम तप है।' शुद्ध चैतन्यस्वरूप का भान न हो और महिना-महिना तक के उपवास करे तो भी वह कहीं तप नहीं है, वह तो राग है, अपवास है। अकेले शुभराग में अटकना अपवास अर्थात् दुःख में वास है।

आत्मा के आनन्द के अनुभव बिना अर्थात् सम्यग्दर्शन बिना जितना क्रियाकाण्ड का राग है, वह सब दुःखरूप हैं और वह पुद्गल का स्वाद है। अज्ञानी के राग की एकता बुद्धि के कारण राग से भिन्न होने की भेदज्ञान-शक्ति संकुचित हो गई है। स्वयं निर्मल आनन्दस्वरूप भगवान ज्ञायक है तथा राग तो दुःखस्वरूप है – इस प्रकार दोनों को भिन्न करने वाली भेद-ज्ञान शक्ति अनादि से ढ़क गई है। आत्मा व राग एक है – ऐसी इसको अभेद दृष्टि हो गई है।

भगवान आत्मा ज्ञायक तत्त्व है तथा शुभाशुभभाव पुण्य-पापरूप आस्रव तत्त्व है। दोनों तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। एक तत्त्व दूसरे तत्त्वरूप नहीं है – ऐसा माने तो नव तत्त्व सिद्ध हों, किन्तु अज्ञानी की नव तत्त्वों को भिन्न-भिन्न करने की शक्ति एक हो गई है। आस्रव से ज्ञायक को भिन्न करने की इसकी शक्ति विलय (नष्ट) हो गई है, क्योंकि वह ज्ञायक को व आस्रव को एकरूप करता है।

देखो ! मूल मुद्दे की बात चल रही है। कोई पाँच महाव्रत पालता है, हजारों रानियों को छोड़कर जंगल में रहता है, किन्तु अन्तर में राग से भिन्न मैं स्वयं कोई जुदा आत्म पदार्थ हूँ – इसका भान नहीं हो तो वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। अरे भाई ! शुभराग करके तू अनन्तवार नववें ग्रैवेयक गया, किन्तु अनन्तकाल में आज तक राग का ही तुझे स्वाद आया है। जो अशुभराग है, उसका स्वाद तो तीव्र महादुःखमय है ही, किन्तु पंचमहाव्रतादि रूप जो शुभराग है, उसका स्वाद भी दुःखमय ही है। अरेरे ! पुण्य-पाप के भाव में एकाकार होकर अज्ञानी जीव अटक गया है तथा आनन्दकन्द सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु जो अन्तर में विराजमान है, उस मूलमुद्दे की बात को – प्रयोजनभूत बात को वह भूल ही गया है।

भगवान जिनेश्वरदेव धर्मसभा में गणधर व इन्द्रों की उपस्थिति में जो बात कहते थे, उसी बात को सन्तजन उनके आढ़तिया बनकर जगत के समक्ष प्रकट करते हैं। कहते हैं कि प्रभु! तू शाश्वत आनन्दधाम है, त्रिकाली सुखधाम है तथा यह क्षणिक राग का रस आकुलतामय – दुःखमय है। तुझे स्व-पर के स्वाद की जुदाई का विवेक नहीं होने से अर्थात् भेद-संवेदनशक्ति नष्ट हो जाने से तू अपने ज्ञान को तथा राग को अनादि से एकमेक करके जानता-मानता है।

प्रभु! यह तूने क्या किया? तू तो निराकुल आनन्द का नाथ है। तू राग के दुःख के नीरस स्वाद में क्यों अटक गया है? हे भाई! राग के क्रियाकाण्ड से धर्म होगा – ऐसी मान्यता को छोड़कर अन्तर्दृष्टि कर, पर्यायबुद्धि छोड़कर द्रव्यदृष्टि प्रगट कर।

भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ अनंत सुखनिधान, ज्ञायकस्वरूप प्रभु अन्तरंग में सदा विराजमान है, परन्तु अज्ञानी ने अन्तर्दृष्टि नहीं की, इसकारण उसको अनादि से अकेले राग का स्वाद आ रहा है। अरे! राग का स्वाद बिल्कुल बे-स्वाद है, तो भी अज्ञानी उसमें अटक गया है और स्व-पर को एकरूप जानता है और 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि प्रकार से पर में आत्मविकल्प करता है, इसकारण निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन स्वभाव से भ्रष्ट होता हुआ, बारम्बार अनेक शुभाशुभराग के विकल्परूप से परिणत होता हुआ, वह कर्त्ता प्रतिभासित होता है।

द्वेष में क्रोध व मान तथा राग में माया व लोभ आ जाते हैं अर्थात् क्रोध व मान द्वेषरूप तथा माया व लोभ रागरूप कषायें हैं। जो अपने चैतन्यस्वरूप को भूलकर राग में तन्मय होता है, उसे आत्मा के प्रति द्वेष – क्रोध है। जो स्वभावदृष्टि से रहित है तथा शुभराग की दृष्टि से सहित है, उसने स्वयं को कषायरूप कर दिया है। जो स्व-पर को एकरूप मानता है, वह 'मैं क्रोध हूँ, मान हूँ, माया हूँ, लोभ हूँ, देह हूँ, रूपवाला हूँ, गोरा हूँ, काला हूँ' – इत्यादि नानाप्रकार से परवस्तु में आत्मविकल्प करता है, इसकारण सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा से भ्रष्ट होता हुआ, वह अनेक विकल्परूप से परिणमता हुआ, उन-उन विकल्पों का कर्त्ता होता है।

भगवान आत्मा निर्विकल्प, अकृत्रिम, विज्ञानघनस्वभावरूप है तथा जो राग को अपना मानता है, वह निजनिर्विकल्प विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट है। जो शुभराग के क्रियाकाण्ड से धर्म होना मानता है, वह भगवान

चैतन्यस्वभावी आत्मा से भ्रष्ट है। जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन क्या है – इस बात की लोगों को खबर नहीं है। सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान व चारित्र होते ही नहीं हैं। आत्मा व अनात्मा के भेदज्ञान बिना समस्त क्रियाकाण्ड अर्थहीन है तथा दुःख का – आकुलता का स्वाद उत्पन्न करने वाला है। क्रियाकाण्ड में ही धर्म समझनेवालों से कहते हैं कि अरे भाई! तू स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ कर और क्रियाकाण्ड से धर्म होता है – ऐसी मान्यता छोड़ दे।

प्रश्न :– कलशटीका के चौथे कलश में तो ऐसा कहा है कि "काल-लब्धि के बिना करोड़ उपाय किए जायें तो भी जीव सम्यग्दर्शनरूप परिणमन के योग्य नहीं होता – ऐसा नियम है। इससे जाना जाता है कि सम्यक्त्व यत्नसाध्य नहीं, सहजरूप है।"

उत्तर :– भाई! वहाँ काललब्धि की मुख्यता से कथन है, यहाँ पुरुषार्थ की मुख्यता से बात चल रही है। इसका अर्थ यह है कि जब जीव स्वभावसन्मुख होने का पुरुषार्थ करे तथा स्वानुभव प्रगट करे, तभी काललब्धि भी पक जाती है – ऐसा सहज-सुमेल है। सभी समवाय एक-साथ होते हैं। जब स्वभाव का भान प्रकट होता है, तब काललब्धि का भी ज्ञान यथार्थ होता है। भाई! जो स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ करे, उसकी काललब्धि भी पक गई है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में भी यही कहा है कि 'जो जीव श्री जिनेश्वर के उपदेश अनुसार पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करता है, उसे तो काललब्धि व भवितव्य भी हो चुका है। जो पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करता है, उसे तो सर्वकारण मिलते ही हैं और अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होती ही है – ऐसा निश्चय करना।'

श्रीमद् राजचंद्र ने भी यही कहा है :–

'भवस्थिति आदि नाम लई, छेदो नहि आत्मार्थ'

प्रश्न :– केवलीभगवान के ज्ञान में जिससमय हमें सम्यग्दर्शन प्रगट होना देखा – जाना गया होगा, उसीसमय वह प्रगट होगा; क्या यह बात सच नहीं है?

उत्तर :– 'केवली भगवान ने जब-जैसा-जो देखा होगा, तब-वैसा-वही होगा – ऐसा जो तुम कहते हो सो ठीक, किन्तु यह बताओ कि जिस केवलज्ञान का सहारा लेकर तुम यह बात कहते हो, क्या उस केवलज्ञान की सत्ता तुम्हें स्वीकार है? एकसमय में तीनलोक व तीनकाल को जाने – ऐसी केवलज्ञान की पर्याय को क्या तुम हृदय से स्वीकार करते हो? यदि

केवलज्ञान की सत्ता स्वीकार है, तो हम पूछते हैं कि इस सत्ता को आपने द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होकर स्वीकार किया या पर्याय के सन्मुख होकर ? पर्याय के सन्मुख दृष्टि रखने से तो केवलज्ञान की सत्ता स्वीकृत ही नहीं हो सकती, क्योंकि वर्तमान पर्याय तो अल्पज्ञ है। अतः केवलज्ञानस्वभावी अपने द्रव्यस्वभाव के सन्मुख दृष्टि करने पर ही केवलज्ञानपर्याय की स्वीकृति हो सकती है; क्योंकि द्रव्यस्वभाव या ज्ञ-स्वभाव सर्वज्ञस्वभाव-रूप ही हैं।

अहो ! ज्ञ-स्वभावी या केवलज्ञानस्वभावी आत्मा अन्तरंग में प्रत्यक्ष प्रगट ही है, उसके सन्मुख दृष्टि करने पर अपने सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति सहित सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और यही अपूर्व पुरुषार्थ है; उसे ही केवलज्ञान की सत्ता का यथार्थ निर्णय होता है। (परसन्मुखता से केवल-ज्ञान की सत्ता का सम्यक्निर्णय नहीं होता) प्रवचनसार गाथा ८० में भी यही कहा है कि :-

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ।। ८० ।।

जो अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, उसकी परिणति अपने शुद्ध द्रव्यस्वभाव में – ज्ञ-स्वभाव में झुक जाती है तथा उसका मोह नष्ट हो जाता है अर्थात् उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है।

भाई ! अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टिपूर्वक ही केवलज्ञान की सत्ता का सम्यक्निर्णय होता है तथा यही सम्यक्पुरुषार्थ है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अज्ञानी इस बात को भूल गया है कि "मैं सर्वज्ञस्वभावी ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध चैतन्यभावमय आत्मा हूँ" – इसकारण अपने विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट होकर वारम्वार अनेक विकल्परूप से परिणमन करता हुआ विकार का कर्त्ता प्रतिभासित होता है।

यह अज्ञानी की बात की। अब दृष्टि बदलकर जिसने द्रव्यदृष्टि से सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, उस ज्ञानी की बात करते हैं।

जब जीव स्वयं आत्मसन्मुखता के पुरुषार्थपूर्वक ज्ञानी होता है, तब उसे पृथक्-पृथक् स्वाद का स्वादन होता है। कर्म ने रास्ता दिया, इसलिए ज्ञानी हुआ – ऐसा नहीं है; बल्कि वह अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के सन्मुख होनेरूप पुरुपार्थ करके ज्ञानी हुआ है, इसप्रकार आत्मज्ञान प्रगट होने पर धर्मी को स्वभाव के आनन्दरूप स्वाद का तथा राग के स्वाद का पृथक्-पृथक् वेदन होता है। वह ज्ञानी आत्मज्ञान के कारण विकार के विरस-

स्वाद को एवं चैतन्य के आनन्दमयस्वाद को पृथक्-पृथक् (भिन्न-भिन्न) अनुभव करता है, क्योंकि उसकी भेदसंवेदनशक्ति प्रगट हो गई है। स्वरूप का संवेदन होने पर ही सम्यग्दर्शन होता है।

यदि कोई ऐसा कहे कि ज्ञानी को तो दुःख का वेदन है ही नहीं, तो उसकी यह बात सही नहीं है। भूमिकानुसार ज्ञानी को ज्ञान व आनन्द का वेदन भी है तथा दुःख का वेदन भी है, किन्तु दोनों का पृथक्-पृथक् वेदन होता है, एकरूप नहीं।

द्रव्यानुयोग में अध्यात्मतत्त्व की मुख्यता से जहाँ दृष्टि के विषय का निरूपण होता है, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि 'ज्ञानी को आनन्द का ही वेदन है,' किन्तु वहाँ इस कथन में राग गौण रहता है और जहाँ ज्ञान की प्रधानता से बात कही जाती है, वहाँ ऐसा कहते हैं कि ज्ञानी को ज्ञान का, आनन्द का तथा राग – दुःख का दोनों का पृथक्-पृथक् वेदन होता है।

देखो ! केवली को अकेला ज्ञान व आनन्द का वेदन होता है तथा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को अकेले राग व दुःख का वेदन होता है और समकिती ज्ञानी को ज्ञानानन्द एवं राग का भिन्न-भिन्न स्वाद आता है। ज्ञानी को जब से सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान हुआ, तभी से उसे स्वरूपसंवेदन से प्राप्त आनन्द के स्वाद का एवं पर्याय में विद्यमान अल्प राग के स्वाद का पृथक्-पृथक् अनुभव होता है। ज्ञानी एकसमय में दोनों के स्वाद को भिन्न-भिन्नरूप से अनुभव करता है। अहा ! जब तक पूर्ण वीतरागता व पूर्ण आनन्द की प्राप्ति न हो तब तक ज्ञानी को वीतराग परिणति से प्राप्त आनन्द के साथ जितना राग है, उतने दुःख का भी भिन्नपने अनुभव होता है। ज्ञानी को अकेले आनन्द का ही स्वाद आता हो – ऐसा नहीं है।

ज्ञानी को सुख व दुःख दोनों का पृथक्-पृथक् स्वाद आता है। भाई ! यह वीतराग का मार्ग है, इसमें कोरी कल्पनाओं की बातें नहीं चलती। भाई, निहालचन्दजी सोगानी ने शुभभाव के स्वाद को भी भट्टी के समान दाह उपजानेवाला कहा है। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी का अभाव हुआ है, उतना आनन्द है तथा तीन कषायें जो शेष हैं, उतना दुःख भी है। इसको दोनों का स्वाद पृथक्-पृथक् अनुभव में आता है। उसीप्रकार पंचम गुणस्थान वाले को जितनी वीतराग-परिणति हुई है, उतना ज्ञान का सुखरूप स्वाद है तथा उसी समय जो दो कषायें विद्यमान हैं, उतना राग का दुःखरूप स्वाद है। दोनों का भिन्न-

भिन्न अनुभव होता है। एक ही समय में शान्ति व दुःख का पृथक्-थक् वेदन है।

अहो ! वीतराग का मार्ग बहुत गम्भीर है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव ने इस पंचमकाल में तीर्थंकरतुल्य काम किया है और अमृतचन्द्राचार्य देव ने उनके ग्रन्थों की टीका करके गणधर जैसा काम किया है। मूल गाथासूत्रों के गम्भीर रहस्यों का उद्घाटन करके अमृतचन्द्राचार्य ने हम पामर प्राणियों पर महान उपकार किया है।

वे कहते हैं कि धर्मी को ज्ञान व आनन्द का पृथक्-पृथक् अनुभव होने से उसकी भेदसंवेदनशक्ति प्रगट हो गई है। अहाहा....! यह टीका तो देखो, अमृतचन्द्र ने तो अमृत ही बहा दिया है। राग का स्वाद दुःखरूप होता है तथा स्वरूपसंवेदन से प्राप्त ज्ञान का स्वाद सुखरूप होता है – इसप्रकार जिसको दोनों के स्वाद को भिन्न करने की भेदसंवेदनशक्ति मिल गई है, वह ज्ञानी है।

अरे भाई ! इस बात को सुनने-समझने से भी सातिशय पुण्य बँध जाता है। सत्समाज में रहकर जो यह परमसत्य बात धैर्य से बारम्बार सुने-समझे तो शुभभाव के निमित्त से उसको ऐसा ऊँचा (सातिशय) पुण्यबंध होता है कि जिसके फल में बाह्य लक्ष्मी आदि वैभव की भी प्राप्ति होती है।

प्रश्न :– लोग कहते हैं कि आपके हाथ में यह जो छड़ी है, यह जादू की छड़ी है, उसे आप अपने भक्तों के माथे पर फेर देते हो और वे निहाल हो जाते हैं, धनवान हो जाते हैं, क्या यह बात सच है ?

उत्तर :– नहीं भाई, नहीं ! लकड़ी से कुछ नहीं मिलता। लकड़ी में कुछ जादू-वादू नहीं है। यह तो पन्ना पलटने के लिए है। हाथ में पसीना आता है न, इसलिए यह लकड़ी रखते हैं। एकबार ऐसी ही एक लकड़ी को कोई जादू की छड़ी समझकर चुरा ले गया था।

अरे भाई ! वीतरागदेव की यह परमसत्य वाणी है, इसको सुनने-वालों को शुभभाव से विशेषप्रकार का कोई उच्च पुण्यबन्ध हो जाता है तथा पूर्व के पापकर्म का संक्रमण होकर इसी भव में उदय में आ जाता है, तो उस पुण्यकर्म के निमित्त से अपनी रुचि के अनुकूल बाह्य सामग्री सहज ही मिल जाती है। हमारे पास कोई इल्म (जादू) की लकड़ी नहीं है। इस लकड़ी में क्या कोई माल रखा है ? माल तो भगवान आत्मा शुद्धचिदानन्दमय वस्तु में है। इस परमानन्द के नाथ भगवान आत्मा की यह परमसत्य बात

कान में पड़ते ही पुण्यानुबन्धी पुण्य बधता है, उसके फल में लक्ष्मी आदि बाह्य वैभव मिलता है, किन्तु वह कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है।

अहाहा .... ! यदि कोई चीज है तो वह राग से भिन्न भगवान आत्मा के स्वानुभवमण्डित आनन्द का अनुभव करना ही वस्तुतः महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

अहो ! कुन्दकुन्दाचार्यदेव की कथन पद्धति कोई अलौकिक ही है। प्रवचनसार परमागम में कविवर वृन्दावनजी ने तो कहा है :-

शुद्धबुद्धि-वृद्धिदा, प्रसिद्ध रिद्धि-सिद्धिदा।
हुए, न हैं, न होंहिगे, मुनिन्द कुन्दकुन्द से ।।६६।।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव साक्षात् सदेह सीमन्धर परमात्मा के पास विदेह-क्षेत्र में गये थे, श्रुतकेवलियों के साथ चर्चा की थी। प्रातः, मध्यान्ह एवं शाम को दिन में तीन बार छह-छह घड़ी तक भगवान की वाणी सुनी थी, पश्चात् भरतक्षेत्र में वापिस पधारकर पाँच परमागमों की रचना की।

वे कहते हैं कि ज्ञानी की भेदसंवेदन की शक्ति प्रगट हो गई है, इसकारण वे जानते हैं कि "अनादिनिधन निरन्तर स्वाद में आता हुआ, समस्त अन्य रसों से विलक्षण (भिन्न), अत्यन्त मधुर एक चैतन्यरस ही जिसका रस है – ऐसा यह भगवान आत्मा है तथा कषायें इससे भिन्न रसवाली (कषायली, वेस्वाद) हैं। उनके साथ एकपने का विकल्प अज्ञान से होता है।"

भगवान आत्मा स्वभाव से आनन्दरसकन्द है, उसकी प्रतीति एवं ज्ञान होने पर शक्तिरूप से विद्यमान आनन्द का अंश पर्याय में प्रगट होता है और आनन्द का अनुभव होता है। उस धर्मी को आत्मा के आनन्द का तथा राग के क्लेश का – दोनों का अनुभव एकसाथ पृथक्-पृथक् है। आत्मा का चैतन्यरस राग के रस से विलक्षण है – ऐसा वह जानता है। धर्मी को राग के स्वाद को एवं स्वयं के आनन्द के स्वाद को भिन्न करने की – भेदज्ञान की भेदक शक्ति प्रगट हो गई है, जबकि अज्ञानी राग के स्वाद को एवं अपने आनन्द के स्वाद को एकमेक मानता है। भले ही ग्यारह अंग व नौ पूर्व की क्षयोपशमलब्धि प्रगट हो गई हो, किन्तु जब तक राग एवं आत्मा का स्वाद एकमेक भासित हो तब तक वह मिथ्यादृष्टि ही है।

जहाँ से ज्ञान प्रगट होता है, वहीं से आनन्द का स्वाद आता है। सम्यग्दृष्टि के एकसमय में एकसाथ आंशिकरूप से सब गुणों की निर्मल

पर्यायें प्रगट होती हैं अर्थात् श्रद्धागुण के साथ सब गुणों की पर्यायों में आंशिक निर्मलता आ जाती है ।

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी कहा है कि 'सर्वगुणांश ते समकित' तथा मोक्षमार्गप्रकाशक के अन्त में प्रकाशित 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में भी कहा है कि 'चौथे गुणस्थानवर्ती आत्मा के ज्ञानादिगुण एकदेश प्रगट हुए हैं ।' संख्या अपेक्षा आत्मा के अनंत गुण हैं, उन सब गुणों की आंशिक शुद्ध पर्याय प्रगट होती है । सर्वगुणों के शुद्ध अंशों का प्रगट वेदन में आना ही सम्यग्दर्शन है ।

पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी का यह अंश भी देखिये – 'तथा भाई श्री आपने तीन दृष्टान्त लिखे, किन्तु दृष्टान्त सर्वथा घटित नहीं होता; दृष्टान्त हमेशा एकदेश लागू पड़ता है – एक प्रयोजन दर्शाता है । यहाँ द्वितीया का चन्द्रमा, जल का विन्दु और अग्निकरण ये तीनों दृष्टान्त एकदेश (आंशिक) हैं तथा पूर्णिमा का चन्द्रमा, महासागर तथा अग्नि-कुण्ड – ये सर्वदेश हैं । इसीप्रकार चौथे गुणस्थानवर्ती जीव के ज्ञानादि गुण एकदेश प्रगट हुए हैं तथा तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव के ज्ञानादि गुण सर्वदेशरूप प्रगट हुए हैं उन दोनों की एक ही जाति है (ऐसा समझना) ।

ऐसा नहीं है कि थोड़ा प्रदेश सर्वथा निर्मल हो जाय, वल्कि सर्व-प्रदेशों में एक अंश निर्मल होता है । चौथे गुणस्थान में ज्ञानादिगुण एकदेश प्रगट होते हैं तथा तेरहवें गुणस्थान में सर्वदेशरूप प्रगट हो जाते हैं । आत्मा में अनन्त गुण हैं । सम्यग्दर्शन होने पर जव उनकी प्रतीति हो जाती है, तव सभी गुणों का एक अंश पर्याय में प्रगट अनुभव में आता है; इससे वह जानता है कि 'अनादिनिधन, निरंतरस्वाद में आता हुआ, समस्त अन्य रस से विलक्षण, अत्यन्त मधुर चैतन्यरस ही जिसका रस है – ऐसा यह आत्मा है तथा कषायें इससे भिन्न रसवाली हैं; उनके साथ जो एकपने का विकल्प होता है, वह अज्ञान से होता है ।'

अनादिनिधन निरंतर स्वाद में आता हुआ चैतन्यरस समस्त अन्य रसों से विलक्षण है । ध्यान रहे, यहाँ यह पर्याय की वात है । भगवान आत्मा आनन्द का रसकन्द है, उसकी सन्मुखता करने से सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है । सम्यग्दृष्टि को भेदज्ञान की शक्ति प्रगट हो गई है, इसकारण वह राग के स्वाद को व आत्मा के स्वाद को भिन्न-भिन्न जानता है । यहाँ तो केवल स्वाद की मुख्यता से वात की है, वाकी तो

चौथे गुणस्थान में समस्त गुणों की एकसमय की पर्यायों में शुद्धता का अंश प्रगट होता है।

वस्तुस्वरूप तो ऐसा है, किन्तु बहुतों को रुचता नहीं है, जंचता नहीं है या बुद्धि में बैठता नहीं है, इसलिए उन्हें ऐसा लगता है कि यह सोनगढ़ से नया पंथ निकला है, किन्तु भाई ! यह नया पंथ नहीं है। बापू ! यह तो भगवान सर्वज्ञदेव की परम्परा से चला आया सत्य पन्थ है। कहते हैं कि चैतन्यरस अन्य रसों से विलक्षण, ऐसा अत्यन्त मधुर अमृतमय रस है। अनुभव में स्वाद की मुख्यता है।

श्री दीपचन्दजी का 'अनुभवप्रकाश' नामका ग्रन्थ है। वहाँ भी अनुभव के स्वाद की बात की है। जिसे स्वरूप का सत्यज्ञान – सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, उसको अपने चैतन्य के आनन्द का स्वाद प्रत्यक्ष भासित होता है। अहाहा···· ! ऐसा मधुर चैतन्यरस ही जिसका एकमात्र रस है, वह आत्मा है। विशेषज्ञान हो या न हो, उसके साथ आनन्द का कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु आत्मा का अनुभव होने पर आनन्द का स्वाद आता है – यह मुख्य वस्तु है।

बनारसीदासजी ने भी कहा है :–

"रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव ताको नाम।"

अरे भाई ! इस आनन्द के स्वाद के सामने इन्द्र के भोग और चक्रवर्ती का वैभव घास के जीर्ण तिनके जैसे तुच्छ भासित होते हैं। सम्यग्दृष्टि इन्द्र को इन्द्राणी के भोग सड़े हुए घास के तिनके की तरह भासित होते हैं। ज्ञानी को भी विषयों के प्रति राग उत्पन्न तो होता है, किन्तु उसमें उन्हें दु:खरूप स्वाद ही प्रतीत होता है। ज्ञानी को जो विषय-वासना का राग आता है, वह उन्हें काले नाग की तरह दु:खदायी लगता है। अज्ञानी को जिसमें सुख भासित होता है, वे विषयभोग ज्ञानी को रोग जैसे लगते हैं। भाई ! सम्यग्ज्ञान कोई अलौकिक वस्तु है, यह कहीं बाहर की पण्डिताई से प्राप्त होने की चीज नहीं है।

अहाहा....! आत्मा का तो एकमात्र मधुर स्वाद ही है और कषायों का स्वाद इससे भिन्न कषायला है – ऐसा ज्ञानी को स्पष्ट भासित होता है। शुभाशुभ राग का स्वाद आकुलतामय है। यह चैतन्यरस के स्वाद से भिन्न बेस्वाद – नीरस है। शुभभाव हो या अशुभभाव ये सब आत्मा के कषायले – कलुषित परिणाम हैं। पहले भी यह सब सुनने को तो मिला, किन्तु आजतक कभी स्वभावसन्मुख दृष्टि नहीं की। राग के साथ एकत्व

मानकर विकल्प ही किए, किन्तु यह सब तो अज्ञान है। इससे भिन्न अत्यन्त मधुर चैतन्यरस ही अपनी चीज है। उसके साथ राग के कलुषित भाव का एकत्व करना अज्ञान है – ऐसा ज्ञानी जानता है।

देखो! सर्वज्ञ परमात्मा अरहन्तदेव को ज्ञान की दशा परिपूर्ण विकसित हो गई है। एकसमय की ज्ञान की अवस्था जो केवलज्ञान-रूप है, उससे केवली तीनलोक व तीनकाल की समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एकसाथ जानते हैं – ऐसा कहना असद्भूत व्यवहारनय है, क्योंकि भगवान को जो केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह स्वयं से प्रगट हुआ, लोकालोक से नहीं हुआ; इसप्रकार भगवान को दर्शन, ज्ञान, सुख एवं वीर्यस्वरूप अनन्त-चतुष्टय प्रगट हो गया है। शक्तिरूप से तो सर्व जीव अनन्तचतुष्टयमय ही हैं, परन्तु जिसको शक्ति की परिपूर्ण व्यक्ति पर्याय में होती है, वह सर्वज्ञ है; तथा उस शक्ति का पर्याय में एकदेश व्यक्त होने का नाम सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्दृष्टि के अनन्त गुणों का निर्मल अंश पर्याय में प्रगट होता है, उसमें आनन्द का वेदन मुख्य है। सम्यग्दृष्टि की परपदार्थों में से सुखबुद्धि उड़ गई है। इन्द्र के इन्द्रासन में या चक्रवर्ती के बाह्यवैभव में सम्यग्दृष्टि की सुखबुद्धि नहीं है।

चक्रवर्ती की ९६,००० रानियाँ होती हैं, उनमें जो पटरानी होती है, उसकी एक हजार देव सेवा करते हैं। अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से उसके प्रति विषयसेवन का राग चक्रवर्ती को आता है, तो भी उन्हें वह कालकूट जहर समान भासित होता है। अहाहा....! निज चैतन्यरस के अमृतमय आनन्द के स्वाद के समक्ष ज्ञानी को राग का स्वाद जहर जैसा भासित होता है। अपने आनन्द के स्वाद के साथ राग के स्वाद के एकत्व का विकल्प अज्ञान से होता है – ऐसा ज्ञानी यथार्थ जानता है।

जैसे एक मन दूधपाक में जहर की एक कणिका भी पड़ जाय तो सारा दूधपाक जहर हो जाता है। उसमें से मीठे दूध का स्वाद नहीं आता, किन्तु जहर का ही स्वाद आता है। उसीप्रकार आत्मा आनन्द का नाथ नित्यानन्दस्वरूप चैतन्यप्रभु है। उसके आनन्द के परिणाम के साथ राग का थोड़ा जहर पड़े, तो आनन्द का उल्टा परिणमन हो जाता है, फिर उसमें से आनन्द का स्वाद नहीं आता, किन्तु राग का कषायला, कलुषित स्वाद ही आता है; परन्तु धर्मी तो ऐसा जानता है कि अत्यन्त-मधुर अमृतमय आनन्द का रस ही मेरा रस है तथा राग का कलुषित रस

मेरी वस्तु नहीं है, वह तो पुद्गल का रस है। धर्मी ज्ञान के स्वाद से राग का स्वाद भिन्न कर देता है। वह जानता है कि अपने ज्ञान के, चैतन्य के स्वाद के साथ राग के स्वाद में एकपने का विकल्प करना अज्ञान है। अहो ! यह वीतराग का मार्ग शूरवीरों का मार्ग है।

अहा....! अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के निकट जाकर स्वभाव से भेंट करने पर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। आत्मा स्वयं ऐसा परमात्मा प्रभु है। ऐसे शुद्ध चिदानन्द रस का आस्वादी धर्मी यह जानता है कि आनन्द के साथ राग का मिलाना, दोनों का एकपने का विकल्प करना अज्ञान से होता है।

अब कहते हैं कि जो शुभाशुभ राग है वह कृत्रिम, अनित्य और दुःखरूप है तथा मैं तो अकृत्रिम, त्रिकाली सत्तारूप नित्यवस्तु हूँ। अहाहा····! एक ज्ञान ही मैं हूँ, यह जो पलटती पर्याय है, वह मैं नहीं हूँ – ऐसा ज्ञानी जानता है। मैं तो अकृत्रिम त्रिकाली ध्रुव एक ज्ञायकतत्त्व हूँ। ये ज्ञान के भेद मेरी वस्तु नहीं हैं। ऐसे शुद्ध ज्ञायक परमात्मा का अन्तरंग में अनुभव ही धर्म है।

सर्वज्ञदेव अरहन्त परमात्मा का यह कथन है, इसे ही परम्परागत आचार्यदेव कहते आये हैं। भाई ! तुझे खवर नहीं है, इसलिए नया लगता है, किन्तु यह नया नहीं है। यहाँ कहते हैं कि अकृत्रिम एक ज्ञान ही मैं हूँ तथा कृत्रिम क्रोध, मान, माया, लोभ, पुण्य, पाप आदि का अनेकरूप विकल्प मैं नहीं हूँ – ऐसा धर्मी जानता है।

इसप्रकार जानता हुआ ज्ञानी 'मैं क्रोध हूँ, मान हूँ, माया हूँ, लोभ हूँ इत्यादि किंचित्मात्र विकल्प नहीं करता, इसकारण समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है। जो रागादिक विकल्प होते हैं, उनका मैं मात्र ज्ञायक हूँ, कर्त्ता नहीं हूँ, इस तरह ज्ञानी सकल कर्तृत्व को छोड़ देता है।

अब आगे निष्कर्षस्वरूप कहते हैं कि 'अतः सदा ही उदासीन अवस्थावाला होता हुआ, मात्र जानता ही रहता है और इसलिए निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन होता हुआ, अत्यन्त अकर्त्ता प्रतिभासित होता है।'

'पर का कर्त्ता अज्ञान से है' – ऐसा जो जानता है, वह राग को छोड़ देता है। राग से भिन्न निजचैतन्यस्वरूप का भान होने पर समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है। इससे सदैव उदासीन अवस्थावाला होता हुआ मात्र जानता ही रहता है।

अहाहा........! ज्ञाता-दृष्टा रहता हुआ ज्ञानी दया-दान आदि विकल्पों का कर्त्ता नहीं होता। जो अल्पकषाय है, उसे भी मात्र वह जानता ही रहता है तथा स्वरूपस्थिरता बढ़ाकर धीरे-धीरे उसका भी अभाव कर देता है। इसी का नाम सम्यग्दर्शन व धर्म है।

घर-बार, कुटुम्ब-परिवार, स्त्री-पुत्रादि सब मेरे हैं – ऐसा मानकर अज्ञानी चारों ओर से बँध गया है। अरे भाई! कोई जीव कहीं से आया और कोई कहीं से, उनका वस्तुत: एक-दूसरे के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। पत्नी का जीव आया हो तिर्यञ्च से और पति का जीव आया हो स्वर्ग से, दोनों का सहज साथ हो गया तो मानने लगा कि यह मेरी पत्नी है या यह मेरा पति है। अरे! किसी भी तरह वह तेरा नहीं है। जहाँ सब भिन्न-भिन्न हैं, वहाँ उनका तेरे साथ क्या सम्बन्ध है? जैसे – एक झाड़ (वृक्ष) पर सन्ध्या को पक्षी एकत्रित हो जाते हैं और सवेरा होते ही सब अपने-अपने मार्ग से चले जाते हैं, उसी प्रकार एक कुटुम्ब में सब एकत्रित हो गए हैं, किन्तु वास्तव में किसी का किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई कहीं से आया और कोई कहीं से तथा उम्र पूरी होने पर सब अपने-अपने जुदे-जुदे मार्ग से चले जायेंगे।

आगे कहते हैं कि पर्याय में जो राग होता है, जब यह भी तेरी चीज नहीं है तो 'मेरा पुत्र, मेरी पत्नी, मेरा पिता' यह बात कहाँ से लाया? यह शुभाशुभ राग पुण्य-पाप तत्त्व है – आस्रवतत्त्व है तथा तू भगवान ज्ञायक जीवतत्त्व है। प्रभु! इस राग के साथ भी जब तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है तो पुत्र, परिवार आदि पर के साथ तेरा सम्बन्ध कैसे हो सकता है? आचार्यदेव कहते हैं कि धर्मी जीव उदासीन रहता हुआ मात्र ज्ञायक ही है। बारहवीं गाथा में भी कहा है कि उस काल में व्यवहारनय जाना हुआ प्रयोजनवान है।

अहाहा·······! इस शास्त्र की रचना तो देखो! इसे सिद्धान्त कहते हैं। एक जगह कुछ कहे तथा दूसरी जगह कुछ और ही कहे – वह सिद्धान्त नहीं है। बारहवीं गाथा में कहा है कि सम्यग्दृष्टि को जो राग होता है, वह उस काल में मात्र जानने के लिए प्रयोजनवान है, राग – व्यवहार उस समय जाना हुआ अर्थात् जानने में आता हुआ प्रयोजनवान है, किन्तु आदरणीय नहीं है। जब तक पूर्ण वीतरागता न हो तब तक साधकदशा में व्यवहार – राग होता अवश्य है, किन्तु वह जाना हुआ प्रयोजनवान है अर्थात् मात्र ज्ञान का ज्ञेय रहता है। यहाँ पर भी यही कहा है कि ज्ञानी उस राग को मात्र जानता ही है।

पंचास्तिकाय गाथा १३६ में ऐसा कहा है कि अस्थान का तीव्र-रागज्वर छोड़ने के लिए ज्ञानी को भी शुभराग आता है। ज्ञानी को कभी-कभी अशुभराग भी आता है, किन्तु ज्ञानी मात्र उसे जानता ही है, राग मेरा है – ऐसा नहीं मानता, इसकारण निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्त्ता प्रतिभासित होता है। यहाँ पर्याय की बात है, द्रव्य तो निर्विकल्प विज्ञानघन है ही। अहाहा........! ऐसी द्रव्यदृष्टि जिसे हुई वह सम्यग्दृष्टि राग का अत्यन्त अकर्त्ता प्रतिभासित होता है।

गाथा ६७ के भावार्थ पर प्रवचन

"जो परद्रव्य के और परद्रव्य के भावों के कर्तृत्व को अज्ञान जानता है, वह स्वयं कर्त्ता क्यों बनेगा ? यदि अज्ञानी बना रहना हो तो परद्रव्य का कर्त्ता बनेगा, इसलिए ज्ञान होने के वाद परद्रव्य का कर्तृत्व नहीं रहता।"

ज्ञान होने पर ज्ञानी व्यवहार के राग का कर्त्ता नहीं होता। जब ज्ञानी व्यवहाररत्नत्रय का भी कर्त्ता नहीं होता, तो फिर इस कारखाने की व्यवस्था करनी है, उसका काम करना है – इसप्रकार पर के काम करने की तो बात ही कहाँ रह जाती है ? ज्ञानी राग का एवं परद्रव्य का कर्त्ता नहीं है।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(वसन्ततिलका)

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ।।५७।।

श्लोकार्थ :– [किल] निश्चय से [स्वयं ज्ञानं भवन् अपि] स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी [अज्ञानतः तु] अज्ञान के कारण [यः] जो जीव [सतृणाभ्यवहारकारी] घास के साथ एकमेक हुये सुन्दर भोजन को खाने-वाले हाथी आदि पशुओं की भाँति [रज्यते] राग करता है (राग का और अपना मिश्र स्वाद लेता है) [असौ] वह [दधीक्षुमधुराम्लरसाति-गृद्धया] श्रीखंड के खट्टे-मीठे स्वाद की अतिलोलुपता से [रसालम् पीत्वा] श्रीखण्ड को पीता हुआ भी [गां दुग्धम् दोग्धि इव नूनम्] स्वयं गाय का दूध पी रहा है ऐसे माननेवाले पुरुष के समान है।

भावार्थ :– जैसे हाथी को घास के और सुन्दर आहार के भिन्न स्वाद का भान नहीं होता उसीप्रकार अज्ञानी को पुद्गलकर्म का और अपने भिन्न

स्वाद का भान नहीं होता; इसलिए वह एकाकाररूप से रागादि में प्रवृत्त होता है। जैसे श्रीखण्ड का स्वादलोलुप पुरुष, श्रीखण्ड के स्वादभेद को न जानकर, श्रीखंड के स्वाद को मात्र दूध का स्वाद जानता है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव स्व-पर के मिश्र स्वाद को अपना स्वाद समझता है।

कलश ५७ पर प्रवचन

निश्चय से आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। भगवान आत्मा स्वयं तीन-लोक का ज्ञाता-दृष्टा है, वह जगत की किसी वस्तु का कर्त्ता-धर्ता नहीं है – ऐसा ही उसका स्वरूप है। अहाहा.... ! जिसप्रकार मन्दिर पर सोने का कलश चढ़ाते हैं, उसीप्रकार आचार्यदेव ने गाथा की टीका के ऊपर यह कलश चढ़ाया है। कितना स्पष्ट किया है ? वनवासी दिगम्बर मुनिवर को करुणाबुद्धि से अन्तरंग में ऐसा विकल्प आया कि अरे ! इस संसार में विचारे प्राणी निजचैतन्यस्वरूप को पहचाने विना ही जन्म-मरण करते हुए दु:खी हैं – ऐसी करुणाबुद्धि के विकल्प से यह शास्त्र बन गया।

पंचास्तिकाय ग्रन्थ की १३७वीं गाथा की टीका में अनुकम्पा के स्वरूप का कथन करते हुए वहाँ कहा है कि ज्ञानी की अनुकम्पा तो निचली भूमिका में विहरते हुए अर्थात् जब स्वयं को निजात्मा की अनुभूति न होती हो, तब जन्मार्णव में निमग्न दु:खी जगत् के अवलोकन से अर्थात् संसार-सागर में डूबते हुए जगत को देखने से मन में जो किंचित खेद होता है, वह अनुकम्पा है। ज्ञानी को वर्तमान में राग है, इसकारण हेयबुद्धि से ऐसा राग आता है। वहीं पंचास्तिकाय गाथा १३६ में यह कहा है कि यह प्रशस्तराग वास्तव में तो, जो स्थूल लक्ष्यवाला होने से केवल भक्ति प्रधान अज्ञानी को होता है; ऊपर की भूमिका में (ऊपर के गुणस्थानों में) स्थिति प्राप्त न की हो, तब अस्थान का राग निषेध करने के लिए अथवा तीव्ररागज्वर निषेध के लिए कदाचित् ज्ञानियों को भी होता है। प्रशस्तराग कभी-कभी ज्ञानी के भी होता है अर्थात् परिणमन की अपेक्षा से राग है, किन्तु ज्ञानी को राग में उपादेय बुद्धि नहीं होती, इस-कारण वे राग के कर्त्ता नहीं होते।

अज्ञानी को भक्ति, अनुकम्पा आदि राग में उपादेयबुद्धि – कर्त्तव्यबुद्धि होती है; इसकारण वह प्राणियों को दु:खी – पीड़ित देखकर 'मैं इनको इसतरह सुखी कर सकता हूँ, इसतरह मरते हुओं को जीवनदान दे सकता हूँ' आदि अनेक प्रकार के विकल्प करता है और ऐसे विकल्प करता हुआ वह उन विकल्पों का कर्त्ता होता है। मैंने जो पर की दया की – यह काम

ठीक किया, इससे मुझे धर्म हुआ – इसप्रकार अज्ञानी को पर में कर्त्तावुद्धि और राग में धर्मबुद्धि होती है; इसकारण वह उनका कर्त्ता होता है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप होते हुए, अज्ञान के कारण जो जीव घास के साथ मिश्रित सुन्दर आहार को खाता हुआ, हाथी आदि पशुओं की तरह राग करता है; राग का एवं स्वयं का मिश्रित स्वाद लेता है, वह दही-मिश्री के मिले हुए अर्थात् श्रीखण्ड के खट्टे-मीठे मिश्रित रस की अतिलोलुपता से श्रीखण्ड को पीता हुआ 'मैं अपने गाय के दूध को पीता हूँ' – ऐसे पुरुष की भाँति है।

घास और लाडूचूरमा को मिलाकर हाथी को खिलाया जाय तो वह हाथी दोनों के मिश्रित स्वाद को एक मानकर ही खा जाता है। दोनों के स्वाद में भेद है, अन्तर है – ऐसा विवेक हाथी को नहीं होता तथा कोई रस का लोलुपी अत्यन्त लोलुपता के कारण श्रीखण्ड पीता हुआ भी 'मैं गाय का दूध पीता हूँ' – ऐसा मानने लगता है।

समयसार नाटक में दृष्टान्त दिया है कि जिसे शराव का नशा चढ़ा हो – ऐसा शरावी श्रीखण्ड पीते हुए भी नशा के कारण श्रीखण्ड का स्वाद नहीं परख सकता, अतः 'मैं दूध पी रहा हूँ' – ऐसा कहता है।

इसीप्रकार जो मोहरूपी शराब के नशे में हो, उस अज्ञानी को राग का कलुषित स्वाद व अपना आनन्दरूप स्वाद का भिन्न-भिन्न भान नहीं है, इसकारण राग का व अपने आनन्द का मिश्रितस्वाद लेता है। राग के स्वाद को ही वह अपना स्वाद मानता है।

कलश ५७ के भावार्थ पर प्रवचन

अज्ञानी को अपने और पुद्गलकर्म के भिन्न स्वाद का भान नहीं है। यहाँ पुद्गलकर्म का अर्थ राग होता है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का राग वस्तुतः पुद्गल ही है। उसका स्वाद व स्वयं का स्वाद भिन्न है – ऐसा अज्ञानी को भान नहीं है। राग के स्वाद को तथा आत्मा के स्वाद को अज्ञानी भिन्न-भिन्न नहीं पहचान सकता।

अरे ! इस मनुष्यभव में थोड़ी सी आयु पूर्ण करके जीव चौरासी के अवतार में कहाँ चला जायेगा ? त्रस की स्थिति तो मात्र दो हजार सागर की है। दो-इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक भवधारण करने की स्थिति कुल दो हजार सागर की है। अरे भाई ! यदि भेदज्ञान प्रगट नहीं किया तो वह स्थिति पूरी होने पर जीव निगोद में जायगा। निगोदवास में अनन्तकाल तक अपार दुःखों को भोगना पड़ेगा।

हे भाई ! जरा विचार कर ! अहा….! ऐसी वीतराग की वाणी इस काल में दुर्लभ है। जिस वीतराग की वाणी को सुनने को जातिगत वैर-भाव भूलकर सिंह-वाघ-बकरा-हाथी-बिल्ली-चूहा आदि प्राणी अति विनयभाव से भगवान के समोशरण में दौड़े-दौड़े आते हैं और पास-पास में बैठकर खूब जिज्ञासा से सुनते हैं, वह वाणी महामंगलरूप है। जिसका भाग्य हो उसी के कान में पड़ती है।

आचार्य यहाँ कहते हैं कि राग का स्वाद व स्वयं का स्वाद – दोनों भिन्न हैं। अज्ञानी को ऐसे स्वादभेद का भान नहीं है, इसकारण वह शुभाशुभभाव के कलुषित स्वाद को अपना स्वाद मानता है; इससे वह राग में एकाकाररूप प्रवर्तता है। राग से भिन्न स्वयं ज्ञातापने राग का ज्ञायक ही है – ऐसा अज्ञानी नहीं जानता, इससे वह रागादिभाव में एकाकार हो जाता है।

ज्ञानी को भक्ति आदि का राग आता है, किन्तु ज्ञानी उसमें एकाकार नहीं होते। जिसे ज्ञान व राग के स्वाद-भेद का विवेक प्रगट हो गया है, वह ज्ञानी स्वावलम्बन से धर्म को साधता है।

कहा है न कि :–

"धर्म बाड़ी न नीपजे, धर्म हाटे न बेचाय।
धर्म विवेक नीपजे, जो करिये ते थाय ॥"

अर्थात् धर्म किसी पन्थ में उत्पन्न नहीं होता, बाजार में भी नहीं बिकता, धर्म तो विवेक से उत्पन्न होता है, जो विवेक करेंगे, उन्हें धर्म की प्राप्ति होगी।

यहाँ विवेक का अर्थ 'भेदज्ञान' होता है। पर की दया पालने को यहाँ विवेक नहीं कहा, किन्तु भगवान आत्मा शुभराग के विकल्प से भिन्न ज्ञायक चैतन्यमय प्रभु है – ऐसा भेदज्ञान करना विवेक है। शरीर की चाहे जैसी अवस्था हो, बर्फ की तरह खून जम जावे, स्वांस रुंध जावे, चाहे देह ही क्यों न छूट जावे – ऐसी अवस्था में भी ज्ञानी रागादि भाव के साथ एकाकार नहीं होते, यह विवेक भेदज्ञान है।

भगवान आत्मा आनन्दरस से भरा, चैतन्यरस से भरा प्रभु है, उसे दृष्टि में लेने पर अन्दर से आनन्द का झरना झरता है। अपनी निजवस्तु तो ऐसी है, किन्तु अज्ञानी को इसप्रकार की श्रद्धा नहीं है; इसकारण वह स्व-पर के मिश्रित स्वाद को अपना स्वाद मानता है।

अज्ञान से ही जीव कर्त्ता होता है, इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(शार्दूलविक्रीड़ित)

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावंति पातुं मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवंति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवंत्याकुलाः ।। ५८ ।।

श्लोकार्थ :– [**अज्ञानात्**] अज्ञान के कारण [**मृगतृष्णिकां जलधिया**] मृगमरीचिका में जल की बुद्धि होने से [**मृगाः पातुं धावन्ति**] हिरण उसे पीने को दौड़ते हैं, [**अज्ञानात्**] अज्ञान के कारण ही [**तमसि रज्जौ भुजगाध्यासेन**] अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी में सर्प का अध्यास होने से [**जनाः द्रवन्ति**] लोग (भय से) भागते हैं, [**च**] और (इसीप्रकार) [**अज्ञानात्**] अज्ञान के कारण [**अमी**] ये जीव [**वातोत्तरङ्गाब्धिवत्**] पवन से तरंगित समुद्र की भांति [**विकल्पचक्रकरणात्**] विकल्पों के समूह को करने से [**शुद्धज्ञानमयाः अपि**] यद्यपि वे स्वयं शुद्धज्ञानमय हैं तथापि [**आकुलाः**] आकुलित होते हुए [**स्वयम्**] अपने आप ही [**कर्त्रीभवन्ति**] कर्त्ता होते हैं ।

भावार्थः– अज्ञान से क्या क्या नहीं होता, हिरण बालू की चमक को जल समझकर पीने दौड़ते हैं और इसप्रकार वे खेद खिन्न होते हैं । अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी को सर्प जानकर लोग उससे डरकर भागते हैं । इसीप्रकार यह आत्मा, पवन से क्षुब्ध हुये तरंगित समुद्र की भाँति, अज्ञान के कारण अनेक विकल्प करता हुआ क्षुब्ध होता है और इसप्रकार – यद्यपि परमार्थ से वह शुद्धज्ञानघन है तथापि अज्ञान से कर्त्ता होता है ।

कलश ५८ पर प्रवचन

जिसप्रकार अज्ञान से मृगजल को जल समझने से हिरण उसे पीने के लिए दौड़ता है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव स्त्री, मकान, पैसा आदि में सुख है – ऐसा समझकर भ्रम से इन पर वस्तुओं से सुखप्राप्ति की आशा से दौड़-धूप करता है ।

रेगिस्तान की जमीन पर सूर्य की किरणों पड़ने से बालू (रेत) चमकती है, वह जल जैसी लगती है, उसे देखकर हिरण को भ्रम हो जाता है कि यह जल ही है; अतः वह दौड़ता-दौड़ता जल की आशा से वहाँ

जाता है और जाकर देखता है तो वहाँ कुछ भी नहीं है। जल वहाँ था ही कहाँ जो मिलता ? वस इसीतरह अज्ञानी विषयों में सुख ढूंढ़ता है, किन्तु जब विषयों में सुख है ही नहीं तो मिलें कहाँ से ? फिर भी अज्ञानी पैसा कमाने के लिए कुटुम्ब को छोड़कर परदेश जाता है, वहाँ अकेला रहता है। इसप्रकार जो अतिलोभातुर होकर पैसा कमाने के लिए बाहर दौड़-दौड़कर जाते हैं; वे सब हिरण की तरह हैं।

नीतिकार ने कहा भी है – 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति' जो स्वय भूलकर पर में सुखबुद्धि करते हैं, वे लोग मनुष्य के देह में मृग की तरह भटकते हैं, वे वस्तुतः हिरण की तरह ही हैं।

सुख के लिए बाहर परदेश में जाते हैं, किन्तु भाई ! सुख बाहर में कहीं नहीं है। कस्तूरी-मृग की नाभि में कस्तूरी होती है। हवा के झकोरों से उस कस्तूरी की सुगन्ध वन में चारों ओर फैलती है, तो वह कस्तूरीमृग ऐसा मानता है कि यह सुगन्ध कहीं बाहर से आ रही है और वह उसे पाने के लिए वन-वन भटकता है। उसे यह खबर नहीं है कि यह सुगंध का सागर तो उसकी ही नाभि है। उसकी नाभि में ही कस्तूरी है और उसी में से सुगंध आती है; किन्तु उसे इसका ज्ञान न होने से सारे जंगल में भाग-दौड़ कर-करके थककर गिर जाता है और महाकष्ट पाता है।

इसीप्रकार आत्मा के अन्तरस्वभाव में सुख भरा है। अज्ञानी को इसकी खबर नहीं है, इसकारण बाह्य अनुकूल सामग्री में से सुख प्राप्त करने के लिए मृगतृष्णा की भाँति उनका संग्रह करता है, किन्तु सुख तो वहाँ है ही कहाँ जो मिले, मात्र जन्म-मरण के दुःख को ही प्राप्त होता है। वह ऐसा मानता है कि पर में सुख है। अपने सच्चिदानन्दस्वरूप को छोड़कर मृगजल समान राग में सुखबुद्धि करता है। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दरस एवं राग के दुःखरूपरस का भेद न जानता हुआ, अनादि से राग के रस का अतिकलुषित स्वाद ले रहा है।

अज्ञान के कारण जैसे अन्धकार में पड़ी जली हुई रस्सी को सर्प समझकर भ्रम से लोग भाग जाते हैं। देखो, है तो रस्सी ही, किन्तु अंधकार में रस्सी का सही ज्ञान न होने से 'यह सर्प है' – ऐसे भ्रम के कारण सर्प के भय से दूर भाग जाते हैं; उसीप्रकार आत्मा परमानन्दमय परमसुख-स्वरूप पदार्थ है, जरा शान्त होकर स्वसन्मुख हो तो अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त हों। परन्तु अनादि से विपयसुख का लोभी अज्ञानी जीव उनके नाश के भय से, उन्हें न छोड़ता हुआ अपने आत्मा से दूर भागता है।

तथा पवन से तरंगित समुद्र की भांति अज्ञान के कारण यह जीव विकल्पसमूहों का कर्त्ता होने से शुद्धज्ञानमय होने पर भी आकुलित होता हुआ, स्वयं कर्त्ता बनता है।

यहां यह बताना है कि विकल्पों का जो कर्त्तापना है, वह अज्ञान से है। लोगों को ऐसा लगता है कि व्यवहार के बिना कोई रास्ता नहीं, व्यवहार से ही निश्चय होता है; किन्तु भाई! व्यवहार तो राग है, दुःख है, उस दुःख से आत्मा के आनन्द का अनुभव कैसे हो सकता है? शास्त्र में जो व्यवहार से कहा है, वह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कहा है। यदि ऐसा न माने तो पूर्वापर विरोध हो जायेगा।

आत्मा आनन्दरस से भरी वस्तु है, उसका अनुभव करना मोक्षमार्ग है। समयसार नाटक में कहा है :–

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोख कौ, अनुभव मोखसरूप॥

वहाँ यह नहीं कहा कि व्यवहार का राग मोक्षमार्ग है। व्यवहार होता है, आता है; किन्तु इससे आत्मा के आनन्द का अनुभव नहीं होता। 'व्यवहार से आत्मा के आनन्द का अनुभव होता है' – ऐसा मानना अज्ञान है, विपरीत मान्यता है। जीव को व्यवहार के पक्ष की अनादि से टेव पड़ी है। अरे! आत्मा को आनन्द – अनुभव की दशा प्रगट करने में व्यवहार की अपेक्षा नहीं है। जिसको ऐसा श्रद्धान नहीं है, वे व्यवहार को छोड़कर आत्मानुभव कैसे प्रगट कर सकेंगे?

पवन से तरंगित समुद्र की भाँति अज्ञान के कारण यह अज्ञानी जीव विकल्पसमूहों को करता है। जीव अज्ञान से शुभाशुभराग के विकल्पों का कर्त्ता है। बस, यहाँ यही बताने का प्रयोजन है। यद्यपि आत्मा शुद्धज्ञानमय है, तथापि आकुलित होता हुआ, अपनी भूल के कारण विकल्पों का कर्त्ता बनता है।

समयसार कलशटीका में इस कलश के अर्थ में ऐसा कहा है कि "सब संसारी मिथ्यादृष्टि जीव सहज से शुद्धस्वरूप हैं, तथापि मिथ्यादृष्टि से आकुलित होते हुए बलजोरी से ही कर्त्ता होते हैं।" राग, दया, दान, भक्ति आदि के जो विकल्प हैं, वे अन्दर वस्तु में नहीं हैं; परन्तु अपनी मान्यता के जोर से राग उत्पन्न करते हैं। आत्मवस्तु तो शुद्ध ज्ञानघन, आनन्दघन, निर्विकारी प्रभु है, वह राग का कर्त्ता कैसे हो सकती है? जैसे – समुद्र में तरंग उठती है, उसीतरह जीव अनेक विकल्प करता है; वह

अज्ञान की बलजोरी है। अज्ञान के बल से जीव विकाररूप से परिणमता है, लेकिन ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा तो स्वभाव से शुद्ध, ज्ञान का पिण्ड, ज्ञायक स्वभावी चैतन्यप्रभु है। वह कर्त्ता कैसे हो सकता है? 'मैंने दया पाली, व्रत किया, भक्ति की, पूजा की, मन्दिर बनवाया तथा प्रतिष्ठा कराई' – इसप्रकार के रागरूप विकल्पों का अज्ञानी मिथ्याश्रद्धान के जोर से कर्त्ता होता है।

आत्मा का स्वरूप तो सहज शुद्धज्ञानमय है, वह जानने का काम करे या राग का या पर का काम करे। सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं कि – मैं जो सर्वज्ञ हुआ सो मेरे स्वभाव में सर्वज्ञपना था, उसमें एकाग्र होने से (पर्याय में) सर्वज्ञ हुआ हूँ; राग व व्यवहार से सर्वज्ञ नहीं हुआ हूँ।

लोगों को बाहर से ऐसा लगता है कि यह एकान्त है, निश्चयाभास है, परन्तु ऐसी बात नहीं है साधक को यथापदवी (भूमिकानुसार) निश्चय के साथ व्यवहार होता है, किन्तु वह धर्म नहीं है – ऐसा ज्ञानीसाधक स्वयं जानते हैं। धर्मी को रात्रि-भोजन का त्याग होता है। नामधारी जैन को भी रात्रि-भोजनादि नहीं होते, क्योंकि रात्रि-भोजन करने में तीव्र लोलुपता से भावहिंसा व त्रसहिंसा का महादोष लगता है। आम का अचार इत्यादि जिसमें त्रसजीवों की उत्पत्ति हो जाती है – ऐसा आहार भी नामधारी जैन को नहीं होना चाहिए; किन्तु ये सब व्यवहार के विकल्प हैं; अतः ये धर्म नहीं है।

आचार्य यहाँ तो यह कह रहे हैं कि – जो अज्ञानी अपने शुद्ध आनन्द के रस को भूलकर विकल्प के रस में निमग्न है, उसे आकुलता के स्वाद का ही वेदन होता है। भाई! बहुत सूक्ष्म बात है।

प्रत्येक प्राणी सुख तो चाहता है, किन्तु सुख के कारणों को नहीं चाहता; तथा दुःख नहीं चाहता और दुःख के कारणों को छोड़ना नहीं चाहता। आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा सुख से भरा हुआ है, वहाँ तो दृष्टि नहीं करता तथा दुःख ही जिसका स्वरूप है, ऐसे व्यवहार के राग में सुख-बुद्धि करता है; परन्तु भाई! राग से अर्थात् दुःख से आत्मा के आनन्द की प्राप्ति कैसे हो सकती है? आत्मा का निर्मल आनन्द उसके अनुभव से ही प्राप्त होता है। कहा भी है :–

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजैं, अनुभव याकौ नाम।।

जिसको शुद्ध चिदानन्दघनस्वरूप आत्मवस्तु का निजचैतन्य प्रभु का विचार करने पर ध्यान की धुन चढ़ जाती है तथा अन्दर विश्राम लेने पर

विकल्प रुक जाते हैं, मिट जाते हैं; उसको आनंदरस के स्वाद से सुख उत्पन्न होता है, इसीका नाम अनुभव है और इसीसे सुख होता है।

अरे भाई! क्या तुझे सत्य की शरण लेना कठिन लगता है? 'शुभभाव से कल्याण होता है' – ऐसा मानकर तो अनन्तकाल गमा दिया है। एकवार स्वभाव के पक्ष में आकर सत्य की प्रतीति तो कर!

आत्मा शुद्धज्ञानमय वस्तु होते हुए भी उसका भान नहीं होने से, अज्ञानी विकल्पों के समूहचक्र में फँसा है। 'मैंने व्रत किया, तप किया, दया पाली, भक्ति की' – इसप्रकार विकल्पों के चक्र में चढ़ गया है, इस-कारण वह राग का कर्त्ता होता है।

जीवन का वहुत-सा काल तो स्त्री, कुटुम्व, परिवार, धंधा-पानी आदि पाप में ही निकाल रहा है, शेप सात-आठ घंटा सोने में (नींद में) चला जाता है – इसप्रकार पर में सुखबुद्धि करके अज्ञानी रागादि का कर्त्ता होता है। घड़ियों का कारखाना, कपड़े का कारखाना आदि वड़े-वड़े उद्योग व्यापार करता हो, वहाँ अज्ञानी प्रसन्न होता है। अरे भाई! इन सब अशुभभावों में तो तीव्र आकुलता है। वहाँ सुख कैसा? आत्मा का स्वभाव तो तीनकाल तीनलोक को जानने-देखने का है। भले ही वर्तमान में श्रुतज्ञान हो, परन्तु आत्मा राग व रजकणों से भिन्न सवका ज्ञातादृष्टा है। अहाहा....! आत्मा पवित्र ज्ञानमय प्रभु चैतन्यप्रकाशस्वरूप त्रिकाल आनन्दस्वरूप है, तथापि अज्ञान से आकुलित होकर अज्ञानी अपनी ही भूल से कर्त्ता बनता है।

कलश ५८ के भावार्थ पर प्रवचन

अज्ञान से क्या-क्या नहीं होता? सब अनर्थ अज्ञान से ही होते हैं। देखो! सिंहनी का वच्चा सिंहनी से नहीं डरता। उसके पास जाकर वह उछलकूद करता है, क्योंकि वह सिंहशावक जानता है कि यह मेरी माँ है; किन्तु वहीं सिंहनी का वच्चा कुत्ते से डरता है, क्योंकि उसे निजशक्ति का भान नहीं है। इसीतरह पवन से आन्दोलित समुद्र की तरह आत्मा अज्ञान से अनेक विकल्प करता हुआ क्षुब्ध होता है, घवरा जाता है। प्लेग का रोग हो जावे, तो बिचारा भय से घवरा जाता है कि अव दो-तीन दिन में मर जाऊंगा। अरेरे! अनादि-अनन्त अपने स्वरूप के भान विना जीव ने ऐसे-ऐसे अनन्त दुःख सहन किये, किन्तु समस्त भयों का अभाव करनेवाले अपने ज्ञायक स्वभाव का भान नहीं किया। 'मैं ज्ञानमय आत्मतत्त्व हूँ' ऐसा अनुभव नहीं किया। अरे! सारा जगत् ऐसे मोह-माया के जाल में फँस

रहा है। ये जगत मायामय नहीं है, जगत तो जगतमय ही है किन्तु 'जगत मुझमें नहीं है और मैं जगत में नहीं हूँ' – ऐसा भेदज्ञान नहीं होने से परद्रव्य मेरा है – ऐसी मान्यता से जगत के मोहपाश में बँध गया है। भाई! वेदान्त सर्वथा अद्वैत ब्रह्म मानता है, परन्तु वैसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। सब मिलकर एक आत्मा है – यह मान्यता ठीक नहीं है।

भगवान आत्मा परमार्थ से विज्ञानघन है। जैसे दस मन बर्फ की शीतल शिला होती है, वैसे ही आत्मा आनन्द की शिला है। बर्फ की शिला तो वजनदार है, किन्तु आत्मशिला तो भारहीन अरूपी चैतन्य बिम्ब है। अहाहा....! अन्तर में देखो तो आत्मा रागरहित वस्तु मात्र ज्ञान व आनन्द का अरूपी बिम्ब है, तथापि अज्ञान से जीव अनेक विकल्पों से क्षुब्ध होता हुआ कर्त्ता होता है। जीव अनादि से कर्त्ता होकर दुःखी होता है। सम्यग्ज्ञान हो तो कर्त्तापना मिटता है और ज्ञातारूप रहता है।

अब यह कहते हैं कि ज्ञान से आत्मा कर्त्ता नहीं होता :—

(वसन्ततिलका)

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम्।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किंचनापि ॥५९॥

श्लोकार्थ :– [**हंसःवाःपयसोः इव**] जैसे हंस दूध और पानी के विशेष (अन्तर) को जानता है, उसीप्रकार [**यः**] जो जीव [**ज्ञानात्**] ज्ञान के कारण [**विवेचकतया**] विवेकवाला (भेदज्ञानवाला) होने से [**परात्मनोः तु**] पर के और अपने [**विशेषम्**] विशेष को [**जानाति**] जानता है [**सः**] वह (जैसे हंस मिश्रित हुये दूध और पानी को अलग करके दूध को ग्रहण करता है, उसीप्रकार) [**अचलं चैतन्यधातुम्**] अचल चैतन्य-धातु में [**सदा**] सदा [**अधिरूढः**] आरूढ़ होता हुआ (उसका आश्रय लेता हुआ) [**जानीत एव हि**] मात्र जानता ही है, [**किञ्चन अपि न करोति**] किंचित् मात्र भी कर्त्ता नहीं होता (अर्थात् ज्ञाता ही रहता है, कर्त्ता नहीं होता)।

भावार्थ :– जो स्व-पर के भेद को जानता है, वह ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं।

कलश ५६ पर प्रवचन

जिसप्रकार हंस दूध व पानी के अन्तर को जानता है, उसीप्रकार आत्मा दूध के समान अपने ज्ञान स्वभाव व जल के समान राग – इन

दोनों को भिन्न कर देता है । देखो, हंस की चोंच में खटास होती है, इससे दूध में चोंच डालते ही दूध व पानी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं । हंस उसे ही कहते हैं जो दूध-पानी को भिन्न-भिन्न कर दे, शेष तो सब कौए जैसे हैं । प्रभु ! तेरी महानता की तुझे खबर नहीं है ।

आत्मा अरूपी है तथा अरूपी होते हुए भी वस्तु है । जैसे रूपी वस्तु है, वैसे ही अरूपी भी वस्तु है । अरूपी का अर्थ ऐसा नहीं समझना कि वह कोई वस्तु ही नहीं है । अरूपी अर्थात् रूपी नहीं, फिर भी वस्तु तो है । अहाहा····! अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति इत्यादि अनन्त-अनन्त गुणों का त्रिकाली पिण्ड प्रभु आत्मा है । आत्मा अरूपी महान पदार्थ है ।

हंस की तरह जो जीव ज्ञान के कारण विवेकवाला होने से पर के व अपने विशेष को जानता है, वह अचल चैतन्य धातु में सदा आरूढ़ हुआ, मात्र जानता ही है, किन्तु कर्त्ता नहीं है ।

धर्मात्मा अपने ज्ञानस्वरूप को व रागरूप पर को भिन्न-भिन्न जानता है । ऐसे भेदज्ञान सहित होने से दूध व पानी को भिन्न कर देनेवाले हंस की तरह ज्ञान व राग को भिन्न कर देता है, राग व आत्मा को एकमेक नहीं करता । जो राग का कर्त्ता होता है, वह ज्ञाता नहीं रह सकता और जो ज्ञाता होता है, वह कर्त्ता नहीं होता – ऐसी ही वस्तुस्थिति है ।

समयसार नाटक में भी आता है :–

करै करम सोई करतारा; जो जानै सौ जानन हारा ।
जो करता नहि जानै सौई; जानै सो करता नहि होई ॥

मन, वाणी, शरीर आदि बाह्य की क्रियाएँ तो जड़ की होने से जीव की है ही नहीं; किन्तु आत्मा के अन्दर जो शुभराग होता है, ज्ञानी उसका भी कर्त्ता नहीं है । जो राग – विकार और अपना अविकारी शुद्ध ज्ञानघन आनन्दघन स्वभाव है, ज्ञानी अपने ज्ञान से इन दोनों के विशेषों को जानता है । मैं तो चिदानन्द स्वभावी वस्तु हूँ और राग आकुलता स्वभाववाला है – ऐसा दोनों का भेद ज्ञानी जानता है, इसीका नाम भेदज्ञान है । ऐसे भेदज्ञान के बल से अचल निज चैतन्यस्वरूप का आश्रय करता हुआ, वह मात्र ज्ञाता ही रहता है, इसीका नाम धर्म है ।

आत्मा अचल चैतन्यधातु है । जो चैतन्य को धारण करता है, वह चैतन्यधातु है । इसमें अचेतन राग नहीं है । ऐसी शुद्ध चैतन्यमय वस्तु में आरूढ़ होने पर अर्थात उसका आश्रय करने पर आत्मा राग से भिन्न

होकर मात्र ज्ञाता ही रहता है। देखो *यह भेदज्ञान को प्राप्त सम्यग्दर्शन* का स्वरूप ! निज चैतन्यधातु का आश्रय करता हुआ ज्ञानी, किंचित्‌मात्र भी कर्त्ता नहीं होता; ज्ञाता ही रहता है। ज्ञानी राग के सूक्ष्म अंश का भी कर्त्ता नहीं है। जिसभाव से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है, ऐसी षोडश-कारण भावना के राग का कर्त्ता भी ज्ञानी नहीं है, वह तो उन्हें मात्र भिन्नरूप से जानता है।

कलश ५९ के भावार्थ पर प्रवचन

'जो स्व-पर का भेद जानते हैं, वे ज्ञानी स्व-पर के ज्ञाता ही हैं, कर्त्ता नहीं हैं।' लोग पूछते हैं – तो अब हमें क्या करना ? उनसे कहते हैं कि यह भेदज्ञान प्रगट करना, मात्र यही एक काम करने जैसा है। भेदज्ञान के बिना केवल राग की मन्दता से मोक्षमार्ग का कुछ भी लाभ नहीं है। राग की मन्दता तो अनादि से करता आया है। इसमें नया क्या है ? अरे भाई ! पहले श्रद्धा में पक्ष कर कि – 'ज्ञानमय भगवान आत्मा और रागमय विकार सर्वथा भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं।' उन दोनों को एक *मानना मिथ्यात्व व अज्ञान है। राग से भिन्न जहाँ ज्ञानस्वरूप भगवान* आत्मा का भान हुआ, वहाँ ज्ञानी राग को जानता ही है, उसका कर्त्ता नहीं होता।

एक वणिक था। उसकी पहली पत्नी का देहान्त हो गया, तो उसने दूसरा ब्याह किया। पहली पत्नी से उसके एक लड़का था, लड़के की शादी हो चुकी थी, लड़के की नई माँ लड़के की पत्नी का शॉल ओढ़कर कमरे में सो रही थी। लड़के को पता नहीं था कि ये कौन सो रहा है। लड़के की पत्नी के प्रति राग उमड़ा तो, उसने अन्दर कमरे में जाकर सोई माँ को पत्नी समझकर माँ का हाथ पकड़ लिया। तब माँ जाग गई और बोली – 'बेटा, बहू नहाने गई है।' लड़के को ज्ञान हुआ कि अहा ! यह तो माँ है, पत्नी नहीं है – ऐसा ज्ञान होते ही तुरन्त वृत्ति बदल गई, तत्क्षण विषय का राग नष्ट हो गया।

उसीप्रकार आत्मा राग से भिन्न प्रभु आनन्द का नाथ है। अन्तर में एकाग्र होने पर ज्यों ही ऐसा ज्ञान हुआ कि तुरन्त भेदज्ञान प्रगट होता है तथा तत्काल राग की वृत्ति छूट जाती है और वह राग का कर्त्ता मिटकर ज्ञाता हो जाता है। भेदज्ञान की ऐसी अलौकिक महिमा है।

भाई ! यह जन्म-मरण से छूटने की बात है। ८४ लाख योनियों में जन्म-मरण करके तूने असह्य वेदना सहन की है। तूने अनन्त भवों में

अनन्त माताओं को रुलाया है। तेरे मरण के वियोग में उन माताओं ने रुदन कर-कर के जो आँसू बहाए, उन्हें यदि इकट्ठा करें तो अनन्त समुद्र भर जायें। ऐसे भव के अभाव की यह बात बतलाई गई है। कहते हैं कि शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी अपनी निजवस्तु को छोड़कर संयोगीभाव से राग में एकता स्थापित करना व्यभिचार है, क्योंकि राग तेरी स्वभावभूत वस्तु नहीं है। प्रभु ! राग के कर्त्तापने से परिणमना तुझे शोभा नहीं देता। देखो, ज्ञानी तो अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की दृष्टि द्वारा रागादि का मात्र ज्ञायक ही रहता है, कर्त्ता नहीं होता।

अरे ! अज्ञानी मकड़ी की तरह राग के जाल में फँस गया है। मनुष्य के दो पग हैं, जब उसकी शादी हो जाती है तो पत्नी सहित चार पगवाला हो जाता है, अर्थात् ढोर हो जाता है। उसके बाद लड़का होता है तो चार से छह पगवाला हो जाता है अर्थात् भौंरा हो जाता है। अज्ञानी भौंरे की तरह जहाँ-तहाँ गूँजता है कि यह मेरी स्त्री है, यह मेरा लड़का है। बाद में लड़का बड़ा होता है तो उसकी शादी करके घर में बहू लाता है तो आठ पगवाला हो जाता है, अर्थात् मकड़ा-मकड़ी हो जाता है। मकड़ी की तरह यह अज्ञानी भी मोह-राग-द्वेष के जाल बनाकर उसमें स्वयं फँसता जाता है। जब लड़का-बहू पैर छूते हैं, पग लगते हैं तो अज्ञानी गद-गद हो जाता है। उसे यह खबर नहीं है कि यह दुःख का ही जाल रचा है। अरे भाई ! संसार में सुख कैसा ? संसार में, राग में तू दुःखी ही है।

जब कन्या को ससुराल भेजते हैं, तब वह रोती है, माता-पिता भी रोते हैं। अन्दर में सभी को कन्या के ससुराल जाने का हर्ष भी होता है। उसी प्रकार ज्ञानी को राग आता है, किन्तु उसको राग का आदर नहीं है, उसे तो अपने स्वरूप में ठहरने का उल्लास अधिक है। भूमिकानुसार स्वरूप में ठहर नहीं सकता, अतः राग भी आता है; परन्तु वह उस राग का कर्त्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है; क्योंकि उसकी दृष्टि चैतन्यस्वभाव पर लग गई है। ज्ञानी के जितना राग का परिणमन है, उस परिणमन की अपेक्षा कर्त्तापना है, किन्तु परमार्थ से वह ज्ञाता ही है; क्योंकि वह राग को अपना कर्तव्य नहीं मानता, यह करने योग्य है – ऐसा नहीं मानता। ज्ञानी स्व-पर का भेद जानता है, इसलिए वह राग का कर्त्ता नहीं है, ज्ञाता ही है।

समयसार नाटक में कहा है :–

स्व-परप्रकाशक सकति हमारी, तातें वचन भेद भ्रम भारी।
ज्ञेय दशा दुविधा परगासी, निजरूपा पररूपा भासी ।।

अहा ! निजरूप स्व-ज्ञेय तथा रागादि पर-ज्ञेय हैं। ज्ञान पर को व राग को जानता है – ऐसा कहना वस्तुतः व्यवहार है; वास्तव में तो उसकाल ज्ञान स्वयं ही स्वयं को जानता है। जो स्व-पर के भेद को जानता है; वह ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं है।

अब यह कहते हैं कि जो कुछ ज्ञात होता है, वह ज्ञान से ही होता है :–

(मन्दाक्रान्ता)

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिंदती कर्तृभावम् ।।६०।।

श्लोकार्थ :– [**ज्वलन-पयसोः औष्ण्य-शैत्य-व्यवस्था**] (गर्म पानी में) अग्नि की उष्णता का और पानी की शीतलता का भेद [**ज्ञानात् एव**] ज्ञान से ही प्रगट होता है। [**लवणस्वादभेदव्युदासः ज्ञानात् एव उल्लसति**] नमक के स्वादभेद का निरसन (निराकरण, अस्वीकार, उपेक्षा) ज्ञान से ही होता है (*ज्ञान से ही व्यंजनगत नमक का सामान्य स्वाद उभर आता है और उसका स्वाद विशेष निरस्त होता है।*) [**स्वरसविकसन्नित्य चैतन्यधातोः च क्रोधादेः भिदा**] निजरस से विकसित होती हुई नित्य चैतन्यधातु का और क्रोधादिभाव का भेद [**कर्तृभावम् भिदन्ती**] कर्तृत्व को (कर्त्तापने के भाव को) भेदता हुआ, [**ज्ञानात् एव प्रभवति**] ज्ञान से ही प्रगट होता है।

कलश ६० पर प्रवचन

अग्नि की उष्णता और पानी की शीतलता का भेद ज्ञान से ही प्रगट होता है। इसका अर्थ कलशटीका में इसप्रकार आता है कि जिसप्रकार अग्नि व पानी की उष्णता व शीतलता का भेद निजस्वरूपग्राही ज्ञान से ही प्रगट होता है, उसीप्रकार चैतन्यधातु एवं क्रोधादिभावों का भेद भी निजस्वरूपग्राही ज्ञान से ही प्रगट होता है।

भावार्थ इसप्रकार है कि जिसप्रकार अग्नि के संयोग से पानी गरम किया जाता है; तथा 'गरम पानी' – ऐसा कहा भी जाता है; तथापि स्वभाव

का विचार करने पर ऐसा भेदज्ञान उत्पन्न होता है कि उष्णपना अग्नि का ही है, पानी तो स्वभाव से शीतल ही है ।

दूसरा उदाहरण इस प्रकार है कि जिस प्रकार नमक के संयोग से शाक (सब्जी)को भी खारा कहा जाता है, पर स्वभाव की दृष्टि से विचार करने पर खारा तो नमक ही है, शाक तो जैसा है वैसा ही है ।

इसीप्रकार मात्र शुद्धस्वरूप वस्तु का अनुभव करने पर आत्मा तो चेतनास्वरूप से ही प्रकाशमान है, अविनश्वर है तथा रागादि का परिणमन अशुद्ध चेतनारूप है – इसप्रकार दोनों की भिन्नता भासित होती है ।

भावार्थ यह है कि वर्तमान में जीवद्रव्य अनादि से रागादि अशुद्ध चेतनारूप से परिणमा है, इसकारण ऐसा प्रतिभासित होता है कि ज्ञान क्रोधरूप परिणमा है । इससे ज्ञान भिन्न व क्रोध भिन्न – ऐसा अनुभवना बहुत कठिन पड़ता है, किन्तु वस्तु के शुद्धस्वरूप का विचार करने पर भिन्नपने का अनुभव होता है – स्वाद आता है तथा 'कर्म का कर्त्ता जीव है' –ऐसी भ्रान्ति मूल से ही नष्ट हो जाती है ।

पर का वास्तविक ज्ञान उसी को प्रगट होता है, जिसको सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ है । श्रीखण्ड में जो खटास है, वह दही की है और मिठास शक्कर की है, इसप्रकार दोनों की भिन्नता का यथार्थ ज्ञान उसे होता है, जिसको स्व के आश्रय से सम्यग्ज्ञान हुआ है ।

'लवण के स्वादभेद का निरसन (निराकरण) ज्ञान से ही होता है । (अर्थात् ज्ञान से ही शाक वगैरह में मिले हुए नमक का सामान्य स्वाद आता है और उसका विशेष स्वाद निरस्त हो जाता है ।)

लवण व शाक – दोनों के स्वाद के भेद की भिन्नता का ज्ञान ज्ञानी को होता है । अज्ञानी को स्व के ज्ञान का परिणमन नहीं है, तो पर को प्रकाशित करता हुआ परप्रकाशक ज्ञान यथार्थ कैसे होगा ? शाक खारा है – ऐसा कहा जाता है, तथापि उसी समय लवण के स्वाद से शाक का स्वाद सर्वथा भिन्न है – ऐसा ज्ञान ज्ञान से ही प्रगट होता है ।

यहाँ प्रश्न है कि ऐसा ज्ञान किसको होता है ? उत्तर में कहते हैं कि जिसको अपने ज्ञान का ज्ञान प्रगट हुआ है, उसको शाक व नमक के भिन्न स्वाद का ज्ञान प्रगट होता है । इसी दृष्टान्त में सिद्धान्त है ।

'निजरस से विकसित नित्य चैतन्यधातु का तथा क्रोधादिभावों का भेद कर्तृत्व को (कर्त्तापने के भाव को) भेदता हुआ, तोड़ता हुआ, ज्ञानसे ही प्रगट होता है ।'

आत्मा नित्य चैतन्य धातु है, वह पर्याय में विकसित होता है । जिस-प्रकार कमल का फूल खिलता है, उसीप्रकार आत्मा नित्य चैतन्यधातु निजरस से पर्याय में खिल जाता है । उससमय व्यवहार-रत्नत्रय का जो राग होता है, उसे ज्ञान (पर ज्ञेयपने) जानता है। निजरस से विकसित हुई पर्याय से राग को जानता है । राग है, इसलिए राग को जानता है–ऐसा नहीं कहा; बल्कि यह कहा कि निजरस से विकसित हुई अपनी स्व-परप्रकाशक ज्ञान की पर्याय से रागादि भावों को जानता है। अहाहा........! गजब बात है ! इसी बात को इस ग्रन्थ की बारहवीं गाथा में दूसरे प्रकार से कहा है कि – व्यवहार उसकाल में जाना हुआ प्रयोजनवान है । अपने त्रिकाली भूतार्थ भगवान के आश्रय से जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह ज्ञान निजरस से प्रगट हुआ है । वह ज्ञानपर्याय स्वयं से विकसित हुई है ।

प्रभु ! तेरा स्वभाव ऐसा है कि वह निजरस से विकसित होता है । नित्य चैतन्यधातु का पर्याय में परिणमन होने पर क्रोधादिभावों के कर्तृत्व को तोड़ता हुआ ज्ञान प्रगट होता है । व्यवहार का राग आता है, उसको ज्ञान पर ज्ञेयरूप से जानता है तथा उससे उसके कर्तृत्व को भेदता है, नाश करता है । राग के कर्तृत्व को उड़ा देता है तथा निजरस से प्रगट हुए स्व-परप्रकाशक ज्ञान का कर्त्ता होता है ।

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यधातु है । उसकी स्व-परप्रकाशक पर्याय निज रस से निज शक्ति से प्रगट हुई है । वह ज्ञान की पर्याय क्रोधादिभाव अर्थात् विकारीभाव के कर्तृत्व को छेदती हुई, अपनी स्व-पर-प्रकाशक शक्ति से क्रोधादिभावों को जानती है । अज्ञानी निजरस से प्रगट हुई ज्ञान की पर्याय को अपनी नहीं मानता हुआ राग पर्याय को अपनी मानता है, इससे उसे उसका कर्तृत्व हो जाता है । राग को भिन्न जानने-वाला ज्ञानी राग के कर्तृत्व को छेदकर राग का ज्ञाता ही रहता है ।

व्यवहार का राग क्रोध है । वह स्वरूप में नहीं है तथा स्वभाव से विरुद्ध है, इसलिये उसे क्रोध कहते हैं । क्रोध अर्थात् राग को भिन्न जानता हुआ ज्ञान कर्तृत्व को छेदता हुआ प्रगट होता है । ज्ञान पर को जानता है, किन्तु वह न पर से हुआ है और न पर के कारण हुआ है । अहाहा.... ! उससमय की स्व-परप्रकाशक शक्ति के विकास से ज्ञान हुआ है और वह स्व को जानता हुआ पर को, राग को जानता है ।

भगवन् ! तेरे स्वभाव का बल, सामर्थ्य, अचिन्त्य है, बेहद है । तूनें अज्ञान से पामरता, हीनपना मान रखा है । ज्ञान व राग भिन्न हैं – ऐसा जानता हुआ आत्मा कर्तृत्व को छोड़ देता है । ग्यारहवीं गाथा में कहा है कि

अपनी त्रिकालीवस्तु अस्तिरूप है। उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है – ये निश्चय है; तथा पर्याय में जो राग व अल्पशुद्धता है, उसे जानना व्यवहार है। बारहवीं गाथा में कहा है कि उस-उस काल व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है; अर्थात् उससमय का उसप्रकार का ज्ञान ही स्व-पर प्रकाशकरूप से परिणमा है, इसकारण वह ज्ञान पर को जानता है – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

बापू ! यह तो धैर्य का काम है। 'लड़का मेरा है' – यह बात तो है ही नहीं, किन्तु लड़के का जो ज्ञान होता है, वह भी लड़के के अस्तित्व के कारण नहीं होता, बल्कि ज्ञान में स्व-परप्रकाशक शक्ति है, उसके सहज विकास से होता है, परज्ञेय के कारण नहीं होता। अहा ! तेरी शक्ति की सामर्थ्य ही ऐसी है कि उससमय में स्व-परप्रकाशक ज्ञान सहज प्रगट होता है। राग व ज्ञान, पर्याय में एक ही समय में होते हैं, आगे-पीछे नहीं। दोनों का क्षेत्र भी एक है; इसलिए राग आया, उससे ज्ञान हुआ – ऐसा कहाँ रहा ? बापू ! ये मार्ग ही जुदा है। राग के काल में राग को जानता है तथा उसी-काल में स्व को जानता है – ऐसी शक्ति निजरस से अर्थात् अपने स्वभाव से सहज प्रगट हुई है।

प्रश्न :– तो क्या निमित्त है ही नहीं ?

उत्तर :– बापू ! निमित्त है – इससे कौन इन्कार करता है। यहाँ तो यह बात है कि ज्ञान राग को जानता है, इसमें राग निमित्तरूप में है, इसलिए ज्ञान राग को जानता हो – ऐसा नहीं है। निमित्त है, किन्तु निमित्त से ज्ञान नहीं होता।

भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु ज्ञान का सागर अन्दर अपनी शक्ति में झूम रहा है, इसका जो ज्ञान स्वयं से हुआ, वह ज्ञान क्रोधादि को जानता हुआ उसके कर्तृत्व को भेदता हुआ, सहज प्रगट हुआ है। 'राग मेरी वस्तु नहीं है' – ऐसा राग को भिन्नपने जानने से राग का कर्तृत्व छूट जाता है। भाई ! बात बहुत सूक्ष्म है।

प्रश्न :– क्या राग तत्त्व के कारण ज्ञान तत्त्व है ?

उत्तर :– नहीं, राग को ज्ञान जानता है – ऐसा कहते ही राग की एकता टूट गई अर्थात् राग का कर्तृव्य छूट गया। सम्यग्दृष्टि राग व ज्ञान को भिन्न-भिन्न जानता है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान की पर्याय में अपना व राग-द्वेष का ज्ञान स्वयं से ही स्वत: प्रकाशित होता है।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव गाथा ३७२ में कहते हैं कि सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। निमित्त होता है, किन्तु निमित्त से किसी अन्य द्रव्य की पर्याय नहीं होती। जिसतरह मिट्टी के स्वभाव से घड़े की पर्याय उत्पन्न होती है, कुम्हार के स्वभाव से नहीं होती।

परमात्मा यहाँ यह कहते हैं कि ज्योंही अपना स्वभाव दृष्टि में आया कि ज्ञान की स्व-परप्रकाशक शक्ति प्रगट हुई। ज्ञानी को कोई क्रोध-रूप परिणाम हो गया तो उसका ज्ञान भी हुआ, किन्तु क्रोध का ज्ञान क्रोध के कारण नहीं हुआ। भाई! ज्ञान स्वयं से होता है, उसमें क्रोधादि राग परिणाम निमित्त होते हैं, किन्तु निमित्त से ज्ञान नहीं होता। राग राग में है तथा ज्ञान ज्ञान में है।

यदि 'राग से ज्ञान होता है' – ऐसा मानोगे तो ज्ञान की सामर्थ्य का नाश हो जायगा। यदि कुम्भकार से घड़ा बनना मान लिया जाय तो मिट्टी में जो घड़ा बनने की सामर्थ्य है, उसका नाश हो जायेगा। अहा.... ! एक भवावतारी इन्द्र तथा इसी भव से मोक्ष जानेवाले गणधरदेव जो वाणी सुनते हैं, वह वाणी कैसी होती होगी? बापू! सत् के सिद्धान्त को प्रसिद्ध करनेवाली भगवान की वाणी अति विलक्षण पारलौकिक होती है।

केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं – ऐसा जो कहा जाता है, वह असद्भूतव्यवहारनय का कथन है। लोकालोक है, इसकारण भगवान को लोकालोक का ज्ञान हुआ है – ऐसा नहीं है।

प्रश्न: – तो क्या केवली पर को नहीं जानते?

उत्तर – निश्चय से पर को नहीं जानते। यदि निश्चय से पर को जाने तो पर के साथ तन्मय हो जाय। जिसप्रकार अपने आत्मा को तन्मयपने जानते हैं, वैसे परद्रव्य को तन्मयपने से नहीं जानते; भिन्नस्वरूप जानते हैं, इसकारण व्यवहार से जानते हैं – ऐसा कहा है। जानते ही नहीं, इसकारण व्यवहारनय कहा हो – ऐसा नहीं है। पर में तन्मय होकर नहीं जानते, इसकारण व्यवहारनय कहा है।

अहाहा! सन्तों ने सत् की प्रसिद्धि का अनोखा – अलौकिक ढिंढोरा पीटा है। प्रभु! एक बार तू बाहर की बातें भूल जा तथा तेरा जो ज्ञानस्वभाव है, उसका आश्रय कर। उसके आश्रय से जो पर्याय प्रगट होगी, वही आत्मदर्शन व आत्मज्ञान है; शेष सब व्यवहार है। ज्ञान व्यवहार को जानता है, किन्तु वह अपनी ज्ञान पर्याय की ताकत से जानता है। उससमय की ज्ञान की पर्याय उसीप्रकार के उत्पादनरूप

से स्वयं से उत्पन्न होती है । द्रव्य के लक्ष्य से जो ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय उत्पन्न होती है, वह स्वयं से होती है ।

अहो ! स्वरूपग्राही ज्ञान कहकर राजमलजी ने भी कमाल का काम किया है । गृहस्थाश्रम में रहकर ऐसा अद्‌भुत काम किया है । अहा ! आत्मा में कहाँ गृहस्थाश्रम है ? इस समयसार कलश टीका के आधार से ही पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार बनाया है ।

पण्डित बनारसीदासजी के बारे में कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि उन्होंने अध्यात्म की भांग खा ली थी । अरे प्रभु ! ऐसा कहना तुझे शोभा नहीं देता । ऐसे विराधना के भावों के फल में तुझे दुःख सहना असह्य हो जायेगा । भाई ! स्वतन्त्र सुख का रास्ता छोड़कर परतन्त्रता के रास्ते में जाने पर तुझे वर्तमान में भी दुःख होगा और भविष्य में तो दुःख का पार नहीं रहेगा अर्थात् तू इस विराधना के फल में अनन्त निगोद के दुःखों में जायेगा ।

भगवान आत्मा अबद्धस्पृष्ट है । उस अबद्ध आत्मा के आश्रय से जो वीतरागी पर्याय प्रगट होती है, वही वस्तुतः जैनशासन है । जिसने इसे जान लिया, उसे ही समस्त जैनशासन का ज्ञान हुआ कहा जाता है, क्योंकि बारह अंग में जो सारतत्त्व कहा गया है, वह उसने जान लिया है । भले ही उसे बारह अंग का अभ्यास न हो, तथापि अपने अबद्धस्पृष्टस्वभावी आत्मा की दृष्टि होने से जो आत्मानुभूति प्रगट हो गई, वही वस्तुतः जैनशासन है । ऐसी जैनशासन की पर्याय चौथे गुणस्थान में प्रगट होती है । उससमय ज्ञान की स्व-परप्रकाशक जो पर्याय प्रगट हुई, वह स्वयं को व राग को यथावत् जानती है ।

भाई ! जैसा समझाया, वैसा ही समझना । तीनलोक के नाथ सर्वज्ञ परमात्मा का फरमान है । दिव्यध्वनि में भगवान ने सत् को सत्पने प्रसिद्ध किया है । "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" अहा ! ज्ञान ध्रुवसत् व ज्ञान की जो पर्याय हुई, वह उत्पादसत् है । वह पर्याय सत् से प्रगट हुई है वह स्वयं से हुई है । व्यवहार के राग के कारण प्रगट हुई हो — ऐसी बात नहीं है । अहा ! यह बात सौभाग्य से ही सुनने को मिलती है । यह बात जैनदर्शन के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है, यह तो सत् का डंका बजानेवाली वाणी है । अहा ! आत्मा सत्, उसका स्वभाव सत् तथा निजरस से विकसित हुई उसकी ज्ञान पर्याय सत् । तीनों ही सत् स्वतः सिद्ध हैं, पर के कारण नहीं । अहा ! चैतन्य की जो पर्याय स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई,

वह ज्ञानपर्याय चैतन्यधातु एवं क्रोधादि को भिन्न जानती है। तथा इसी कारण क्रोधादि के कर्तृत्व को छोड़ती हुई वह ज्ञाताभाव से परिणमन करती है। अहो! यह तो वीतराग के मंत्र हैं, इसमें पण्डिताई काम नहीं आती। इसको समझने के लिए अंतरंग रुचि की जरूरत है।

एक ओर शुद्ध चैतन्यधातु तथा दूसरी ओर क्रोधादि राग के परिणाम, ज्ञान दोनों के भेद को जानता है। इससे ज्ञान राग का कर्तृत्व छोड़ता हुआ ज्ञातारूप से परिणमित होता है। 'व्यवहार-रत्नत्रय का राग मेरा व मैं उस राग का कर्त्ता' – ऐसी कर्तृत्वबुद्धि छूट जाती है। ज्ञानी व्यवहार के राग का मात्र ज्ञाता रहता है। यह भी अपेक्षाकृत ही बात है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान व राग का भेद, स्वरूपग्राही ज्ञान – भेदज्ञान से ही प्रगट होता है।

अब, अज्ञानी भी अपने ही भाव को करता है, किन्तु पुद्गल के भाव को कभी नहीं करता – इस अर्थका आगे की गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं:–

(अनुष्टुभ्)

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित्॥६१॥

श्लोकार्थः–[एवं] इस प्रकार [अंजसा] वास्तव में [आत्मानम्] अपनेको [अज्ञानं ज्ञानम् अपि] अज्ञानरूप या ज्ञानरूप [कुर्वन्] करता हुआ [आत्मा आत्मभावस्य कर्ता स्यात्] आत्मा अपने ही भाव का कर्त्ता है, [परभावस्य] परभाव का (पुद्गल के भावों का) कर्त्ता तो [क्वचित् न] कदापि नहीं है।

कलश ६१ पर प्रवचन

यह कलश आगामी गाथा की सूचनिकारूप कलश है। इसमें आचार्यदेव यह कहते हैं कि अज्ञानी भी अपने ही भाव को करता है, पुद्गल के भावों को नहीं करता।

इसप्रकार वास्तव में अपने को अज्ञानरूप या ज्ञानरूप करता हुआ, आत्मा अपने ही भाव का कर्त्ता है, परभाव का कर्त्ता तो कदापि नहीं है।

बहुत से लोग ऐसा मानते हैं कि पर की रक्षा करना, दया पालना धर्म है तथा निमित्त व उपादान दोनों के मिलने से कार्य होता है; किन्तु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य निमित्त से नहीं, बल्कि उपादान से ही होता है। प्राणी जो उससमय स्वयं अपनी योग्यता से

जीवित रहता है, उसकी वह योग्यता उपादान है तथा उससमय दूसरों के द्वारा उसे जीवित रखने का भाव निमित्त है।

परवस्तु या परभाव निमित्त होता अवश्य है, किन्तु निमित्त से कार्य नहीं होता। यदि निमित्त से कार्य हो तो निमित्त व उपादान दोनों एक हो जायेंगे। अतः निमित्त पर के कार्य का कर्त्ता नहीं होता। निमित्त को अनुकूल कहा है। जहाँ पानी का प्रवाह स्वतः वहता है, वहाँ किनारों को अनुकूल (कूल) कहते हैं; किन्तु कूल यानि किनारों के कारण पानी का प्रवाह नहीं चलता। पानी का प्रवाह बहता है, वह उपादान है एवं किनारा अनुकूल निमित्त या तटस्थ है। भाई ! तेरे सत् की बलिहारी है। तू कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? यह बात यहाँ बताई जा रही है। कहते हैं कि 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और जो राग होता है, उसे मात्र जानता ही हूँ।' ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय अपनी ताकत से स्व-पर को जानती है। मैं अपनी स्वयं प्रगट हुई ज्ञानपर्याय से राग को जानता ही हूँ। आचार्य यहाँ कहते हैं कि आत्मा या तो ज्ञान करे अथवा अज्ञान करे, किन्तु परभाव का कर्त्ता तो कदापि नहीं है। राग का कर्त्ता बने तो वह भी स्वयं से और राग का ज्ञाता रहे तो वह भी स्वयं से ही है। इसके सिवाय अज्ञानी आत्मा भी किसी परवस्तु का कर्त्ता तो कभी भी नहीं होता। भाई ! इस शरीर, मन, वाणी, कर्म व नोकर्म का तथा देश व समाज की सेवा के कार्यो का कर्त्ता आत्मा कदापि नहीं है। आत्मा स्वयं के ज्ञान व अज्ञानरूप भावों का कर्त्ता होता है, किन्तु परभावों का कर्त्ता वह कदापि नहीं होता। यहाँ अज्ञान को, विकारी भावों को अपना भाव कहा है, क्योंकि वे अपनी ही पर्यायें हैं। तथा 'परभाव' शब्द का अर्थ यहाँ विकारीभाव नहीं, किन्तु जड़ – पुद्गल तथा परद्रव्य के भाव किया है। पुद्गल के व परद्रव्य के भावों का कर्त्ता आत्मा कदापि नहीं है। वाणी बोलते हैं, शरीर का हलन-चलन होता है, मन्दिर आदि का निर्माण होता है अथवा कर्मबन्ध की पर्याय होती है; इन सर्व परद्रव्यों के भावों का कर्त्ता आत्मा त्रिकाल में भी नहीं होता।

प्रश्न :– आत्मा स्वभाव से पर का कुछ नहीं करता, किन्तु विभाव-भाव से तो परद्रव्य का कुछ कार्य करता है न, या विभावभाव से भी नहीं करता ?

उत्तर :– आत्मा स्वयं को ज्ञानरूप करे या अज्ञानरूप करे, वह अपने उन ज्ञानरूप या अज्ञानरूप भावों का कर्त्ता होता है, परन्तु वह परद्रव्य

के भावों का कर्त्ता कदापि नहीं होता । आत्मा अज्ञान से विभाव भावों को करता है, परन्तु उन विभावों से वह परद्रव्य के भावों को तीनकाल में भी नहीं कर सकता – ऐसी ही वस्तुस्थिति है ।

कार्य होने में उपादान व निमित्त दो कारण होते हैं – ऐसा जो कहा है, वह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कहा है । वास्तविक कारण तो एक उपादान ही है; निमित्त वास्तविक कारण नहीं है, इसलिए आत्मा कभी भी पर का कर्त्ता नहीं होता – ऐसा जानना । ६२वें कलश में भी इसी बात को दृढ़ किया है ।

इसी बात को दृढ़ करते हुए कहते हैं कि :–

(अनुष्टुभ्)

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ।। ६२ ।।

श्लोकार्थ :– [**आत्मा ज्ञानं**] आत्मा ज्ञानस्वरूप है, [**स्वयं ज्ञान**] स्वयं ज्ञान ही है; [**ज्ञानात् अन्यत् किम करोति**] वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे ? [**आत्मा परभावस्य कर्ता**] आत्मा परभाव का कर्त्ता है [**अयं**] ऐसा मानना, (तथा कहना) सो [**व्यवहारिणाम् मोहः**] व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है ।

कलश ६२ पर प्रवचन

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञान के सिवा कुछ अन्य नहीं करता । वह ज्ञान के सिवा अन्य करे भी क्या ?

आत्मा ज्ञानमूर्ति, चैतन्यघन, आनन्दरस का कंद, ज्ञानस्वरूप प्रभु है । यह स्वभाव कहा तथा अभेद से कहा कि वह स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञान के सिवा अन्य क्या करे ? क्या वह अचेतन पुद्गल का कार्य करता है ? नहीं, कदापि नहीं, वह पुद्गल का कार्य नहीं करता । शरीर की क्रिया, भाषा बोलने की क्रिया एवं पुद्गल कर्मबन्ध की क्रिया आत्मा नहीं करता । आत्मा पर का कार्य करने में पंगु है, असमर्थ है ।

ये वकील लोग कोर्ट में लच्छेदार भाषा में बहस करते हैं न ? क्या इस भाषा के वे कर्त्ता नहीं हैं ?

नहीं हैं, यदि वकील भाषा के कर्त्ता बनेंगे, तो उन्हें अजीव-पुद्गल बनना पड़ेगा ।

यहाँ इस कलश में तीन वाक्य आये हैं :–

(१) आत्मा ज्ञान स्वरूप है, (२) स्वयं ज्ञान ही है तथा
(३) वह ज्ञान के सिवा अन्य क्या करे ?

गजब बात है ! ये रुपया कमाई करके इकट्ठा करना, उन्हें बाहर के कामों में उपयोग करना – इत्यादि क्रियाओं का कर्त्ता आत्मा नहीं है। रुपयों का आना-जाना क्षेत्र से क्षेत्रान्तररूप होना तो स्वयं जड़ का कार्य है। उसका कर्त्ता आत्मा नहीं है। यद्यपि लोक में तो ऐसा ही कहा जाता है, किन्तु आचार्य कहते हैं कि आत्मा परभावों का कर्त्ता है – यह व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है। आत्मा को परभाव का – शरीर, मन, वाणी, कर्म, नोकर्म की क्रिया का, पैसे लेने-देने इत्यादि क्रियाओं का कर्त्ता मानना व कहना व्यवहारी जीवों की मूढ़ता ही है।

तथा कोई-कोई यहाँ तक कहते हैं कि जो आत्मा को पर का कर्त्ता नहीं मानते. वे दिगम्बर ही नहीं हैं। जो ऐसी बातें करते हैं, पता नहीं उन्हें क्या हो गया है ? यहाँ तो आचार्य ऐसा कहते हैं कि जो आत्मा को परभावों का कर्त्ता माने, वे सच्चे दिगम्बर नहीं हैं। जो पर का – जड़ के कार्य का कर्त्ता स्वयं को मानते हैं, वे मूढ़ व मोही हैं। आत्मा बोलता है या आत्मा खाता है, पीता है – इत्यादि जड़ की क्रियाएं आत्मा करता है – ऐसा मानना अज्ञान है, मूढ़ता है।

अहाहा........! आत्मा पर का कर्त्तापना छोड़कर अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप रत्नत्रय का आराधन करके निर्वाण को प्राप्त करते हैं। आत्मा का ध्यान करके परमात्मपद को प्राप्त करते हैं; व्यवहार-रत्नत्रय का आराधन करके मोक्ष पाते हैं – ऐसा नहीं कहा। जो मोक्षपद को प्राप्त होते हैं, वे अन्तरस्वरूप के ध्यान से प्राप्त होते हैं, व्यवहार-रत्नत्रय मोक्ष का कारण नहीं है।

अहाहा........! समोशरण में तीर्थंकर केवली भगवान विराजमान हों और दिव्यध्वनि खिरती हो, तो उसे सुनकर मुनिराज एकदम अन्तरस्वरूप में मग्न हो जाते हैं। जैसे बिजली का बटन दबाते ही बिजली के तार में सरसराहट करता हुआ बिजली का करेन्ट बल्ब में आ जाता है, उसीप्रकार भगवान की दिव्यध्वनि सुनते ही मुनिराज अपने उग्र पुरुषार्थ से अन्तरस्वरूप में मग्न हो जाते हैं। परणति आनन्द के नाथ भगवान आत्मा के तल में पहुँचकर स्वभाव को पकड़ लेती है। मुनिराज स्वरूप का उग्र ध्यान करके केवलज्ञान उत्पन्न कर लेते हैं और तत्पश्चात् मोक्षदशा को प्राप्त करते हैं। अहा ! भगवान तो अभी अरहन्त दशा में ही हैं और मुनिराज ने सिद्धपद

पा लिया। स्वरूप के ध्यान की ऐसी अचिन्त्य महिमा है। इसके विना केवल व्यवहार-रत्नत्रय का राग करोड़ों वर्षो तक करता रहे, तो भी कुछ नहीं होता।

छहढाला में कहा भी है :-

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माँहि, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते॥

पंचास्तिकाय गाथा १४६ की टीका में दूसरी गाथा का उद्धरण देकर आचार्य अमृतचन्द्र ने ऐसा कहा है कि इस समय भी त्रिरत्नशुद्ध जीव आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपना तथा लौकान्तिक देवपना प्राप्त करते हैं। वहाँ से चलकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

प्रभु! शास्त्रों का पार नहीं है। शास्त्र तो अगाध सागर हैं और हम अल्पमति हैं, अर्थात् हमें इतना अधिक ज्ञान नहीं है, हमारी बुद्धि मन्द है। अहा…! अमृतचन्द्र जैसे मुनिराज, जिन्होंने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय जैसे शास्त्रों की अजोड़, अद्भुत टीकायें लिखीं, उन जैसे महान दिगम्बर सन्त ऐसा कहते हैं कि हम तो मंदबुद्धि हैं। अहा…! कहाँ केवलज्ञान, कहाँ बारह अंग का ज्ञान और कहाँ हमारा अल्पज्ञान? ऐसा विचारकर वे कहते हैं कि 'शास्त्रों का पार नहीं है, काल थोड़ा है, बुद्धि मंद है; इसलिए मात्र वही सीखने योग्य है, जिससे जरा-मरण का क्षय हो जावे।

किसी ने पूछा कि महाराज! क्या करने योग्य है? उससे कहते हैं कि भाई! तू पर का कार्य तो कर नहीं सकता तथा पुण्य-पाप के भाव जो अज्ञान हैं, दुखमय हैं, वे करने योग्य नहीं हैं; अतः वही एकमात्र सीखने योग्य है, जो जरा-मरण का क्षय कर दे।

अहाहा…! तीन लोक का नाथ चैतन्यघन प्रभु, तेरे अन्तर में विराजमान है। उसका श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र प्रगट करना ही मोक्ष का अर्थात् जन्म-मरण के क्षय का उपाय है, इसलिए कहते हैं कि व्यवहार व परनिमित्त की बात को एक तरफ रख दें, छोड़ दें तथा इस मनुष्यभव में ध्रुवधाम भगवान आत्मा को ध्येय बनाकर उसका ध्यान करके धन्य हो जा। श्रुत का तो पार नहीं है। अरे! भगवान की कही हुई बात बारह अंग में भी पूरी नहीं आती। ऐसा श्रुत तो अगाध समुद्र है; और अपने में बुद्धि मन्द है, इसलिए जिससे जन्म-मरण का अभाव हो जावे, बस वही

(भेदज्ञान की कला), उतना ही (प्रयोजन भूत तत्वज्ञान) सीखने योग्य है। उसके सिवाय दूसरी कोई बात सीखने योग्य नहीं है।

अज्ञानी पुण्य-पाप के भाव करता है, परन्तु पर का तो वह भी कुछ नहीं कर सकता। पर का कार्य करे, तो पर में तन्मय हो जायेगा। अपनी सत्ता छोड़कर पर में तन्मय हो जाय, तो अपना स्वयं का नाश होने का प्रसंग प्राप्त होगा; परन्तु ऐसा नही होता, इसलिए आत्मा पर का कर्त्ता नहीं है। यह कमाना-धमाना, व्यापार-धन्धा करना एवं उद्योग करना आत्मा के कार्य नहीं हैं और जो इन्हें आत्मा के कार्य माने, वह भूल में है।

अमृतचन्द्राचार्य ऐसा कहते हैं कि बाह्य क्षयोपशम ज्ञान का विकल्प छोड़ो, उस पर से दृष्टि उठाओ! हमारा तो बस एक यही काम है, यही प्रयोजन है कि हमारा जन्म-मरण का नाश हो जावे, इसलिए हे भाई! ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, जो अन्दर में विराजमान है, उस एक पर ही तू अपनी दृष्टि जमा दे। यही एकमात्र कर्त्तव्य है, यही एक सीखने योग्य है।

√ये बड़े-बड़े वकीलों के धन्धे, डाक्टरों के धन्धे, व्यापार-उद्योग या कारखाने, ये सब त्यागने योग्य हैं। 'ये सब मैं करता हूँ' —यह मान्यता अनन्त संसार में डुबोनेवाली मूढ़ता है

ज्ञानभाव ज्ञानी करै···

ग्यान-भाव ग्यानी करै, अग्यानी अग्यान।
दर्वकर्म पुद्‌गल करै, यह निहचै परवान॥ १७॥

ग्यान सरूपी आतमा, करै ज्ञान नहिं और।
दरव करम चेतन करै, यह विवहारी दौर॥ १८॥

पुदगल परिनामी दरव, सदा परिनवै सोइ।
यातैं पुदगल करमकौ, पुदगल करता होई॥ २०।

जीव चेतना संजुगत, सदा पूरण सब ठौर।
तातैं चेतन भाव कौ, करता जीव न और॥ २१।

— कविवर बनारसीदास : नाटक समयसार, कर्त्ता-कर्म-क्रिया द्वार

तथाहि –

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥९८॥

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्याणि ।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥ ९८ ॥

व्यवहारिणां हि यतो यथायमात्मात्मविकल्पव्यापाराभ्यां घटादि-परद्रव्यात्मकं बहिःकर्म कुर्वन् प्रतिभाति ततस्तथा क्रोधादिपरद्रव्यात्मकं च समस्तमंतःकर्मापि करोत्यविशेषादित्यस्ति व्यामोहः ।

अब कहते है कि व्यवहारीजन ऐसा कहते हैं :–

घट-पट-रथादिक वस्तुएें, कर्मादि अरु सब इन्द्रियें ।
नोकर्म विधविध जगत में, आत्मा करे व्यवहार से ॥ ९८ ॥

गाथार्थ :– [व्यवहारेण तु] व्यवहार से अर्थात् व्यवहारी जन मानते हैं कि [इह] जगत में [आत्मा] आत्मा [घटपटरथान् द्रव्याणि] घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओं को [च] और [करणानि] इन्द्रियों को, [विविधानि] अनेक प्रकार के [कर्माणि] क्रोधादि द्रव्यकर्मों को [च नोकर्माणि] और शरीरादिक नोकर्मों को [करोति] करता है ।

टीका :– जिससे अपने (इच्छारूप) विकल्प और (हस्तादि की क्रियारूप) व्यापार के द्वारा यह आत्मा घट आदि परद्रव्यस्वरूप बाह्यकर्म को करता हुआ (व्यवहारीजनों को) प्रतिभासित होता है, इसलिये उसी-प्रकार (आत्मा) क्रोधादि परद्रव्यस्वरूप समस्त अन्तरंग कर्म को भी (उपरोक्त) दोनों कर्म परद्रव्यस्वरूप हैं; इसलिये उनमें अन्तर न होने से करता है, – ऐसा व्यवहारी जनों का व्यामोह (भ्रांति, अज्ञान) है।

भावार्थ :– घट-पट, कर्म-नोकर्म इत्यादि परद्रव्यों को आत्मा करता है – ऐसा मानना, सो व्यवहारी जनों का व्यवहार या अज्ञान है ।

गाथा ९८ की गाथा एवं टीका पर प्रवचन

आत्मा हस्तादि की क्रिया कर सकता है, यह वात सच नहीं है। यहाँ तो अज्ञानी की क्या मान्यता है – यह वात समझाई गई है। "मैं अपने विकल्प व हस्तादि के क्रियारूप व्यापार से घट आदि परद्रव्यस्वरूप कर्म को स्वयं करता हूँ, मैं वस्त्र वना सकता हूँ, घड़ा वना सकता हूँ" – ऐसा व्यवहारी जीव भ्रान्ति से मानता है। उसे ऐसा प्रतिभासित होता है कि आत्मा परद्रव्यस्वरूप वाह्य कर्म करता है।

प्रश्न :– व्यवहारी जीव व्यवहार से तो पर का कार्य कर सकता है न ?

उत्तर :– नहीं, ऐसा नहीं है। जीव व्यवहार से भी पर का कार्य नहीं करता। वह ऐसा मानता है कि "मैं पर का कार्य कर सकता हूँ" – यह उसका अज्ञान है। ये महिलायें रसोई करती हैं, पकवान वनाती हैं, मोती पिरोती हैं; इत्यादि परद्रव्य के कार्य करती हैं – ऐसी अज्ञानियों की भ्रान्ति है, वास्तव में ऐसा है नहीं।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञान में जानने का कार्य करे या परद्रव्य का कार्य करे, यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है कि आत्मा परद्रव्य का कुछ भी कार्य नहीं कर सकता। भगवान ने कहा है कि प्रत्येक द्रव्य में और प्रत्येक परमाणुओं में एक-एक समय की पर्याय अपने षट्कारक से होती है, वह पर्याय ही स्वयं कर्त्ता, वही स्वयं कर्म, वही करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण है। अज्ञानी जीव विकारीपरिणमन के षट्कारक को करता है, किन्तु साथ में ऐसा मानता है कि घट-पट आदि परद्रव्यों को भी मैं करता हूँ – यह उसका मिथ्या भ्रम है, मिथ्या अहंकार है।

स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब-परिवार, माता-पिता घर-वार आदि का संरक्षण, पालन-पोषण, सेवा आदि के कार्यों को मैं करता हूँ; इसीतरह क्रोधादिरूप अन्तरंग कर्मों को तथा जड़कर्म, चारित्रमोह आदि पुद्गलकर्मों के वन्ध को मैं करता हूँ – ऐसा माननेवाला मूढ़ है, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि है। शरीर, मन, वाणी, घट, पट, रथ आदि वाह्य परद्रव्यस्वरूप कर्म तथा ज्ञानावरणादि जड़कर्म, अन्तरंग परद्रव्यरूपकर्म – दोनों परद्रव्यस्वरूप हैं, अतः दोनों में पर की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है।

✓इस लड़के को मैंने पढ़ाया, पाल-पोस कर वड़ा किया लड़के-लड़कियों के शादी-व्याह करके, धन्धा-व्यापार में लगाकर व्यवस्थित किया – ऐसा

अज्ञानी मानता है। परन्तु भाई! ये सब क्रियायें आत्मा नहीं करता, इसीप्रकार अन्तरंग द्रव्यकर्मरूप परद्रव्यों को भी आत्मा नहीं करता – इसप्रकार वस्तुस्थिति है, तथापि अज्ञानी मानता है कि मैं इन परद्रव्यस्वरूप कर्मों का कर्त्ता हूँ। यह अज्ञानी जीव का व्यामोह है, भ्रान्ति है, अज्ञान है।

गाथा ९८ के भावार्थ पर प्रवचन

घट-पट,कर्म-नोकर्म आदि परद्रव्यों को आत्मा करता है – ऐसा मानना व्यवहारी लोगों का व्यवहार है, अज्ञान है।

परद्रव्यों का कार्य मैं कर सकता हूँ – ऐसा मानना अज्ञान है। आत्मा पर का कार्य तीनकाल में भी नहीं कर सकता। वस्तुस्थिति ही ऐसी है। □

भेदज्ञानी जीव कैसे हैं ?

जैसें राजहंस के वदन के सपरसत,[1]
देखिये प्रगट न्यारौ छीर न्यारौ नीर है।
तैसें समकिती की सुदृष्टि मैं सहज रूप,
न्यारौ जीव न्यारौ कर्म न्यारौ ही सरीर है।।
जब सुद्ध चेतन कौ अनुभौ अभ्यासै तब,
भासै आपु अचल न दूजौ और सीर[2] है।
पूरव करम उदै आइकै दिखाई देइ,
करता न होय तिन्हकौ तमासगीर[3] है।। १५।।

जैसें उसनोदक[4] मैं उदक-सुभाव सीरौ,[5]
आग की उसनता फरस[6] ग्यान लखियै।
जैसें स्वाद व्यञ्जन मैं दीसत विविध रूप,
लौन[7] कौ सुवाद खारौ जीभ ग्यान चखियै।।
तैसें घट पिंड मैं विभावता अग्यानरूप,
ग्यानरूप जीव भेद-ग्यानसौं परखियै।
भरम सौं करम कौ करता है चिदानन्द,
दरव विचार करता भाव नखियै[8]।। १६।।

– कविवर बनारसीदास : नाटक समयसार, कर्त्ता-कर्म-क्रिया द्वार

१. छूने से, २. साथी, ३. दर्शक, ४. गरम जल, ५. ठंडा, ६. स्पर्श, ७. नमक ८. छोड़ना चाहिये।

समयसार गाथा ९९

स न सन् –

जदि सो परदव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ।। ९९ ।।

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत् ।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ।। ९९ ।।

यदि खल्वयमात्मा परद्रव्यात्मकं कर्म कुर्यात् तदा परिणामपरिणामिभावान्यथानुपपत्तेर्नियमेन तन्मयः स्यात्; न च द्रव्यांतरमयत्वे द्रव्योच्छेदापत्तेस्तन्मयोऽस्ति । ततो व्याप्यव्यापकभावेन न तस्य कर्तास्ति ।

अब यह कहते हैं कि व्यवहारीजनों की यह मान्यता यथार्थ नहीं है:–

परद्रव्य को जीव जो करे, तो जरूर वो तन्मय बने ।
पर वो नहीं तन्मय हुआ, इससे न कर्त्ता जीव है ।। ९९ ।।

गाथार्थ :– [यदि च] यदि [सः] आत्मा [परद्रव्याणि] परद्रव्यों को [कुर्यात्] करे, तो वह [नियमेन] नियम से [तन्मयः] तन्मय अर्थात् परद्रव्यमय [भवेत्] हो जाये, [यस्मात् न तन्मयः] किन्तु तन्मय नहीं है; [तेन] इसलिये [सः] वह [तेषां] उनका [कर्ता] कर्त्ता [न भवति] नहीं है ।

टीका :– यदि निश्चय से यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म को करे, तो अन्य किसीप्रकार से परिणाम-परिणामीभाव न बन सकने से, वह (आत्मा) नियम से तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाय, परन्तु वह तन्मय नहीं है, क्योंकि कोई द्रव्य अन्यद्रव्यमय हो जाये, तो उस द्रव्य के नाश की आपत्ति (दोष) आ जायेगी, इसलिये आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्त्ता नहीं है ।

भावार्थ :– यदि एक द्रव्य का कर्त्ता दूसरा द्रव्य हो, तो दोनों द्रव्य एक हो जायें, क्योंकि कर्त्ता-कर्मभाव अथवा परिणाम-परिणामीभाव एक द्रव्य में ही हो सकते हैं। इसीप्रकार यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप हो जाये, तो उस द्रव्य का ही नाश हो जाये, यह बड़ा दोष आ जायेगा, इसलिये एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता कहना उचित नहीं है।

गाथा ९९ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

यदि आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म को करे, तो आत्मा नियम से तन्मय हो जायगा, क्योंकि परिणाम-परिणामीपना अन्य किसीप्रकार संभव नहीं है। पर का कार्य आत्मा करे, तो इसका अर्थ यह हुआ कि परिणाम परद्रव्य में हुआ व उस परिणाम का परिणामी आत्मा हुआ, तो दो द्रव्य एक हो गये; क्योंकि जो अवस्था (परिणाम) होती है, वह परिणाम तथा उस परिणाम का करने वाला परिणामी दोनों अभिन्न होते हैं, अतः दो द्रव्यों के बीच व्याप्य-व्यापकभाव हो गया। परद्रव्य का परिणाम व्याप्य व आत्मा स्वयं उसका व्यापक – ऐसा हो गया और ऐसा होने पर स्वयं की सत्ता का नाश हो गया।

यदि आत्मा वस्तुतः शरीर की क्रिया करे, खान-पान का कार्य करे, घट-पट आदि कार्य करे तथा जड़कर्मों के बन्ध की क्रिया करे, तो आत्मा को उन-उन द्रव्यों के साथ तन्मय होने का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि परिणाम-परिणामीपने का सम्बन्ध अन्य किसी भी रीति से संभव नहीं है, अर्थात् आत्मा परद्रव्यमय हो जायगा, पर से एकमेक हो जायगा। यदि आत्मा जड़स्वरूप हो गया, तो ऐसा होने पर आत्मा की सत्ता का नाश हो जायगा; परन्तु आत्मा परद्रव्य में तन्मय नहीं होता, पररूप भी नहीं होता।

अहाहा····! यदि कोई बाई ऐसा माने कि "मैं रोटी बनाती हूँ," तो उस बाई के आत्मा को रोटी में तन्मय होने का प्रसंग आयेगा और ऐसा होने पर उसकी स्वयं की सत्ता का नाश होकर पर में एकमेक होने का प्रसंग आ जायगा, जबकि ऐसा होता नहीं है, अतः यह बात ठीक नहीं है।

अहाहा·······! कैसी गजब बात है। बात तर्क व न्याय से सिद्ध है न ? प्रभु ! यदि परद्रव्य की क्रिया तुझसे होती हो तो तुझमें एवं उस द्रव्य में व्याप्य-व्यापकपना स्थापित होने पर दोनों एक हो जायेंगे। परद्रव्य व्याप्य एवं तू व्यापक – ऐसे दोनों अभिन्न एकमेक हो जायेंगे। आत्मा यदि एक सिके हुए पापड़ को भी तोड़ सके, तो पापड़ व आत्मा – दोनों एक हो जायेंगे। आत्मा पापड़रूप – जड़रूप हो जायेगा।

'पर की दया मैं पाल सकता हूँ' – ऐसा माननेवाले परद्रव्य व निजद्रव्य, दोनों को एकमेक करते हैं। परिणाम (कार्य) पर में हो व परिणामी (कर्त्ता) स्वयं हो – ऐसा मानने पर दोनों द्रव्यों का एकत्व हो जाता है, परन्तु ऐसा तो कभी बनता ही नहीं है। यदि दो द्रव्य एक हो जाय' तो अपने आत्मद्रव्य के नाश की आपत्ति आयेगी। आत्मा व्यापक होकर परद्रव्यस्वरूप व्याप्य को करे, तो अपना नाश होने का प्रसंग आयेगा तथा पर का भी नाश हो जायेगा; इसतरह तो सर्वनाश ही हो जायेगा, इसलिये आत्मा व्याप्य-व्यापक भाव से परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्त्ता नहीं है, यह बात यथार्थ है। आत्मा पर से अत्यन्त निराला – भिन्न है।

गाथा ९९ के भावार्थ पर प्रवचन

एक द्रव्य का कर्त्ता दूसरा द्रव्य हो, तो दोनों द्रव्य एक हो जायेंगे। यदि आत्मा इस उंगली को हिला सके, तो आत्मा उंगली में एकमेक हो जायेगा। जड़ के परिणाम (पर्याय) में आत्मा का प्रवेश हो तो अपनी (आत्मा की) सत्ता का नाश हो जाय तथा यदि परद्रव्य की पर्याय तू कर दे, तो अन्यद्रव्य की पर्याय का नाश हो जाय। उस पर्याय का नाश होने पर उस द्रव्य का भी नाश हो जायेगा।

कर्त्ता-कर्मभाव अथवा परिणाम-परिणामीभाव एकद्रव्य में ही होते हैं। अज्ञानी राग का कर्त्ता तथा ज्ञानी ज्ञान का कर्त्ता हो, परन्तु जीव पर का कर्त्ता तीनकाल में भी नहीं है। एक द्रव्य का कर्त्ता अन्यद्रव्य हो, तो उस द्रव्य का ही नाश हो जावे, यह बड़ा भारी दोष आता है। 'पर को मैं जीवित करूँ, सुखी-दुःखी करूँ, उसका भरण-पोषण करूँ – ऐसा मानना मिथ्यात्व है। जो ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टि है।

कोई बड़ा कारखाना चलाता हो तथा उसमें हजारों मनुष्य काम करते हों तो अज्ञानी वहाँ ऐसा मानता है कि मैं कारखाना चलाता हूँ तथा इन सब कर्मचारियों को निभाता हूँ; किन्तु भाई! वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। सभी द्रव्य अपना-अपना कार्य स्वतन्त्ररूप से करते हैं – ऐसा वस्तुस्वरूप है। कोई डाक्टर ऐसा कहे कि मैं दवाखाना चलाता हूँ और अनेक रोगियों के रोग मिटाता हूँ, तो यह उसकी भ्रान्ति है, अज्ञान है। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता कहना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा है ही नहीं।

निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न कर्तास्ति –

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि ।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता ॥ १०० ॥

यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुषङ्गात् व्याप्यव्यापकभावेन तावन्न करोति, नित्यकर्तृत्वानुषङ्गान्निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न तत्कुर्यात् । अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र

अब यह कहते हैं कि आत्मा (व्याप्यव्यापकभाव से ही नहीं किन्तु) निमित्तनैमित्तिकभाव से भी कर्त्ता नहीं है :–

जीव नहिं करे घट पट नहीं, नहिं शेष द्रव्यों जीव करे ।
उपयोगयोग निमित्तकर्त्ता, जीव तत्कर्ता बने ॥ १०० ॥

गाथार्थ :– [**जीवः**] जीव [**घटं**] घट को [**न करोति**] नहीं करता, [**पटं न एव**] पट को नहीं करता, [**शेषकानि**] शेष कोई [**द्रव्याणि**] द्रव्यों को [**न एव**] नहीं करता; [**च**] परन्तु [**योगोपयोगौ**] जीव के योग और उपयोग [**उत्पादकौ**] घटादि को उत्पन्न करनेवाले निमित्त हैं, [**तयोः**] उनका [**कर्ता**] कर्त्ता [**भवति**] जीव होता है ।

टीका :– वास्तव में जो घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप कर्म हैं, उन्हें आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से नहीं करता; क्योंकि यदि ऐसा करे, तो तन्मयता का प्रसंग आ जाये तथा वह निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी (उन को) नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा करे, तो नित्यकर्तृत्व का (सर्व अवस्थाओं में कर्तृत्व होने का) प्रसंग आजायेगा । अनित्य (जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते ऐसे) योग और उपयोग ही निमित्तरूप से

निमित्तत्वेन कर्तारौ । योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचिद-ज्ञानेन करणादात्मापि कर्ताऽस्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात् ।

उसके (परद्रव्यस्वरूप कर्म के) कर्त्ता हैं। (रागादिविकारयुक्त चैतन्य-परिणामरूप) अपने विकल्प को और (आत्मप्रदेशों के चलनरूप) अपने व्यापार को कदाचित् अज्ञान से करने के कारण योग और उपयोग का तो आत्मा भी कर्त्ता (कदाचित्) भले हो, तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्त्ता तो (निमित्तरूप से भी कदापि) नहीं है।

भावार्थ :– योग अर्थात् आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन (चलन) और उपयोग अर्थात् ज्ञान का कषायों के साथ उपयुक्त होना–जुड़ना। यह योग और उपयोग घटादिक और क्रोधादिक के निमित्त हैं, इसलिये उन्हें घटादिक तथा क्रोधादिक का निमित्तकर्त्ता कहा जावे; परन्तु आत्मा को तो उनका कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। आत्मा को संसार-अवस्था में अज्ञान से मात्र योग-उपयोग का कर्त्ता कहा जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्यदृष्टि से कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्त्ता नहीं है; परन्तु पर्यायदृष्टि से किसी द्रव्य की पर्याय किसी अन्य द्रव्य की पर्याय की निमित्त होती है, इसलिये इस अपेक्षा से एक द्रव्य के परिणाम अन्य द्रव्य के परिणामों के निमित्तकर्त्ता कहलाते हैं। परमार्थ से द्रव्य अपने ही परिणामों का कर्त्ता है, अन्य के परिणाम का अन्य द्रव्य कर्त्ता नहीं होता।

गाथा १०० की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

अब यहाँ गाथा १०० में आचार्यदेव यह कहते हैं कि आत्मा व्याप्य व्यापक भाव से तो परद्रव्य का कर्त्ता है ही नहीं, किन्तु निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी परद्रव्य का कर्त्ता नहीं है।

"वास्तव में जो घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप कर्म हैं, उन्हे आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा करे, तो तन्मयता का प्रसंग आ जाये।"

ये घट-पट आदि तथा जड़कर्म क्रोधादि – दोनों ही परद्रव्यस्वरूप कर्म हैं, अतः व्याप्य-व्यापकभाव से आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है। वे पर-द्रव्यस्वरूप कर्म आत्मा के व्याप्य तथा आत्मा उनका व्यापक (कर्त्ता) – ऐसा नहीं है। पर के साथ आत्मा का व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है। पर के साथ यदि व्याप्य-व्यापकपना हो, तो तन्मयता का प्रसंग आयेगा। यह बात गाथा ९९ में आ गई है।

दया का भाव रागभाव है। इस रागभाव का कर्त्ता अज्ञानी है, क्योंकि अपने परिणाम के साथ व्याप्य-व्यापकभाव होता है; किन्तु उस-समय जो कर्मबन्ध होता है, उसका कर्त्ता आत्मा नहीं है।

पंचास्तिकाय की १३२ वीं गाथा में पुण्य-पाप के स्वरूप का कथन करते हुए कहा है कि "जीवरूप कर्त्ता के निश्चय कर्मभूत शुभपरिणाम द्रव्यपुण्य को निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं, इसलिए 'द्रव्य-पुण्यास्रव' के प्रसंग का अनुसरण करके (अनुलक्ष्य करके) वे शुभपरिणाम भावपुण्य हैं। (सातावेदनीयादि द्रव्य-पुण्यास्रव का जो प्रसंग बनता है, उसमें जीव के शुभपरिणाम निमित्त कारण हैं: इसलिए 'द्रव्य-पुण्यास्रव' प्रसंग के पीछे-पीछे उसके निमित्तभूत शुभपरिणाम को भी 'भावपुण्य' ऐसा नाम है।) इसप्रकार जीवरूप कर्त्ता के निश्चय कर्मभूत अशुभपरिणाम द्रव्यपाप को निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं, इसलिए द्रव्य-पापास्रव के प्रसंग का अनुसरण करके (अनुलक्ष्य करके) वे अशुभपरिणाम 'पापभाव' हैं।

प्रश्न : – शुभभाव वस्तुतः पुण्य नहीं हैं, पाप हैं, क्योंकि शुभभाव राग है, यदि ऐसा है, तो उसको पुण्य किस अपेक्षा से कहा गया है?

उत्तर : – जो सातावेदनीय कर्म बँधता है, उसमें शुभभाव निमित्त है। सातावेदनीय को पुण्य कहा है, इसीकारण उसके कारणरूप निमित्त को भी पुण्य कहा गया है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि जीव के शुभाशुभ परिणामों के कारण कर्मबन्धन नहीं हुआ। अशुभभाव किये, इसलिए असातावेदनीय कर्म बँधा – ऐसा नहीं है। यदि ऐसा हो, तो तन्मयता का प्रसंग आयेगा। दो द्रव्य एक हो जायेंगे तथा एक-दूसरे में मिलने से दोनों ही की सत्ताओं का नाश हो जायेगा।

यह गाथा सूक्ष्म है। इसमें मूल मुद्दे की बात है। घट, पट, मकान, वस्त्र, वर्तन आदि परद्रव्यरूप कर्म हैं तथा नये ज्ञानावरणादि जो जड़कर्म बँधते हैं, वे भी परद्रव्यस्वरूप कर्म हैं। आत्मा उनका व्याप्य-व्यापकभाव से कर्त्ता नहीं है। कारखाने में कपड़े का धागा बनता है, अथवा पेट्रोल, तेल वगैरह साफ करने की – रिफाइन करने की क्रिया होती है, ये सब परद्रव्य के कार्य हैं। कारखाने के कारीगर (आत्मा) तथा कारखाने के मालिक सेठ, उस कार्य के कर्त्ता नहीं हैं।

परद्रव्यस्वरूप जड़ का परिणाम व्याप्य तथा आत्मा परिणामी व्यापक – ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि परद्रव्य की पर्याय आत्मा का

व्याप्य नहीं हो सकती। यदि परद्रव्यस्वरूप कर्म आत्मा का व्याप्य हो व आत्मा उसका व्यापक कर्त्ता हो जाय तो आत्मा परद्रव्य की क्रिया में तन्मय हो जायेगा। परद्रव्य के कार्य को यदि आत्मा करे, तो उसमें वह तन्मय हो जायेगा, मिल जायेगा; किन्तु आत्मा तन्मय नहीं होता, इसलिए पर के कार्यों का आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से कर्त्ता नहीं है।

सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा ने इस जगत में अनन्त पदार्थ देखे हैं। वे कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य करे, तो वह दूसरे द्रव्य में तन्मय हो जायगा, मिल जायगा; द्रव्य भिन्न नहीं रह सकेगा। इसलिए आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म का व्याप्य-व्यापक भाव से कर्त्ता नहीं है।

यह भेद करने का महा अलौकिक सिद्धान्त है। इस १००वीं गाथा में 'चैतन्यस्वरूप जीव क्या कर सकता है' – यह बात समझाई है। यह जो भाषा की पर्याय होती है, वह परमाणु की पर्याय है। वह पर्याय यदि आत्मा का कार्य हो और आत्मा उस पर्याय का कर्त्ता हो, तो आत्मा भाषा के परमाणुओं के साथ तन्मय अर्थात् एकाकार हो जाय। तम्बाकू का मोटा पत्ता होता है, उसमें से बीड़ी बनती है। वह परद्रव्यरूप परमाणु की क्रिया है, आत्मा उसे करता नहीं है। उस क्रिया को यदि आत्मा करे, तो आत्मा बीड़ी में तन्मय हो जायगा।

गजब बात है! अपने आत्मा के सिवाय जितने भी अनन्त परद्रव्य हैं, उन प्रत्येक में प्रति समय जो-जो पर्यायें होती हैं, उन पर्यायों को कर्म या कार्य कहा जाता है। उस कार्य को यदि आत्मा करे, तो उसमें तन्मय होने का प्रसंग प्राप्त होगा; परन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि व्याप्य-व्यापकभाव से आत्मा परद्रव्य के कार्य का कर्त्ता नहीं है। आत्मा का परद्रव्य के साथ कर्त्ता-कर्म भाव नहीं है।

अहाहा…………! तत्त्व के अस्तित्व की सिद्धि की कैसी अलौकिक युक्ति है। कहते हैं कि पर पदार्थ में जो वर्तमान परिणति होती है, वह परिणति कार्य है तथा वह पदार्थ उसका कर्त्ता है। उस परिणति का कर्त्ता यदि आत्मा हो तो परपदार्थ का परिणाम तथा परिणामी आत्मा अभेद हो जायगा; किन्तु ऐसा नहीं है।

अरे बापू! तेरा स्वरूप क्या है, इसकी तुझे खबर नहीं है। इस संस्था का जो संचालन हो रहा है, इसमें मैंने यह व्यवस्था की, वह व्यवस्था की – ऐसा जो तू मानता है, यह तेरा अज्ञान है। पर में हो रही व्यवस्था, वह उस परद्रव्य का व्याप्य – कर्म है। यदि तू उसे करता है

तो उस परदव्य के परिणाम में तू तन्मय हो जायगा, मिल जायगा; किन्तु ऐसा नहीं होता ।

अब दूसरी बात कहते हैं :—

"तथा निमित्ति-नैमित्तिकभाव से भी वह उनका कर्त्ता नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा करे, तो नित्यकर्तृत्व का प्रसंग प्राप्त होगा ।"

परद्रव्य में जो कार्य हुआ, वह नैमित्तिक तथा आत्मा उसका निमित्त-कर्त्ता – ऐसा कोई कहे तो यह भी ठीक नहीं है । पर का कार्य तो उस काल में उसके उपादान से हुआ है, आत्मद्रव्य उस पर के कार्य का निमित्तकर्त्ता भी नहीं है । अरे भाई ! आत्मा को पर के कार्य का कर्त्ता मानना तो मिथ्यादर्शन है, मूढ़ता है । पर का कर्त्ता तो आत्मा है ही नहीं, किन्तु परद्रव्य के तत्समय में अपने क्रमबद्ध होते हुए परिणमन का निमित्तकर्त्ता भी आत्मा नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो, तो उसे नित्यकर्तृत्व का प्रसंग प्राप्त होगा । यदि परद्रव्य के कार्य का निमित्तकर्त्ता आत्मा होवे, तो जहाँ-जहाँ परद्रव्य से कार्य होगा, वहाँ-वहाँ आत्मा को उपस्थित रहने का प्रसंग प्राप्त होगा तथा नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आने पर परद्रव्य की क्रिया के काल में नित्य उपस्थित होने पर राग से भिन्न होकर भेदज्ञान प्रगट करने का अवसर ही नहीं रहेगा ।

इस १००वीं गाथा में परिपूर्ण स्वतन्त्रता की बात कही है । अहा ! दिगम्बर सन्तों ने गजब काम किया है । वे कहते हैं कि इस शास्त्र के अक्षर लिखनेरूप जो पर्याय हुई, मैं उनका कर्त्ता नहीं हूँ तथा उस पर्याय के काल में हमारा आत्माद्रव्य उसका निमित्त (कर्त्ता) भी नहीं है । यदि हमारा द्रव्य उसमें निमित्त हो, तो नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आयेगा तथा पर के कार्य में नित्य ही निमित्त रूप से उपस्थित रहना पड़ेगा ।

युक्ति से, तर्क से निष्पक्ष होकर विचार करे, तो अवश्य ही समझ में आ जायेगा अर्थात् विषय बुद्धिगम्य है, समझ में न आये – ऐसा नहीं है । कहते हैं – "भगवान ! तेरा जो आत्मद्रव्य है, वह जगत् के कार्यकाल में यदि निमित्तकर्त्ता हो, तो नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आ जायेगा । फिर कभी राग से भेदज्ञान करने का अवसर ही नहीं रहेगा ।

"अनित्य योग व उपयोग ही निमित्तरूप से उसके कर्त्ता हैं ।"

योग अर्थात् प्रदेशों का कम्पन तथा उपयोग का अर्थ यहां राग करना । योग व उपयोग अनित्य हैं, वे सर्व अवस्थाओं में नहीं व्यापते । वे

योग व उपयोग परद्रव्यस्वरूप कर्म के निमित्तरूप से कर्त्ता हैं। यहाँ यह बात कहते हैं :—

(१) घड़ा मिट्टी से उसके कार्यकाल में बनता है, कुम्हार से नहीं बनता।

(२) घटकार्य के काल में यदि कुम्हार के आत्मा को निमित्त कहोगे तो नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आयेगा, किन्तु ऐसा नहीं है।

(३) अनित्य अर्थात् जो सर्वद्रव्य अवस्थाओं में नहीं व्यापता — ऐसा कम्पन तथा रागादि परिणाम का जो कर्त्ता है, वह अज्ञान ही परद्रव्य के कार्यकाल में निमित्तकर्त्ता होता है, अतः अज्ञानी के योग व उपयोग को परद्रव्य का कर्त्ता कहा जाता है।

(४) मिट्टी में जो घड़ारूप कार्य हुआ, वह तो मिट्टी से हुआ है, निमित्त से नहीं। उसीप्रकार रोटी, वस्त्र, मकान, भाषा, अक्षर इत्यादि जो कार्य होते हैं, वे पुद्गल परमाणु के कार्य हैं। उस काल में यदि आत्मद्रव्य निमित्त हो, तो नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आयेगा। जहाँ-जहाँ पर का कार्य हो, वहाँ वहाँ निमित्तरूप से कर्त्ता की हाजिरी अनिवार्य हो जायेगी। जीव के योग का कम्पन तथा राग अर्थात् इच्छारूप भाव पर के कार्यकाल में उसके निमित्तकर्त्ता कहे जाते हैं। कार्य तो द्रव्य में स्वयं से ही हुआ है, योग व राग तो उसमें निमित्तमात्र हैं।

अज्ञानी योग व राग की क्रिया का कर्त्ता है, इसकारण उसके योग व राग को परपदार्थ के कार्यकाल में निमित्तकर्त्ता कहा गया है।

देखो! रोटी बनती है, उस रोटी के बनने में रोटीरूप परिणमना तो पुद्गल परमाणुओं का ही कार्य है, जीव का नहीं — यह तो ठीक, किन्तु यहां तो यह कहते हैं कि उसमें जीवद्रव्य निमित्त भी नहीं है, यदि उस रोटी के बनने में जीव द्रव्य को निमित्त मानेंगे तो नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आयेगा तथा नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आने पर जगत में जो भी कार्य सम्पन्न होगा, वहाँ जीव द्रव्य को सदैव उपस्थित रहना ही पड़ेगा। यह बड़ा भारी दोष उत्पन्न होता है।

अतः जीव के उससमय के अनित्य योग व उपयोग को अर्थात् राग को परद्रव्य के कार्यकाल में निमित्त कहा जाता है। अब कहते हैं — "(रागादि विकारवाला चैतन्यपरिणाम) अपने विकल्प को और आत्मप्रदेशों के चलनरूप अपने व्यापार को कदाचित् अज्ञान से करने के कारण

योग व उपयोग का तो आत्मा भी कर्त्ता कदाचित् भले हो, तथापि परद्रव्य-स्वरूप कर्म का कर्त्ता तो (निमित्तरूप से भी कदापि) नहीं है।"

'निमित्त से कार्य होता है' – यह बात तो रही ही नहीं, किन्तु पर के कार्य में आत्मा निमित्त होता है – यह बात भी नही रही। मात्र अज्ञानी के राग व योग के भाव को कार्यकाल में निमित्तकर्त्ता कहा जाता है, क्योंकि अज्ञानी अपने राग व योग का कर्त्ता है।

यह गाथा बहुत महत्वपूर्ण है। यह बात तीनलोक के नाथ केवली भगवान की दिव्यध्वनि में कही गई तथा भगवान से सिद्ध हुई बात है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य करे – ऐसा त्रिकाल में है ही नहीं तथा आत्मद्रव्य पर के कार्य में निमित्तकर्त्ता भी नहीं है, यह बात यहाँ सिद्ध की है। विश्व में अनन्त द्रव्य हैं, उन सभी द्रव्यों की प्रतिसमय होनेवाली परिणति स्वयं से होती है। परद्रव्य के परिणाम का कर्त्ता भगवान आत्मा नहीं है तथा परद्रव्य में जो परिणाम होता है, उनका भगवान आत्मा त्रिकाली द्रव्य निमित्तकर्त्ता भी नहीं है। कार्य तो उसके स्वकाल में स्वयं से होता है तथा जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होता – ऐसा अज्ञानी जीव का योग व उपयोग परद्रव्य के कार्य का निमित्तरूप से कर्त्ता है।

जैसे – शादी के समय मण्डप रोपते हैं, वैसे ही यहाँ आचार्यदेव ने मोक्ष का मण्डप रोपा है। आत्मा के अनुभवी धर्मी जीव परद्रव्य के कार्य-काल में उसके निमित्तकर्त्ता भी नहीं हैं। शुद्धद्रव्य निमित्तकर्त्ता नहीं है, इसकारण जिसे शुद्धद्रव्य की दृष्टि हुई, उस धर्मी की शुद्धदृष्टि भी निमित्त-कर्त्ता नहीं है, क्योंकि वह योग व राग की क्रिया का स्वामी नहीं है, कर्त्ता नहीं है।

भाई! बात बहुत सूक्ष्म है। आचार्यदेव ने बहुत गंभीर बात की है। भगवान तीनलोक के नाथ के शासन में प्रसिद्ध हुए इस सिद्धान्त को आचार्य-देव ने ढिंढोरा पीटकर जगत् में जाहिर कर दिया है, प्रगट कर दिया है। कहते हैं कि भगवान्! तू आत्मा है, तू पर से भिन्न तथा पर तुझसे भिन्न है। प्रभु! तू आत्मा है, तू किसी भी परद्रव्य का कार्य करे – ऐसा तो है ही नहीं, किन्तु परद्रव्य के कार्य, जो उसमें हो रहे हैं; तू उनका निमित्तकर्त्ता भी नहीं है।

यहाँ प्रश्न होता है कि तो फिर उस परद्रव्य के कार्य का निमित्त-कर्त्ता कौन है? उससे कहते हैं कि जिसे अपने अन्दर विराजमान भगवान ज्ञायक चैतन्यमूर्ति की खबर नहीं है, वह चैतन्यमूर्ति जिसकी दृष्टि में

नहीं आया – ऐसे अज्ञानी का योग व उपयोग अर्थात् इच्छारूप राग परद्रव्यस्वरूप कर्म का निमित्तकर्त्ता कहा जाता है।

धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव योग व राग परिणाम का कर्त्ता नहीं है, इसकारण धर्मात्मा परद्रव्य के कार्यकाल में उसका निमित्तकर्त्ता भी नहीं है। ज्ञानी राग व योग का कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी (आत्मा) ज्ञान परिणाम को करता है – ऐसा कहना भी भेदकथन होने से उपचार है, तो फिर पर के कर्त्ता की व निमित्त की तो बात ही कहाँ रही? वहाँ तो उपचार भी नहीं बनता।

अज्ञानी जीव मानता है कि परजीवों की दया पालना धर्म है। अरे भाई! तुझे यह क्या हो गया है? परजीव का मरना-जीना तो उसके कारण से है, उसकी दया तू कैसे पाल सकता है? तथा दया का कार्य जो पर में हुआ, उसमें आत्मा निमित्त है – ऐसा यदि तू कहे तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आ पड़ेगा, तथा नित्यकर्तृत्व का प्रसंग वनने पर राग से भिन्न होकर भेदज्ञान व मुक्ति का मार्ग प्राप्त करने का कोई अवसर नहीं रहेगा – यह महादोष आयेगा, इसलिए हे भाई! आत्मद्रव्य पर के कार्य का निमित्तकर्त्ता भी नहीं है – ऐसा यथार्थ निर्णय कर।

भगवान! तू कौन है? क्या तू राग है, योग (कम्पन) है? नहीं, नहीं; तू तो भगवान स्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है। अहाहा.......! ऐसा ज्ञान-स्वरूप भगवान आत्मा जिसके ज्ञान में – जानने में आया, वह पर के कार्यों का निमित्तकर्त्ता भी नहीं है; क्योंकि ज्ञानी योग व राग का कर्त्ता नहीं है, ज्ञाता ही है; तो फिर ज्ञानी कर्त्ता होकर पर के कार्य करे – यह बात कैसे संभव है?

'ज्ञानी की वाणी से अन्य जीवों को ज्ञान होता है' – यह बात भी यथार्थ नहीं है। उन जीवों को जो ज्ञान होता है, वह स्वयं से होता है, वाणी से नहीं। उस ज्ञान के परिणमन का कर्त्ता जीव है। वाणी से कभी ज्ञान होता ही नहीं है। अरे भाई! निमित्त की मुख्यता से कथन करना जुदी बात है और निमित्त से कर्त्तापना मानना तो साक्षात् अज्ञान है।

कितने ही लोग कहते हैं कि यह तो निश्चय की बात है। उनसे कहते है कि हाँ, निश्चय की बात अर्थात् सत्य बात है। योग व इच्छा का कर्त्ता समकिती भगवान आत्मा नहीं है – यह सत्य बात है। सम्यक्दृष्टि का योग व राग पर के कार्य में निमित्तकर्त्ता भी नहीं है। धर्मी जीव को

अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का भान हुआ है। उसको योग व राग का ज्ञान भी अपने उपादान से हुआ है। अहाहा......! स्व-पर को जाननेवाला ज्ञान ज्ञानी का कार्य है; उसमें योग, राग तथा पर की क्रिया निमित्त-मात्र है।

देखो! यहाँ योग व राग को चैतन्य का परिणाम कहा है, क्योंकि अज्ञानी ने योग व राग का कर्त्ता स्वयं को माना है। वस्तुत: तो आत्मा ज्ञायक प्रभु है। उसका स्वभाव तो बस जानना-देखना है। उसके जानने-देखने रूप कार्य का कर्त्ता जीव है – ऐसा कहना उपचार है, क्योंकि वास्तव में तो जानने-देखने का कार्य पर्याय में होता है। जानने-देखने का कार्य पर्याय का है तथा उसे जीव का कार्य कहना उपचार है। जहाँ ऐसी बात है, वहाँ राग का कार्य एवं पर का कार्य जीव का है – यह बात कहाँ रहती है?

जीव योग के कम्पन का तथा रागयुक्त उपयोग का तो कदाचित् अर्थात् अज्ञानभाव से कर्त्ता है भी, परन्तु पर का कार्य जो उस काल में होता है; उसका कर्त्ता तो अज्ञानी भी कदापि नहीं है। योग का व राग का कदाचित् कर्त्ता है – ऐसा जो कहा है, उसका कारण यह है कि अज्ञान सदा नहीं रहता। जब तक अज्ञान है, तब तक राग व योग का कर्त्ता है तथा उस राग व योग को पर के कार्य का निमित्त कर्त्ता कहा जाता है; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लेना कि निमित्त पर के कार्य का वास्तव में कर्त्ता है। भाई! जगत के कार्य मुझसे होते हैं – ऐसा अज्ञानी मानता है; किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।

मात्र अज्ञानी को राग व योग का कर्त्ता कहा जाता है, बस इससे अधिक कुछ नहीं है। अहो! यह तो थोड़े में ही सब-कुछ कह दिया है। ये राग-द्वेष एवं विषय-वासना के जो परिणाम होते हैं, अज्ञानी उनका कर्त्ता है; किन्तु विषयभोग के काल में शरीर की जो क्रिया होती है, वह परमाणुओं का कार्य है, जीव उनका कर्त्ता नहीं है। परमाणु के उस कार्यकाल में जीवद्रव्य निमित्त भी नहीं है; यदि जीवद्रव्य निमित्त हो तो नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आयेगा और अज्ञान का कभी नाश ही नहीं होगा। अत: अज्ञानी जो कि अपने तत्सम्बन्धी योग व राग का कर्त्ता है, उसके उस योग व राग को उस भोगरूप जड़ की क्रिया का निमित्तकर्त्ता कहा जाता है।

ये मकान, कुर्सी, गाड़ी, विमान आदि जो बनते हैं, इन सबके कर्त्ता उनके स्वयं के परमाणु ही हैं, ज्ञानी आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है तथा

इनमें निमित्तकर्त्ता भी उस कार्यकाल में उत्पन्न हुए अज्ञानी आत्मा के वे ही योग व उपयोग हैं, जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते।

अज्ञानी जीव अपने योग व राग का कर्त्ता होता है, अतः उसका योग व राग परद्रव्य के कार्य का निमित्तकर्त्ता कहा जाता है। भक्त अष्टद्रव्य से भगवान की पूजा करता है, वहाँ आठ प्रकार की जड़ (सामग्री) की जो क्रिया होती है, वह जड़ से होती है; आत्मा उस क्रिया का कर्त्ता नहीं है। उस क्रिया का कर्त्ता यदि आत्मा हो तो परिणाम व परिणामी एक होने से आत्मा उसमें तन्मय (एकमेक) हो जायगा तथा उस क्रिया के काल में आत्मा उसका निमित्त तो है – ऐसा कहोगे तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर आत्मा को शाश्वत् निमित्तरूप से उपस्थित रहने का प्रसंग प्राप्त होगा; इसकारण उससमय पूजा-भक्ति के जो शुभभाव होते हैं, उस शुभभाव का जो कर्त्ता होता है, उस अज्ञानी का शुभभाव उस क्रिया में निमित्तकर्त्ता कहा जाता है। भाई! यह जैनदर्शन की सारभूत बात है।

चैतन्यविहारी मुनिवरों को जो शुभराग होता है, वे उस राग को ज्ञान से भिन्न जानते हैं। ज्ञानी को स्व का ज्ञान हुआ है, उसीसमय राग सम्बन्धी ज्ञान भी हुआ है। वहाँ जो राग का ज्ञान हुआ, वह राग के कारण नहीं हुआ। जिसप्रकार का राग आया व शरीर की क्रिया हुई, उसका ज्ञान स्वयं से होता है तथा अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान में राग व शरीर की क्रिया निमित्त होती है। निमित्त का अर्थ कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी को स्व-परप्रकाशक ज्ञान स्वयं से होता है तथा उसमें राग तथा परवस्तु निमित्त कही जाती है।

कोई ऐसा कहे कि कार्य सम्पन्न होने में पचास प्रतिशत निमित्त का और पचास प्रतिशत उपादान का योगदान स्वीकार करो, निमित्त को सर्वथा क्यों उड़ाते हो? उनसे कहते हैं कि भाई! पचास प्रतिशत ही क्यों? दोनों का पूर्ण स्वतन्त्र अपने-अपने शत-प्रतिशत योगदान मानो न! हम निमित्त को उड़ाते नहीं हैं, निमित्त निमित्तरूप से तो सम्पूर्ण है, किन्तु वह पर का काम एक अंश (एक प्रतिशत) भी नहीं करता – ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है।

केवलज्ञान भी स्व-परप्रकाशक है। केवलज्ञान स्वयं को जानता है तथा लोकालोक को जानता है। केवलज्ञान को जानने में लोकालोक निमित्त है तो क्या लोकालोक के कारण केवलज्ञान है? नहीं, ऐसा नहीं है। लोकालोक के कारण केवलज्ञान नहीं। लोकालोक स्वतन्त्र है, केवलज्ञान

स्वतन्त्र है । उपादान व निमित्त – दोनों अपने-अपने में स्वतन्त्र हैं । किसी एक के कारण कोई अन्य द्रव्य नहीं है । निमित्त है, इसलिए कार्य निमित्त से होता है – ऐसा है ही नहीं ।

आत्मा पर का कर्त्ता न सही, परन्तु निमित्त तो है न – ऐसा कहकर भी अज्ञानी कर्त्तापना ही सेवन करता है, अर्थात् स्वयं परद्रव्य का कर्त्ता बनता है ।

देखो, कोई हथौड़े से नारियल फोड़े, वहाँ नारियल टूटने की क्रिया तो पुद्गल की ही है, आत्मा उस क्रिया का कर्त्ता नहीं है । अज्ञानी उस सम्बन्धी राग का कर्त्ता है । अज्ञानी के उस राग को नारियल फूटने की क्रिया का निमित्तकर्त्ता कहा जाता है । नारियल हथौड़े से नहीं फूटा । उस फूटने की क्रिया का कर्त्ता तो वह नारियल ही है । उस क्रिया के समय तत्सम्बन्धी राग का जो कर्त्ता है, उस अज्ञानी के योग व उपयोग को निमित्तकर्त्ता कहा जाता है ।

वहाँ अज्ञानी को उससमय नारियल फूटने का ज्ञान स्वयं से हुआ है । उस ज्ञान में नारियल की फूटनेरूप क्रिया तथा राग निमित्त है । फूटने की क्रिया का ज्ञान तो अपने उपादान से हुआ है । निमित्त की उपस्थिति के कारण निमित्त का ज्ञान नहीं हुआ । भाई ! यह बात तो धैर्य व शान्ति से समझने की है ।

कोई सम्यग्दृष्टि कुम्हार उपस्थित हो तथा घड़ा बनाने की क्रिया हो; वहाँ घड़ा तो मिट्टी से बना है, कुम्हार के राग से या कुम्हार के आत्म-द्रव्य से घड़ा नहीं बना । घड़ा बनने की क्रिया व तत्सम्बन्धी जो राग हुआ, उसका समकिती कुम्हार कर्त्ता नहीं है, वह तो मात्र ज्ञाता ही है । वहाँ घड़े का तथा राग का जो ज्ञान हुआ, वह स्वयं से हुआ है तथा घड़ा व राग उसमें निमित्तमात्र है । निमित्त है, इसकारण उसका ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है । अहा ! घड़ा बनने की क्रिया तथा तत्सम्बन्धी जो राग हुआ, वह ज्ञानी का कार्य नहीं है । भाई ! यह बहुत सूक्ष्म बात है ।

यहाँ कहते हैं कि प्रभु ! एकबार तू सुन तो सही, नाथ ! तेरी ऋद्धि तो ज्ञान है । राग व परवस्तु तेरी ऋद्धि नहीं है । जिसको ऐसा भान होता है, उसको कमजोरी से राग आता है; किन्तु वह राग का कर्त्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता है । उससमय स्वयं को व राग को जानता हुआ, स्व-परप्रकाशक ज्ञान स्वयं से होता है और तब राग उस ज्ञान में निमित्त होता है । प्रभु ! तेरा ज्ञान सत्पने तभी रह सकता है, जबकि राग व पर से भिन्न पड़कर

अपने सदा निर्मल चैतन्यस्वभाव का ज्ञान हो। (तात्पर्य यह है कि स्वभाव का ज्ञान होने पर ज्ञान ज्ञान से, स्वयं से है – ऐसा यथार्थ ज्ञान होता है।) वह ज्ञान स्वयं से स्व-पर को जानता हुआ प्रगट हुआ है, उसमें राग व परवस्तु निमित्त कही जाती है।

आचार्यदेव ने कर्त्ता की व्याख्या बहुत स्पष्टरूप से की है। परद्रव्य का कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं हैं तथा परद्रव्य का कर्त्ता तू (आत्मा) भी नहीं है। परद्रव्य का परिणाम पर से होता है, उसका तू कर्त्ता नहीं है और तेरा आत्मा उसमें निमित्त भी नहीं है। उस कार्यकाल में राग का जो कर्त्ता होता है – उस अज्ञानी के राग व योग को उसका कर्त्ता कहा जाता है।

आत्मा योग व उपयोग का तो कर्त्ता कदाचित् (किसी अपेक्षा से) हो भी जावे, परन्तु परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्त्ता तो कदाचित् भी (निमित्त-रूप से भी) नहीं होता।

गाथा १०० के भावार्थ पर प्रवचन

"योग अर्थात् आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन (चलन) और उपयोग अर्थात् ज्ञान का कषायों के साथ उपयुक्त होना – जुड़ना। यह योग और उपयोग घटादिक और क्रोधादिक के निमित्त हैं, इसलिए उन्हें घटादिक तथा क्रोधादिक का निमित्तकर्त्ता कहा जावे; परन्तु आत्मा को तो उनका कर्त्ता कहा नहीं जा सकता। आत्मा को संसारावस्था में अज्ञान से मात्र योग-उपयोग का कर्त्ता कहा जा सकता है।"

यहाँ तात्पर्य यह है कि द्रव्यदृष्टि से तो कोई भी द्रव्य अन्य किसी द्रव्य का कर्त्ता नहीं है; परन्तु पर्यायदृष्टि से समय-समय पर किसी एक द्रव्य की पर्याय अन्य द्रव्य की पर्याय में निमित्त होती है, इसकारण इस अपेक्षा से एक द्रव्य को परिणाम अन्य द्रव्य के परिणाम का निमित्तकर्त्ता कहा जाता है। परमार्थ से द्रव्य अपने ही परिणाम का कर्त्ता है, किसी अन्य द्रव्य के परिणाम का कोई अन्यद्रव्य कर्त्ता नहीं होता।

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरतै जोग विरत्त।
रोकै आवत करम कौ, सो है संवर तत्त॥

– नाटक समयसार : उत्थानिका, दोहा ३१

समयसार गाथा १०१

ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात् –

जे पोग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।१०१।।

ये पुद्‌गलद्रव्याणां परिणामा भवंति ज्ञानावरणानि ।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ।। १०१ ।।

ये खलु पुद्‌गलद्रव्याणां परिणामा गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्ल-परिणामवत्पुद्‌गलद्रव्यव्याप्तत्वेन भवंतो ज्ञानावरणानि भवंति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी, किन्तु यथा स गोरसाध्य-क्षस्तद्दर्शनमात्मव्याप्तत्वेन प्रभवद्व्याप्य पश्यत्येव तथा पुद्‌गलद्रव्यपरिणाम-

---

अब यह कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञान का ही कर्त्ता है :–

ज्ञानावरणादिक सभी, पुद्‌गल दरव परिणाम हैं ।
करता नहीं आत्मा उन्हें, जो जानता वो ज्ञानि हैं ।। १०१ ।।

गाथार्थ :– [ये] जो [ज्ञानावरणानि] ज्ञानावरणादिक [पुद्‌गल-द्रव्याणां] पुद्‌गलद्रव्यों के [परिणामाः] परिणाम [भवंति] हैं, [तानि] उन्हें [यः आत्मा] जो आत्मा [न करोति] नहीं करता, परन्तु [जानाति] जानता है, [सः] वह [ज्ञानी] ज्ञानी [भवति] है ।

टीका :– जैसे दूध-दही जो कि गोरस के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले गोरस के मीठे-खट्टे परिणाम हैं, उन्हें गोरस का तटस्थ दृष्टा पुरुष करता नहीं है, इसीप्रकार ज्ञानावरणादिक जो कि वास्तव में पुद्‌गल-द्रव्य के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले पुद्‌गलद्रव्य के परिणाम हैं, उन्हें ज्ञानी करता नहीं है; किन्तु जैसे वह गोरस का दृष्टा, स्वतः (देखने-वाले से) व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले गोरस-परिणाम के दर्शन में व्याप्त

निमित्तं ज्ञानमात्मव्याप्यत्वेन प्रभवद्व्याप्य जानात्येव । एवं ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात् ।

एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन कर्मसूत्रस्य विभागेनोपन्यासाद्दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायसूत्रैः सप्तभिः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

होकर मात्र देखता ही है; इसीप्रकार ज्ञानी स्वतः (जाननेवाले से) व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाला पुद्गलद्रव्य-परिणाम जिसका निमित्त है – ऐसे ज्ञान में व्याप्त होकर, मात्र जानता ही है, इसप्रकार ज्ञानी ज्ञान का ही कर्त्ता है ।

और इसीप्रकार 'ज्ञानावरण' पद पलटकर कर्म-सूत्र का (कर्म की गाथा का) विभाग करके कथन करने से दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय के सात सूत्र, तथा उनके साथ मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन के सोलह सूत्र व्याख्यानरूप करना; और इसीप्रकार इस उपदेश से अन्य भी विचार लेना ।

गाथा १०१ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

अब आचार्यदेव इस गाथा एवं टीका में कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञान का ही कर्त्ता है ।

यह गाथा बहुत सरस है । अनन्तकाल में जो काम नहीं किया, उस अपूर्व काम को कर लेने की यह बात है । भाई ! शान्ति से धीरज रखकर सुनो । यहाँ पहले दृष्टान्त दिया है कि जैसे गाय के दूध के रस का जो सामान्यभाव गोरस है, वह गोरस स्वयं व्याप्त होकर दही-दूध के खट्टे-मीठेरूप में परिणमता है, उसरूप उत्पन्न होता है । दही-दूध का जो खट्टा-मीठा परिणाम है, वह गोरस का कार्य है । गोरस को तटस्थभाव से देखने जाननेवाला पुरुष उसे करता नहीं है । दूध की दही, मलाई, मक्खन इत्यादि बहुत अवस्थायें होती हैं, उन अवस्थाओं में गोरस व्याप्त है । उस गोरस को तटस्थभाव से देखनेवाला पुरुष उन अवस्थाओं का कर्त्ता नहीं है, मात्र उन्हें जानता ही है । खट्टे-मीठे परिणाम का कर्त्ता तो गोरस है, तटस्थ (समकिती-ज्ञाता) पुरुष उनका कर्त्ता नहीं है ।

संसारी जीवों ने इस बात को समझने की अनादिकाल से आज तक दरकार नहीं की, फुरसत नहीं निकाली। भाई! यह जितना समय बीत रहा है, वह इस अमूल्य जीवन में से घटता जा रहा है। इस मनुष्य जीवन में यदि स्वरूप की समझ नहीं कर सका तो फिर यह अवसर कब मिलेगा? क्या स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब को राजी (प्रसन्न) रखने के प्रयत्न में ही तेरी सारी जिन्दगी चली जायगी? अरे! यदि अपने अन्दर जो सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा विराजता है, उसकी पहचान नहीं की तो तू मरकर कहाँ जायगा? जिसप्रकार आकाश में उड़ती हुई पतंग कटकर कहाँ जा पड़ेगी, यह निश्चित नहीं है; उसीप्रकार तू संसार में आत्मा के भान बिना रखड़ता-रखड़ता दुःख भोगता हुआ मरण होने पर कहीं कौआ, कुत्ता, सूअर आदि की योनि में चला जायगा।

जिसप्रकार कोई पुरुष नदी के किनारे स्थिर बैठा है, वहाँ वह बहते हुए पानी के प्रवाह को केवल जानने-देखनेवाला है, उस प्रवाह का वह कर्त्ता नहीं है; उसीप्रकार गोरस का जो खट्टा-मीठा परिणाम होता है, तटस्थ पुरुष उसका कर्त्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही है।

इस दृष्टान्त से आचार्य यहाँ समझाते हैं कि ज्ञानावरणादि कर्म की पर्याय पुद्गलद्रव्य से व्याप्त होकर उत्पन्न होती है, अतः पुद्गल का परिणाम है। ज्ञानी उसका कर्त्ता नहीं है। आत्मा उसमें व्याप्त होकर उस पुद्गलद्रव्य की पर्याय का कर्त्ता नहीं है। ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं – ऐसा जानता हुआ ज्ञानी उसका कर्त्ता नहीं है। अज्ञानी राग परिणाम का कर्त्ता होता है, इसलिए उसके रागादि परिणाम कर्म की पर्याय में निमित्तकर्त्ता कहे जाते हैं। खट्टे-मीठे गोरस के परिणाम का तटस्थ पुरुष ज्ञायक है, कर्त्ता नहीं है; बस उसीतरह ज्ञानी ज्ञानावरणादि का जाननेवाला ही है, कर्त्ता नहीं। अहाहा····! 'मैं तो चैतन्यमूर्तिज्ञायक स्वभावी भगवान आत्मा हूँ' – ऐसा जिसको भान हुआ, वह सम्यग्दृष्टि बंधनेवाले ज्ञानावरणादि कर्मों का मात्र जाननेवाला ही है, कर्त्ता नहीं।

तत्त्वार्थसूत्र में आता है कि ज्ञानावरणादि कर्म छह कारणों से बँधते हैं, उन ज्ञानावरणादि कर्मों की पर्यायों में अज्ञानी का राग निमित्तकर्त्ता कहा जाता है; ज्ञानी तो निमित्तकर्त्ता भी नहीं है। चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थान में जो ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियों का बंध होता है, उन्हें ज्ञानी जानता है, किन्तु उनका कर्त्ता नहीं है।

'मैं यह करूँ, वह करूँ' – इसप्रकार जो परद्रव्य की पर्याय का कर्त्ता होता है, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। यहाँ कहते हैं कि गोरस का

देखनेवाला मात्र गोरस के परिणाम (पर्याय) की दर्शन (अवलोकन) रूप क्रिया में व्याप्त होकर उसे केवल देखता ही है। वह पुरुष देखने-रूप परिणाम में व्याप्त है, गोरस के परिणाम (पर्याय) में व्याप्त नहीं है। 'गोरस की पर्याय है, इसकारण उसे देखनेवाला ज्ञातापुरुष देखता है' – ऐसा नहीं है, वल्कि स्वयं से स्वतः देखता है। (उसका देखना गोरस की पर्याय के आधीन नहीं है।) वह जो खट्टे-मीठे परिणाम को देखता है, सो वह स्वतः अपने स्वयं के परिणाम को देखता है। गोरस के परिणाम को देखनेवाले को वस्तुतः तो स्वतः स्वयं से अपने ज्ञाता परिणाम का ज्ञान होता है। जड़ की पर्याय को देखनेवाला ज्ञानी, देखने-वाले अपने परिणाम में व्याप्त होकर मात्र उसे जानता ही है।

ज्ञानावरणादि कर्म जो बँधे हैं, उन जड़कर्मो की बंधरूप पर्याय तो जड़ से हुई ही है। उनका कर्त्ता तो जीव है ही नहीं, किन्तु उन ज्ञानावरण आदि के बंध में निमित्तभूत जीव के विकारी भावों का कर्त्ता भी ज्ञानी जीव नहीं है, वह तो मात्र उनका ज्ञाता है। उस परिणाम को जानने-वाला ज्ञानीपुरुष ज्ञानावरणादि कर्म की पर्याय में निमित्त भी नहीं है। ज्ञानावरणी कर्म का जो ज्ञान हुआ; ज्ञानी उस ज्ञान में व्याप्त है, ज्ञानवरणी में व्याप्त नहीं है।

अरे भाई! इस अज्ञानी जीव ने आज तक जन्म-मरण करके अनन्त भव धारण किये हैं और जबतक अन्दर आत्मा में मिथ्यात्व पड़ा है, तबतक और भी अनन्तभव धारण करेगा; क्योंकि मिथ्यात्व के गर्भ में अनन्त भव पड़े हुए हैं। चाहे हजारों रानियों को छोड़कर साधु हुआ हो, जंगल में रहता हो तथा व्रत पालता हो; किन्तु यदि जड़ की क्रिया का कर्त्ता स्वयं को मानता है तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है, चारगति में ही भटकनेवाला है।

ज्ञानावरणादि जड़कर्मबन्धन के परिणाम में अज्ञानी या उसके योग व उपयोग निमित्तकर्त्ता कहे जाते हैं। ज्ञानी समकिती तो स्वतः जाननेवाला अपने परिणाम में व्याप्त होकर जड़कर्म की पर्याय को जानता ही है, करता नहीं है। ज्ञानी तो जड़कर्म को जाननेवाली अपनी ज्ञान की पर्याय में व्याप्त है। वह ज्ञानपर्याय स्व-परप्रकाशपने स्वयं से हुई है। उस ज्ञान की पर्याय में ज्ञानावरणादि आठकर्मो की पर्याय तो निमित्त-मात्र है।

देखो! बात तो सब युक्ति से, तर्क से एवं न्याय से ही चलती है; किन्तु स्वयं को समझने की जिज्ञासा भी होनी चाहिए। जिसने राग से भिन्न

होकर अपने ज्ञानानन्दस्वभावी ज्ञायकस्वरूप आत्मा का अनुभव किया है; वह ज्ञानी जीव ज्ञानावरणी कर्म की पर्याय का कर्त्ता नहीं, ज्ञायक ही है। ज्ञानावरणी कर्म की पर्याय में ज्ञानी तो निमित्त भी नहीं, निमित्तकर्त्ता भी नहीं है। उपादान तो तत्सम्बन्धी पुद्गलकर्मो की प्रकृतियाँ हैं और निमित्त अज्ञानी का राग है। ज्ञानी उसका निमित्तकर्त्ता नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरणी कर्म का निमित्त जो राग है, उसका ज्ञानी कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान के परिणाम में व्याप्त होकर ज्ञान के परिणाम को करता है, तव उस ज्ञान में ज्ञानावरणी कर्म की पर्याय को निमित्त कहते हैं।

देखो न ! दृष्टान्त भी कितना सुन्दर दिया है। गोरस के परिणाम को देखनेवाला पुरुष, अपने गोरस के देखनेवाले परिणाम में व्याप्त होकर गोरस के परिणाम को देखता है, किन्तु उसे करता नहीं है। उसीप्रकार ज्ञानावरणी कर्म की पर्याय जो पुद्गल से हुई है, उसको देखनेवाला ज्ञानी अपने ज्ञान में व्याप्त होकर ज्ञान का कर्त्ता होकर ज्ञातारूप से रहता है। उस ज्ञान की पर्याय में ज्ञानावरणी कर्म की पर्याय निमित्त है। ज्ञान का उपादान तो स्वयं का है, उसमें जड़कर्म की पर्याय तो निमित्त है। निमित्त सम्बन्धी ज्ञान की पर्याय उपादान से स्वयं से स्वतन्त्र हुई है, उसमें निमित्त की कोई अपेक्षा नहीं है।

अहो! गाथा बहुत अलौकिक है। सीमंधर भगवान के पास आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव विदेह क्षेत्र में गये थे, वहाँ से यह संदेश लेकर भरतक्षेत्र में आये और यह शास्त्र रचा है। जैसे कोई पुरुष परदेश से अपने देश में आये तो पत्नी पूछे कि मेरे लिए साड़ी लाये ? पुत्री पूछे मेरे लिए घड़ी लाये ? छोटा वालक हो तो वह पूछे मेरे लिए मिठाई लाये ? उसीप्रकार श्री कुन्दकुन्ददेव विदेह से लौटकर भरत में पधारे तो भक्तजन पूछते हैं कि हे भगवन् ! हमारे लिए क्या लाये? तब आचार्यदेव कहते हैं कि तुम्हारे लिए यह माल (असली माल) लाया हूँ – यह भगवान का प्रसाद है, इसे प्राप्त करके प्रसन्न हो जाओ।

वे कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में ज्ञानी को जो ज्ञानावरणी कर्म की प्रकृति बंधती है, उसका वह कर्त्ता नहीं है, केवल जाननेवाला ही है। ज्ञानवरणी कर्म की पर्याय जड़ से – पुद्गल से होती है, उसमें ज्ञानी निमित्त भी नहीं है। चौथे गुणस्थान में जो यह प्रकृति बँधती है, उसका ज्ञान स्वयं अपने से होता है तथा तव उसमें ज्ञानावरणी कर्म निमित्तमात्र है।

ज्ञानी कर्म बाँधता नहीं है – ऐसा यहाँ कहा है। अज्ञानी भी जड़कर्म को बाँधता नहीं, परन्तु अज्ञानी राग का कर्त्ता है तो कर्मबन्ध की पर्याय में उसे निमित्तकर्त्ता कहा जाता है।

जो राग का कर्त्ता होता है और जड़कर्म की अवस्था में जिसका राग निमित्त होता है; वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है। इसके विपरीत जिसको अपने त्रिकाली सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का भान हुआ है – ऐसा धर्मीजीव जानता है कि राग व पुद्गल की जो क्रिया होती है, वह मेरी नहीं है। जिसे क्षण-क्षण में ऐसा विवेक वर्त्तता है, उस ज्ञानी की जो सम्यग्ज्ञानरूप पर्याय प्रगट हुई; वह ज्ञानपर्याय स्वत: स्वयं से स्व-पर को जानती हुई प्रगट हुई है, उसे कर्म की पर्याय की अपेक्षा नहीं है। वह ज्ञानावरणी की पर्याय को भी जानता ही है। इसप्रकार ज्ञानी ज्ञान का ही कर्त्ता है।

ज्ञानावरणी कर्म छह प्रकार के भावों के निमित्त से बँधता है। ज्ञान में अन्तराय, मात्सर्य, प्रदोष, निन्हव, आसादन और उपघात – इस प्रकार छह प्रकार की भावना के निमित्त से ज्ञानावरणी कर्म बँधता है। अज्ञानी इन छह प्रकार के भावों का कर्त्ता बनता है। इसकारण ज्ञानावरणी के बन्ध में इन अज्ञानी के विकारीभावों को निमित्तकर्त्ता कहा जाता है। ज्ञानी को तो आस्रवतत्त्व, अजीवतत्त्व एवं निजज्ञायकतत्त्व का भेदज्ञान हुआ है; इसलिए ज्ञानी राग का कर्त्ता नहीं है। भेदज्ञान का उदय होने से 'राग से भिन्न मैं ज्ञायकतत्त्व हूँ' – ऐसा धर्मीजीव जानता है। धर्मी को राग से भिन्न ज्ञायकतत्त्व का भेदज्ञान – स्व-परप्रकाशक ज्ञान स्वयं से प्रगट हुआ है, पर के कारण नहीं। राग व जड़ की दशा तो उसमें निमित्तमात्र है और निमित्त से स्व-परप्रकाशक ज्ञान प्रगट नहीं होता।

वीतराग भाव की आराधना तभी हो सकती है, जबकि राग से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वभावमय भगवान आत्मा का भान हो। दया, दान, व्रत आदि विकल्प राग हैं, आस्रव हैं। 'आस्रव से आत्मतत्त्व भिन्न है' – ऐसा जिसे सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है; उसे यह आस्रव है, राग है – ऐसा ज्ञान स्वयं से स्वयं में होता है, तब उस ज्ञान में राग निमित्त कहा जाता है।

दया का भाव शुभभाव है, विकार है। उस शुभभाव के काल में जो सातावेदनीय कर्म बँधता है, वह जड़ की पर्याय है। जड़ की पर्याय जड़ से होती है। जो अज्ञानी अनुकम्पा के भाव को व आत्मा को एक मानता है, उस अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) का अनुकम्पा का भाव, स्वयं की योग्यता से

बँधनेवाली सातावेदनीय कर्मप्रकृति का निमितकर्त्ता है; किन्तु जिसे दया के राग से अपना ज्ञायक भगवान भिन्न है – ऐसा भेदज्ञान प्रगट हुआ है, वह धर्मीजीव दया के राग का कर्त्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है। स्व को व राग को (पर को) जानते हुए उसको स्व-परप्रकाशक ज्ञान स्वयं से प्रगट होता है तथा राग उसमें निमित्त होता है।

देखो, सर्वतत्त्व भिन्न-भिन्न हैं –

- जो सातावेदनीय कर्म बँधता है, वह जड़ पुद्गल की पर्याय है; अतः वह अजीवतत्त्व है।
- जो दया, दान आदि का राग होता है, वह विकारीभाव है; अतः आस्रवतत्त्व है।
- राग से भिन्न भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमय ज्ञायकतत्त्व है; अतः वह जीवतत्त्व है।
- जिसे राग से भिन्न आत्मा का भान नहीं है, वह राग का कर्त्ता होता है; उस राग व आत्मा को अभिन्न (एक) माननेवाला मिथ्यादृष्टि मूढ़ है।
- जिसने राग व आत्मा को एक माना है, उस अज्ञानी का शुभराग उससमय बँधनेवाले सातावेदनीय कर्म में निमित्त होता है। इस कारण अज्ञानी के उस शुभराग को उसका (जड़कर्म का) निमित्तकर्त्ता कहा जाता है।

ज्ञानी को स्वभाव की दृष्टि हुई है। कर्मबन्ध अजीवतत्त्व है, राग आस्रवतत्त्व है और स्वयं उससे भिन्न ज्ञायकतत्त्व है। इसप्रकार भेदज्ञान प्रगट होने से वह सर्व को भिन्न-भिन्न जानता है। इसकारण वह राग का कर्त्ता नहीं है, किन्तु ज्ञाता ही है तथा उसके ज्ञान में राग व जड़कर्म की पर्याय निमित्त होती है।

अहो! आचार्यदेव ने गजब बात की है। ३२वीं व ३३वीं गाथा में १६ बोल थे, यहाँ कर्म के आठ बोल अधिक हैं; कुल २४ बोल हैं। भाई, शान्ति से समझना। कुछ लोग इसे एकान्त कहते हैं, उन्हें इस बात की खबर नहीं है कि एकान्त भी दो तरह का होता है – एक सम्यक्-एकान्त दूसरा मिथ्या-एकान्त। सम्यक्-एकान्त मानने में कोई दोष नहीं है और यह सम्यक्-एकान्त की ही बात है, अतः यथार्थ है।

इसीप्रकार 'ज्ञानावरण' पद पलटकर कर्मसूत्र का (कर्म की गाथा का) विभाग करके कथन करने से दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु,

नाम, गोत्र तथा अन्तराय के सात सूत्र तथा उसी के साथ मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना तथा स्पर्श के सोलह सूत्र व्याख्यानरूप कर लेना तथा इस उपदेश से अन्य का भी विचार कर लेना।

'दर्शनावरणी' नाम की एक जड़कर्म की प्रकृति है। पुद्गल परमाणु में उक्त प्रकृतिरूप होने की तत्समय की योग्यता ही उसका मुख्य कारण है, उसी योग्यता से वह दर्शनावरणी कर्म की प्रकृतिरूप पर्याय हुई है। उससमय अपने में दर्शनदोष को उत्पन्न करके जो जीव उसका कर्त्ता बनता है, वह दर्शनदोष को व आत्मा को एक मानता है; वह दर्शनदोष दर्शनावरणी कर्म के बन्ध में निमित्तकर्त्ता कहा जाता है।

कोई कपास का बड़ा व्यापारी हो तो लोग कहते हैं कि वह कपास का राजा है, किन्तु भाई! जब तू राग का भी राजा नहीं है तो कपास का राजा कैसे हो सकता है? कपास तो प्रगट परद्रव्य है, तू तो ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप चैतन्य राजा है।

देखो, आचार्यदेव स्वतत्त्व व परतत्त्व की वह भिन्नता बताने के लिए भेदज्ञान कराते हैं। राग के भाव को अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान में भेदज्ञानी जीव कर्त्ता नहीं है, ज्ञाता-दृष्टा ही है। विकल्प राग है तथा मैं ज्ञायक हूँ – इसप्रकार भेदज्ञान की करवत से दोनों को ज्ञानी ने भिन्न कर दिया है। उस ज्ञानी के ज्ञान में राग व राग से बँधनेवाला कर्म निमित्त मात्र है।

अज्ञानी राग का स्वामी होता है, उसका वह राग नये कर्मबन्धन में निमित्त होता है। लोग ऐसा मानते हैं कि व्यवहार से धर्म होता है – उनसे कहते हैं कि प्रभु! तू सुन तो सही। राग-व्यवहार तो ज्ञान में परज्ञेयरूप से जानने में आता है, उससे धर्म कैसे होगा? महाव्रतादि व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम ज्ञानी के स्व-परप्रकाशक ज्ञान में परज्ञेयपने से निमित्त मात्र हैं, इससे निश्चय धर्म प्रगट नहीं होता। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, जब अपने ज्ञातस्वरूप आत्मा का भान हुआ, तब ज्ञानी की पर्याय स्वयं से प्रगट हुई। यद्यपि उससमय ज्ञानी को राग आया; किन्तु उस राग को एवं नवीन कर्मबन्धन को ज्ञानी मात्र जानते ही हैं, करते नहीं। वह राग व कर्म की पर्याय ज्ञानी के ज्ञान में निमित्तमात्र है।

वेदनीय कर्म की जड़प्रकृति का कर्त्ता जड़कर्म है। जो सातावेदनीय कर्म बँधता है, वह उसमें तत्सम्बन्धी परमाणुओं की तत्कालीन योग्यता व

उत्पत्ति का स्वकाल है, शुभराग से सातावेदनीय कर्म बँधा हो – ऐसा नहीं है। उस काल में ज्ञानी राग व कर्म से स्वयं को भिन्न जानता है। ज्ञानी को जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान की प्रर्याय प्रगट होती है, उसमें शुभराग तथा साता वेदनीय कर्म निमित्त कहा जाता है।

पर को दुःख देने के भाव के निमित्त से असातावेदनीय कर्म बँधता है, वह दुःख देने का भाव आस्रव है। जो उस आस्रव व आत्मा को एक मानता है, उस अज्ञानी का परिणाम असातावेदनीय के बन्ध में निमित्त होता है।

प्रथम सौधर्म स्वर्ग में ३२ लाख विमान हैं। उनके इन्द्र व इन्द्राणी – दोनों सम्यग्यदृष्टि हैं। वे एक भव धारणकर मोक्ष जायेंगे। वे जानते हैं कि ये ३२ लाख विमान परद्रव्य हैं। इस वैभव की ओर लक्ष्य जाने पर राग उत्पन्न होता है और राग आस्रव है, अतः वे उस राग के भी ज्ञाता ही रहते हैं। स्वयं को स्व-परप्रकाशक ज्ञान स्वयं से उत्पन्न हुआ है, उस ज्ञान में राग व परद्रव्य परज्ञेयपने जानने में आते हैं तो यह कहा जाता है कि राग व परद्रव्य ज्ञान में निमित्त हैं। अहाहा ! उपादान व निमित्त का स्वरूप तो देखो, दोनों सर्वथा स्वतंत्र हैं।

अग्नि से पानी उष्ण हुआ तथा कुम्हार ने घड़ा बनाया – ऐसा मानने-वाले मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि वे राग व परद्रव्य को स्वयं से अभिन्न मानते हैं।

प्रश्न :– तो क्या चावल गरम पानी से नहीं पकता है ?

उत्तर :– भाई, गरम पानी में जो चावल पकते दिखते हैं; वे वस्तुतः गरम पानी से नहीं पकते, किन्तु स्वयं से पकते हैं। चावल की पकी हुई अवस्था स्वयं चावलों से हुई है, पानी से नहीं। पानी भिन्न है, चावल भिन्न है। परद्रव्य की पर्याय को दूसरा परद्रव्य कर ही नहीं सकता – ऐसा सिद्धान्त है।

ज्ञानी को राग आता है, किन्तु उस राग के समय भेदज्ञान करना नहीं पड़ता, बल्कि उसे राग से सहज ही भेदज्ञान होता है। जब राग व अजीव की क्रिया होती है, उससमय सहज ही भेदज्ञान होता है। राग का व कर्मबंध का ज्ञान स्वयं से सहज होता है। कर्म व राग है – इस कारण उसको जाननेवाली ज्ञानपर्याय उत्पन्न होती है – ऐसा नहीं है।

मोहनीय कर्म एक जड़प्रकृति है। यहाँ चारित्रमोहनीय की बात है, क्योंकि ज्ञानी के दर्शनमोहनीय की पर्याय होती ही नहीं है। जो नया

चारित्रमोहनीय कर्म बंधता है, उसमें राग-द्वेष निमित्त कहा जाता है। ज्ञानी के तो जो राग होता है और जो चारित्रमोहनीय कर्म बँधता है, उसका तत्समय स्व-परप्रकाशक ज्ञान सहज स्वयं से होता है, उसको वह राग तथा कर्मबन्ध की पर्याय ज्ञान में निमित्त होती है।

भाई, तत्त्वों की स्थिति स्वतंत्र है। राग किया, इसकारण कर्म को बँधना पड़ा – ऐसा नहीं है। कर्मबंधन तो अजीवतत्त्व है, अजीव की पर्याय अजीव से होती है। तथा परद्रव्य के प्रति सावधानी का जो राग है, वह आस्रव है, दोप है; जो उस दोप का कर्त्ता होता है, वह अज्ञानी है। उसका राग चारित्रमोहनीय कर्मबन्ध का निमित्तकर्त्ता है। ज्ञानी तो उस दोप व चारित्रमोहनीय कर्म की पर्याय का ज्ञाता ही है। उसके ज्ञान में वह दोप तथा जड़-कर्म की पर्याय निमित्त कही जाती है। निमित्त-उपादान की ऐसी स्वतंत्रता है।

निमित्त, उपादान, निश्चय, व्यवहार तथा क्रमबद्धपर्याय; ये पांच विपय वर्तमान में खूब चर्चित हुए हैं। कितने ही तो ऐसा कहते हैं कि पर्यायें क्रमबद्ध मानोगे तो पुरुपार्थ उड़ जायेगा, परन्तु उन्हें वस्तुस्वरूप की खबर नहीं है। अरे भाई, क्रमबद्धपर्याय के सच्चे निर्णय में तो अनन्त पुरुषार्थ आता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी कितने ही व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि केवली भगवान ने जैसा देखा है, वैसा ही होगा; इसमें अपन क्या कर सकते हैं? उनसे पूछते हैं कि केवली भगवान ने जैसा देखा है, वही होगा – यह तो बराबर है; ठीक है, परन्तु केवली भगवान एक समय में तीन लोक व तीन काल की सब बातें जानते हैं – ऐसी ज्ञान की पर्याय की जगत में सत्ता है – इसकी स्वीकृति तुझे है? अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर झुके बिना तीन काल में भी केवलज्ञान की सत्ता की स्वीकृति नहीं हो सकती। जो ऐसा स्वीकार करता है, उसके पाँचों समवाय सिद्ध हो जाते हैं और उसमें पुरुपार्थ भी आ ही जाता है।

आत्मा में अनन्त गुण हैं, उनमें एक ज्ञान गुण है, उसकी एक समय की पर्याय में ऐसी सामर्थ्य है कि वह त्रिकालीद्रव्य, त्रिकालीगुण तथा उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को तथा लोकालोक के समस्त द्रव्य-गुणसहित, उनकी तीनकाल की पर्यायों को एकसाथ एकसमय में जानता है – ऐसी अनन्त सामर्थ्यवान पर्याय की सत्ता की स्वीकृति अंतरंग में पड़े हुए सर्वज्ञ स्वभाव के लक्ष्य बिना सम्भव नहीं है तथा ऐसी पर्याय की सत्ता स्वीकार किये बिना 'भगवान ने जो देखा है, वही होगा,' – ऐसा कैसे कहा जा सकता

हैं? प्रवचनसार गाथा ८० में भी ऐसा ही कहा है कि जो अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, वही अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षय को प्राप्त होता है।

अरहन्त परमात्मा के केवलज्ञान की अचिन्त्य महिमा है, अद्भुत सामर्थ्य है। उनकी एक समय की पर्याय में त्रिकालवर्ती अनन्त सिद्ध सहित समस्त लोकालोक को जानने की सामर्थ्य है। भगवान के सर्वज्ञस्वभाव में जो सामर्थ्य है, वही पर्याय में प्रगट हुई है। अरे भाई, जिस ज्ञानगुण की एक समय की पर्याय में ऐसी ताकत है – ऐसी ही अनन्तानंत पर्यायों का पिण्ड ज्ञानगुण है तथा ऐसा ज्ञानगुण जिस द्रव्य में है, उसी सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा की दृष्टि होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। ऐसे सम्यग्दर्शन के होने पर ही सर्वज्ञ की सच्ची प्रतीति होती है, इसी का नाम पुरुषार्थ है; पुरुषार्थ कोई अन्य वस्तु नहीं है।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि ज्ञानी को राग व कर्म से भिन्न अपने आत्मा का ज्ञान है, इस ज्ञान में रति-अरति आदि परिणाम तथा चारित्र-मोहनीय कर्म की पर्याय निमित्त है। ज्ञानी उसको जानता है, कर्त्ता नहीं है। आत्मा में चारित्रगुण है, आत्मा ऐसे अनन्त गुणों का पिण्ड है, उसमें लीनता-रमणता करना चारित्र है। ऐसे चारित्रवंत ज्ञानी के जो रति का परिणाम होता है, उसको वह मात्र जानता ही है, उसका कर्त्ता नहीं है। वे रति के परिणाम ज्ञान में निमित्तमात्र हैं। अहाहा! आचार्यदेव ने गजब बात की है। उपादान व निमित्त की स्वतन्त्रता की कैसी बलिहारी है।

बनारसी-विलास में आता है कि – "उपादान बल जहां, तहां नहिं निमित्त को दाव।" प्रत्येक द्रव्य की पर्याय स्वयं से स्वतन्त्र उत्पन्न होती है, उसमें निमित्त का कोई कर्तव्य नहीं है अर्थात उसमें निमित्त कुछ करता नहीं है।

आयु नामक जो जड़कर्म है, वह पुद्गलपरमाणु की पर्याय है तथा आयुबन्ध होने में जो भाव निमित्त होते हैं, उन भावों का कर्त्ता अज्ञानी है। उसके वे भाव आयुकर्म के बन्ध की पर्याय में निमित्तकर्त्ता कहे जाते हैं।

ज्ञानी को आयुकर्म तथा जिस भाव से वह आयुकर्म बंधता है, उन दोनों से ही मैं भिन्न हूँ – ऐसा ज्ञान रहता है और उस ज्ञान में आयुकर्म तथा वह भाव निमित्त कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि को देव व मनुष्य आयु का बन्ध होता है, तिर्यञ्च व नरक आयु का बन्ध समकिती को नहीं पड़ता। सम्यग्दृष्टि मनुष्य को देव की

तथा सम्यग्दृष्टि देव को मनुष्य की आयु बंधती है। यह आयुकर्म पुद्गल की पर्याय है। उससमय जो विकार का परिणाम होता है, उस परिणाम का ज्ञानी ज्ञाता ही है। उससमय ज्ञान की जो स्व-परप्रकाशक पर्याय स्वयं से प्रगट हुई, उसमें आयुकर्म तथा उसके निमित्तरूप भाव को ज्ञानी जानता ही है, किन्तु उसका कर्त्ता नहीं होता। भाई! तेरा स्वरूप तो ज्ञान है और ज्ञान स्वभाव से स्व-परप्रकाशक है, इसलिए ज्ञान स्व व पर को यथार्थ जानता है। जानने के अतिरिक्त वह और क्या कर सकता है? जैसे पत्र में लिखते हैं कि 'थोड़ा लिखा, बहुत जानना'; उसीप्रकार सन्त कहते हैं कि भाई, हमने यह संक्षेप में सार लिखा है, थोड़ा लिखा है; इसे ही अपनी बुद्धि से विस्तार देकर यथार्थ भावपूर्वक समझना।

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' – यह द्रव्य का लक्षण तत्त्वार्थसूत्र में कहा है। उत्पाद अपनी पर्याय में अपने से होता है। दया, दान, व्रत आदि के परिणाम आस्रव हैं; वे परिणाम स्वयं से उत्पन्न होते हैं, उनमें जड़कर्म निमित्त है, परन्तु निमित्त से आत्मा के परिणाम उत्पन्न नहीं होते। जड़कर्म कर्त्ता और रागादि आस्रवभाव उनका व्याप्य कर्म नहीं बन सकता।

यहाँ इस गाथा में एक ही बोल में निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार आदि सबका स्पष्टीकरण आ जाता है

१. सातावेदनीय कर्म का जो बंध हुआ, वह बंधरूप पर्याय अपने स्वकाल में हुई। उसमें जो शुभभाव आया, वह अपनें स्वकाल में आया। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की भी सिद्धि हो जाती है।
२. ज्ञानी को वह राग व कर्मबन्धन – तत्सम्बन्धी ज्ञान में उससमय निमित्त है, यह निमित्त सिद्ध हुआ।
३. उस काल में स्व-परप्रकाशक ज्ञान की पर्याय स्वयं से प्रगट हुई, निमित से नहीं; यह उपादान की सिद्धि हुई।
४. जो राग आया वह अशुचि है, जड़ है, दुःखरूप है। उस राग को ज्ञान जानता है, यह व्यवहार सिद्ध हुआ।
५. और उससमय ज्ञान स्व को जानता है, यह निश्चय सिद्ध हुआ।

इसप्रकार व्यवहार से निश्चय हुआ – यह बात भी समाप्त हो जाती है। पर्याय क्रमबद्ध होती है, इससे यह बात भी समाप्त हो जाती है कि पर्याय अक्रम से या आगे-पीछे चाहे जब हो सकती है।

इसप्रकार इस गाथा में पांचों बातों का अच्छा स्पष्टीकरण आ गया है।

अहाहा....! मैं तो ज्ञायकमूर्ति, चैतन्यज्योतिस्वरूप प्रभु ज्ञान के प्रकाश के नूर का पूर हूँ। इसप्रकार स्वरूप के लक्ष्य से आत्मज्ञान होने पर उससमय जिस जाति का राग परिणाम होता है, उसे उसकाल में धर्मी जानता है। राग सम्बन्धी ज्ञान व स्वरूप का ज्ञान, ज्ञान में व्याप्त होकर प्रगट होता है। ज्ञानी उस ज्ञान का कर्त्ता होता है, किन्तु राग व उसकाल में हुए कर्मबन्ध का कर्त्ता नहीं होता। राग व कर्मबन्ध की दशा तो स्वयं से उत्पन्न हुए स्व-परप्रकाशक ज्ञान में निमित्तमात्र है।

भाई, यह तो भगवान के द्वारा निरूपित सिद्धान्त है, इसके समझे बिना धर्म नहीं होगा। केवलज्ञान की एक समय की पर्याय लोकालोक को जानती है तथा अपने स्वद्रव्य को भी जानती है, परन्तु वह पर्याय स्वद्रव्य में प्रवेश करके स्व को नहीं जानती तथा वह पर्याय लोकालोक को स्पर्श करके लोकालोक को नहीं जानती। ज्ञान की एक पर्याय की ऐसी ताकत है। उसीप्रकार श्रद्धा-चारित्र आदि अनन्त गुणों की पर्यायों की ताकत है। ज्ञान की भविष्य की अनन्ती पर्यायें ज्ञानगुण में शक्तिरूप से विद्यमान हैं।

ऐसे अनन्तगुणों का पिण्ड प्रभु आत्मा है। उसकी निर्मल निर्विकल्प प्रतीति सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन अलौकिक वस्तु है। भाई, इस सम्यक्त्व की पर्याय में स्व की व पर की समस्त लोकालोक की यथार्थ प्रतीति समा जाती है। अहो! इस १०१वीं गाथा में ज्ञानानन्द का सागर उछला है, अनन्तगुणों का पिण्ड प्रभु आत्मा निज स्वज्ञेय का ज्ञान करके उसकी प्रतीति करे। उस प्रतीति की महिमा अपरम्पार है। ऐसी प्रतीति हुए बिना जितना भी व्रत, तप आदि करता है, वे सब एक के बिना बिन्दी की तरह ही नगण्य रहते हैं।

अरे भाई! आत्मा अनन्तगुणों का पिण्ड प्रभु है – ऐसी निर्विकल्प प्रतीति ही सर्वप्रथम करने योग्य है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता। सम्यग्दर्शन रहित व्रत-तप बालव्रत व बालतप हैं। प्रभु, सुन तो सही! नाथ, तुझे अपने निजवैभव की खबर नहीं है। तू कभी निजघर में आया ही नहीं है। अतः एक बार आत्मावलोकन कर। पंडित दौलतरामजी ने एक भजन में कहा है :–

हम तो कबहुँ न निज घर आये,
परघर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये।

भगवान, तू निजानन्दस्वरूप निजघर को छोड़कर अब तक राग, निमित्त तथा पुण्य के घर में ही रहा है; वहाँ से निज में आना ही भव का

अन्त करनेवाला निर्ग्रन्थ का मार्ग है। राग की ग्रन्थि से भिन्न होकर पूर्णानन्द के नाथ का अनुभव करना, उसकी प्रतीति – श्रद्धा करना भी निर्ग्रन्थ दशा है। छठवें गुणस्थान की जो निर्ग्रन्थ दशा है, वह तो कोई अलौकिक ही है। उसका क्या कहना, वह तो साक्षात् मुनिदशा है।

जैसे रुई की गाँठ होती है, उसमें रुई ठूंस-ठूंस कर अच्छी तरह दबा-दबाकर भरी होती है; उसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञान व आनन्द की गाँठ है, ज्ञानानन्दस्वरूप घनपिण्ड है। राग से भिन्न होकर अर्थात् राग से भेदज्ञान करके जिसने अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव का वेदन किया है, वह समकिती धर्मी है। ऐसे धर्मात्माओं को अभी अपूर्णता है, अतः राग आये विना नहीं रहता। दया-दान का शुभराग आता है तथा कभी-कभी अशुभराग भी आता है। जिस जाति का रागादिभाव व वासना का परिणाम होता है, उसप्रकार से आत्मा स्व के तथा रागादि के ज्ञानपने से स्वतः परिणमता है। धर्मी को ज्ञाता-दृष्टा के परिणमन में जो रागादि का ज्ञान होता है, वह ज्ञान स्वयं से होता है। उस ज्ञान में रागादिभाव तथा कर्म-बन्धन निमित्त कहा जाता है। धर्मीजीव राग का कर्त्ता नहीं है। वह तो राग के काल में भी अपने व पर के ज्ञानरूप परिणमता हुआ, उस ज्ञान का ही कर्त्ता है।

अरे भाई! यह जीव नवमें ग्रैवेयक भी अनन्तवार गया है और नरक-निगोद के भव भी अनन्त-अनन्त किये हैं। निगोद में तो एक स्वांस में अठारह वार भव धारण किये हैं, यह सब मिथ्यादर्शन का फल है। यद्यपि राग व अजीव आत्मा से भिन्न वस्तुयें हैं, तथापि उन्हें अपनी मानना तथा उनसे लाभ मानना मिथ्यादर्शन है। उस मिथ्यात्व के कारण जीव ने नरक-निगोद के अनन्तभव धारण किये हैं। भाई! जगत को विश्वास हो या न हो, परन्तु किसी के विश्वास करने या न करने से वस्तु बदल नहीं सकती।

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव दया-दान आदि विकल्पों का कर्त्ता नहीं है, ज्ञाता ही है। ऐसे ज्ञानी जीवों को पूर्ण वीतरागता नहीं होने से आयुकर्म बँधता है। सम्यग्दृष्टियों को स्वर्ग की आयु बँधती है, किन्तु उस आयुकर्म के जो परमाणु, बन्ध को प्राप्त होते हैं, वे स्वयं की अपनी योग्यता के कारण बँधते हैं और उससमय धर्मी को जो राग होता है, वह राग व आयुकर्म का बन्ध ज्ञानी के ज्ञान में निमित्त होता है। आचार्यदेव ने गोरस का दृष्टान्त देकर वस्तुस्वरूप को खूब स्पष्ट कर दिया है। ज्ञानी को राग

के काल में आयुकर्म का वन्ध पड़ता है। वह अजीव की पर्याय अजीव से होती है। धर्मीजीव राग व आयुकर्म की पर्याय का ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी तो स्व-परप्रकाशक अपने ज्ञान में व्याप्त होकर स्व-पर को मात्र जानता ही है।

समकिती या साधु जो आत्मज्ञानी धर्मात्मा हैं; वे इस पंचमकाल में स्वर्ग में ही जाते हैं। देवायु की जो कर्मप्रकृति बँधती है, वह परमाणुओं की खुद की योग्यता से बँधती है। उससमय जो राग आता है, उसे आयु के वन्ध में निमित्त कहा जाता है। धर्मीजीव को जो आयु बँधती है तथा उसकाल में जो राग होता है, उसे मात्र उसका ज्ञान होता है। जीव का ज्ञान-दर्शनस्वभाव है। जिसको अपने उस ज्ञान-दर्शनस्वभाव की दृष्टि हुई है, वह धर्मीजीव अपने में उत्पन्न हुए राग व कर्मवन्धन का ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है।

जो समकिती स्वर्ग में होते है, उनको मनुष्यायु का ही वन्ध होता है। मिथ्यादृष्टि जीव तो स्वर्ग से तिर्यञ्चगति में भी जाते हैं, एकेन्द्रिय पर्याय में भी जाते हैं। जो जीव मान्यता में राग व स्वयं को एकमेक करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि अज्ञानी एकेन्द्रिय में चले जाते हैं।

देखो, पृथ्वी में एक-एक कण में असंख्य जीव होते हैं, पानी की एक-एक वूंद में असंख्य जीव हैं, नीम के एक-एक पत्ते में असंख्य जीव है। नीम के पत्ते में असंख्य शरीर हैं तथा एक-एक शरीर में एक-एक जीव है। लहसुन की एक कटकी में अर्थात् सवसे छोटे टुकड़े में असंख्य शरीर है और प्रत्येक शरीर में अनन्तानंत जीव हैं। मिथ्यादृष्टि को अंततः इन पर्यायों में जाना पड़ता है।

भाई! आत्मा के भान विना व्रत, तप, भक्ति आदि के परिणाम करे तो स्वर्ग में जाता है, वहाँ भी आत्मा का भान नहीं होने से आयु का वन्ध पड़ने पर कोई मनुष्य में और कोई पशु आदि पर्यायों में चले जाते है और कोई एकेन्द्रिय में भी चले जाते हैं।

छहढाला में पंडित दौलतरामजी ने भी यही कहा है :—

जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शन विन दुख पाय।
तँह तें चय थावर तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै।।

अज्ञानी जड़ की क्रिया का व राग का कर्त्ता होता है। ज्ञानी राग का व कर्मवन्ध की क्रिया का कर्त्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है।

असंख्यात द्वीप-समुद्रों में एक आठवाँ द्वीप नंदीश्वरद्वीप है, उसमें वावन जिनालयों की अकृत्रिम रचना है, प्रत्येक जिनालय में १०८-१०८ रत्नमय प्रतिमाएँ हैं। अष्टान्हिका पर्व में इन्द्र व इन्द्राणी दर्शन-पूजनादि करने के लिए वहाँ जाते हैं तथा खूव महोत्सव मनाते हैं। प्रसन्नचित्त होकर नाचते हैं, गाते भी हैं; परन्तु सम्यग्दृष्टि होने से उन्हें जो भक्ति का राग आता है, वे उसके कर्त्ता नहीं बनते, ज्ञाता-दृष्टा ही रहते हैं। अज्ञानी राग का भी कर्त्ता बनता है और बाह्य में जो शरीर की क्रिया होती है, उसका भी स्वयं को कर्त्ता मानकर मिथ्यात्व का सेवन करता है।

राजा श्रेणिक क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध किया था। इससमय वे प्रथम नरक में हैं। जब यहाँ थे, तव भगवान के समवशरण में गये थे। वहाँ प्रशस्त राग आया और तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध हो गया, परन्तु वे उस राग के – तीर्थंकर प्रकृति के ज्ञाता ही हैं, कर्त्ता नहीं हैं। जव वहाँ नरक में छह माह आयु के शेष रहेंगे, तव मनुष्यगति की आयु का वन्ध होगा। इससमय भी उनको प्रति समय तीर्थंकर प्रकृति बँध रही है, परन्तु धर्मीजीव राग व कर्मवन्ध की पर्याय के ज्ञाता ही हैं। वे भविष्य की चौवीसी के प्रथम तीर्थंकर होंगे। इससमय व्रत, तप, चारित्र नहीं है, परन्तु स्वानुभव की दशा हुई है। उनको राग की मन्दता के काल में मनुष्य आयु का बन्ध होगा। सम्यग्दृष्टि को अशुभभाव भी आता है, परन्तु अशुभ के काल में उसको आयु का बन्ध नहीं पड़ता। सम्यग्दृष्टि को शुभराग के काल में आयु का बन्ध पड़ता है, यह सम्यग्दर्शन की वलिहारी है। वापू! सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है? लोगों को इसकी महिमा की खवर नहीं है।

अहो! भावलिंगी मुनिवरों ने गजब का काम किया है। उन्हें अन्तर्मुहूर्त में छट्ठा एवं सातवाँ गुणस्थान आता है। छठवें गुणस्थान में शुभविकल्प उठते हैं, किन्तु क्षणभर में उस विकल्प को तोड़कर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में चले जाते हैं। ऐसे भावलिंगी सन्तों को जव छठवें गुणस्थान में शुभभाव आता है, तव आगामी आयु का वन्ध पड़ता है। धर्मी जीव उस शुभभाव को व उसके निमित्त से जो आयुकर्म का वन्ध हुआ, उसको मात्र जानते हैं, करते नहीं है। स्वयं को जानते हुए पर का – राग का ज्ञान स्वयं से ही होता है। ज्ञान की पर्याय तो निज उपादान से उत्पन्न होती है, इसमें राग व परकर्म निमित्त कहे जाते हैं।

सम्यग्दृष्टि नारकी हो या देव हो, वह मनुष्यगति में ही आता है तथा मिथ्यादृष्टि-नारकी मनुष्य व तिर्यञ्चगति में जन्म लेता है। अज्ञानी

अपने में हुए राग को अपना कार्य (कर्तव्य) मानता है। परन्तु भाई ! वस्तु तो ज्ञान-दर्शनस्वरूप है, राग उसका कार्य कैसे हो सकता है ?

मिथ्यादृष्टि देवों में आठवें स्वर्ग तक के देवों को तिर्यंचगति की आयु का वन्ध होता है। सम्यग्दर्शनरहित किये गये व्रत, तप के परिणाम-स्वरूप यदि कोई मिथ्यादृष्टि जीव स्वर्ग में भी गया हो तो वहाँ से चलकर फिर एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में जन्म लेता है। अरे ! सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन में कितना फर्क है, इस वात का लोगों को पता नहीं है।

अढ़ाई द्वीप के वाहर असंख्यात सम्यग्दृष्टि तिर्यंच है। अन्त में स्वयंभू-रमण समुद्र है, उसमें एक हजार योजन लम्बे शरीरवाले मच्छ हैं, उनमें असंख्य तो पंचमगुणस्थानवर्ती तिर्यंच श्रावक-श्राविकायें हैं। स्वानुभव की दशा प्राप्त होने से अन्तर में शान्ति व आनन्द का अनुभव करते हैं। यद्यपि मिथ्यादृष्टियों का प्रमाण असंख्य है, तथापि सम्यग्दृष्टि भी असंख्य हैं। उनको शुभराग के काल में देवगति की आयु का वन्ध पड़ेगा, उन्हें मनुष्य-गति की आयु नहीं वँधती; परन्तु आयु वंध के कारणरूप जो राग है, उस राग के वे कर्त्ता नहीं हैं, ज्ञाता-दृष्टा ही हैं। जो कर्म वँधता है, उसके भी ज्ञाता ही हैं, कर्त्ता नहीं।

कर्मों की १४८ प्रकृतियाँ हैं। धर्मी कहते है कि हम उन कर्मों का फल नहीं भोगते। मूल प्रकृतियाँ आठ हैं, उनके भेद १४८ हैं। उनका जो उदयभाव है, धर्मी उस उदयभाव को नहीं भोगते, वे तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहकर अपने ज्ञान को ही भोगते हैं।

अहो ! यह समयसार भारत का अद्वितीय चक्षु है। समयसार दो है – एक शब्द समयसार अर्थात् शास्त्र – शब्दब्रह्म तथा दूसरा ज्ञान समयसार अर्थात् भगवान आत्मा – चिद्ब्रह्म। यद्यपि शब्दब्रह्म या शब्दसमयसार त्रिलोकीनाथ चैतन्यविम्ब ज्ञानसमयसार का निरूपण करता है, तथापि शब्दसमयसार में ज्ञानसमयसार नहीं है और ज्ञानसमयसार में शब्द समयसार नहीं है। भगवान की ओम्-ध्वनि से ओम्स्वरूप भगवान आत्मा भिन्न है – ऐसा जिसको भान हुआ है, वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि भगवान की ओम-ध्वनि सुनने के राग का भी कर्त्ता नहीं होता, मात्र ज्ञाता ही रहता है। अहो कैसी अलौकिक वात है, ज्ञानी राग व वन्ध का ज्ञाता है – कर्त्ता नहीं।

अव नामकर्म की प्रकृति की वात करते हैं। आठ कर्मों में एक नामकर्म है, उसके ९३ प्रभेद हैं – उसमें एक तीर्थंकर नाम की प्रकृति है।

सम्यग्दृष्टि को उस तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध के कारणभूत षोडशकारण भावनाओं का शुभराग आता है, वह शुभराग भी आस्रव है व दुःखरूप है। आनन्दघनस्वरूप चैतन्यमूर्ति प्रभु भगवान आत्मा का जिसको भान हुआ है, उस समकिती को जिससे तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति बँधे – ऐसा राग आता है और उससे उसे तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध पड़ता है। परन्तु ज्ञानी जीव उस विकल्प का तथा उस प्रकृतिबंध का ज्ञाता-दृष्टा रहता हुआ परिणमता है, कर्त्ता नहीं बनता। अज्ञानी को तीर्थंकर नामकर्म के कारण-रूप शुभभाव आते ही नहीं।

नामकर्म की ९३ प्रकृतियों में तीर्थंकरप्रकृति अंतिम प्रकृति है। जिस भाव से यह तीर्थंकरप्रकृति बंधती है, वह भाव धर्म नहीं है। तथा जिस भाव से धर्म होता है, उस भाव से बन्ध नहीं होता और जिस भाव से वन्ध होता है,उस भाव से धर्म नहीं होता।

अब गोत्रकर्म की बात करते हैं। गोत्रप्रकृति का बँधना जड़प्रकृति का कार्य है, आत्मा का नहीं। गोत्रकर्म के दो भेद हैं – नीचगोत्र, व उच्च-गोत्र। जिस शुभ-अशुभभाव से उच्चगोत्र व नीचगोत्र बँधता है, वह विकार भाव है। उसका कर्त्ता अज्ञानी होता है। इसीकारण गोत्रकर्म की पर्याय में अज्ञानी के विकारीभाव को निमित्तकर्त्ता कहा जाता है। ज्ञानी तो उस प्रकृति व उस काल के परिणाम का ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं।

भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शन का पिण्ड प्रभु है। उसमें से तो केवल ज्ञान-दर्शन व आनन्द की पर्याय ही निकलती है, राग की पर्याय नहीं निकलती; परन्तु निमित्ताधीन बनकर अज्ञानी राग का कर्त्ता होता है तथा कर्त्ता होता हुआ वह मिथ्यादृष्टि है। व्रत, तप इत्यादि करके भले ही वह स्वर्ग चला जावे, किन्तु आत्मा के भान विना जबतक मिथ्यादर्शन रहता है, तबतक उसका संसार में – चतुगति में परिभ्रमण का दुःख नहीं मिटता।

अन्तराय नाम का एक जड़कर्म है; उसकी दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय व वीर्यान्तराय – ऐसी पाँच प्रकृतियाँ हैं। अन्तराय प्रकृति के बन्ध में राग निमित्त है, परन्तु ज्ञानी तो उस प्रकृतिबन्ध का तथा उस काल में जिस राग के निमित्त से वह प्रकृति बँधती है – उस राग का ज्ञाता ही है।

इसप्रकार कर्मसूत्र का विभाग करके कथन करने से सात सूत्र तथा उसके साथ मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन,

काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्श के सोलह सूत्र समझना तथा इसी उपदेश से अन्य का भी विचार करना ।

जिनको तीन कषायों का अभाव है – ऐसे वीतरागी मुनिराज भगवानतुल्य हैं । अहाहा.... ! सच्चे भावलिंगी मुनिवरों को एक सेकण्ड की नींद होती है । एक सेकण्ड से अधिक निद्राधीन रहे, तो मुनिपना नहीं रहता । ऐसे ज्ञानियों को भी पर की ओर लक्ष्य जाने पर किंचित् राग आ जाता है, परन्तु वे उन रागादिभावों के कर्त्ता नहीं हैं, ज्ञाता ही रहते हैं । मुनिराज को छठवें गुणस्थान में आर्त्तध्यान के परिणाम भी हो जाते हैं । पांचवें गुणस्थानवालों को तो रौद्रध्यान के परिणाम भी हो जाते हैं, परन्तु धर्मीजीव उन सब परिणामों के ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं, कर्त्ता नहीं । ज्ञानियों को क्रोधादि परिणाम भी हो जाते हैं, किन्तु उन परिणामों के वे ज्ञाता ही रहते हैं ।

स्व-पर प्रकाशक सकति हमारी, तातैं वचन भेद भ्रम भारी ।
ज्ञेयदशा दुविधा परगासी, निजरूपा पररूपा भासी ।।[1]

ज्ञानी के क्रोध परिणाम होता है, उसका वह ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं । भाई ! सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक वस्तु है । जिसका आनन्द का नाथ चैतन्यस्वरूप भगवान चिदानन्द जागृत हो गया है; उसके क्रोध, मान, माया, लोभ के परिणाम वर्तमान कमजोरी से हो जावें, तो भी वह उनका ज्ञाता-दृष्टा ही है । धर्मी के अन्तर में ज्ञान-दर्शन की धारा सतत् चालू ही रहती है ।

अज्ञानी को जो क्रोध, मान, माया, लोभ के परिणाम होते हैं, वह उनमें तन्मय हो जाता है; इसकारण वह विकार का कर्त्ता होता है तथा जो-जो कर्मबन्धन होते हैं, उनमें उसका विकारीभाव निमित्तकर्त्ता कहा जाता है ।

इसीप्रकार नोकर्म मन-वचन-काय तथा पाँच इन्द्रियों के जो-जो परिणाम होते हैं, धर्मी उनका ज्ञाता ही रहता है । ज्ञानी ज्ञान का ही कर्त्ता है, राग व जड़ के जो-जो परिणाम होते हैं, उनका वह कर्त्ता नहीं है

---

१. समयसार नाटक : साध्य-साधक द्वार, छन्द ४६

समयसार गाथा १०२

अज्ञानी चापि परभावस्य न कर्त्ता स्यात् –

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ।। १०२ ।।

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता ।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ।। १०२ ।।

इह खल्वनादेरज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेन पुद्गलकर्मविपाक-दशाभ्यां मंदतीव्रस्वादाभ्यामचलितविज्ञानघनैकस्वादस्याप्यात्मनः स्वादं भिंदानः शुभमशुभं वा यो यं भावमज्ञानरूपमात्मा करोति स आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य व्यापकत्वाद्भवति कर्ता, स भावोपि च तदा

अब यह कहते हैं कि अज्ञानी भी परद्रव्य के भाव का कर्त्ता नहीं है :–

जो भाव जीव करे शुभाशुभ उस हि का कर्त्ता बने ।
उसका बने वो कर्म, आत्मा उस हि का वेदक बने ।। १०२ ।।

गाथार्थ :– [आत्मा] आत्मा [यं] जिस [शुभम् अशुभम्] शुभ या अशुभ [भावं] (अपने) भाव को [करोति] करता है [तस्य] उस भाव का [सः] वह [खलु] वास्तव में [कर्ता] कर्त्ता होता है, [तत्] वह (भाव) [तस्य] उसका [कर्म] कर्म [भवति] होता है [सः आत्मा तु] और वह आत्मा [तस्य] उसका (उस भावरूप कर्म का) [वेदकः] भोक्ता होता है ।

टीका :– अपना अचलित विज्ञानघनरूप एक स्वाद होने पर भी, इस लोक में जो यह आत्मा अनादिकालीन अज्ञान के कारण पर के और अपने एकत्व के अध्यास से मंद और तीव्र स्वादयुक्त पुद्गलकर्म के विपाक की दो दशाओं के द्वारा अपने (विज्ञानघनरूप) स्वाद को भेदता हुआ अज्ञानरूप शुभ या अशुभ भाव को करता है, वह आत्मा उससमय तन्मयता से उस भावका व्यापक होने से उसका कर्त्ता होता है और वह

तन्मयत्वेन तस्यात्मनो व्याप्यत्वाद् भवति कर्म; स एव चात्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य भावकत्वाद्भवत्यनुभविता, स भावोऽपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो भाव्यत्वाद्भवत्यनुभाव्यः। एवमज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात्।

भाव भी उससमय तन्मयता से उस आत्मा का व्याप्य होने से उसका कर्म होता है; और वही आत्मा उससमय तन्मयता से उस भाव का भावक होने से उसका अनुभव करनेवाला (भोक्ता) होता है और वह भाव भी उससमय तन्मयता से उस आत्मा का भाव्य होने से उसका अनुभाव्य (भोग्य) होता है। इसप्रकार अज्ञानी भी परभाव का कर्त्ता नहीं है।

भावार्थ :— पुद्गलकर्म का उदय होने पर ज्ञानी उसे जानता ही है अर्थात् वह ज्ञान का ही कर्त्ता होता है और अज्ञानी अज्ञान के कारण कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले अपने अज्ञानरूप शुभाशुभ भावों का कर्त्ता होता है। इसप्रकार ज्ञानी अपने ज्ञानरूप भाव का और अज्ञानी अपने अज्ञानरूप भाव का कर्त्ता है, परभाव का कर्त्ता तो ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी नहीं है।

गाथा १०२ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

आत्मा का स्वाद अचलित एक विज्ञानघनरूप है; परन्तु इससे अनजान अज्ञानी प्राणी आत्मा में उत्पन्न हुए शुभ-अशुभ परिणामों को अपना स्वरूप मानते हैं तथा उन्हीं शुभाशुभभावरूप विकार के स्वाद का अनुभव करते है।

दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम मंदकषायरूप हैं तथा अव्रत के परिणाम तीव्र कषायरूप हैं। वे दोनों ही परिणाम पुद्गल के विपाक हैं, आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। अज्ञानी को उस मंद व तीव्र राग का अलग-अलग स्वाद आता है। भगवान आत्मा विज्ञानघन प्रभु नित्य-आनन्दस्वरूप एकरूप है। उसका स्वाद न लेकर शुभरागरूप मन्द परिणामों का स्वाद लेता है।

जीव को दाल, भात, लड्डू आदि का स्वाद नहीं आता तथा करोड़ों रुपयों का धन एवं रूपवान सुन्दर स्त्री के भोगों का स्वाद भी जीव को नहीं आता। ये सब तो जड़ – मिट्टी – धूल हैं; परन्तु अज्ञानी को अपने विज्ञानघनस्वरूप आत्मा की दृष्टि नहीं होने से वह बाहर की सामग्री में

अनुरागरूप अशुभराग उत्पन्न करता है और अशुभराग का स्वाद लेता है – यही उसका मिथ्यादर्शन है।

जैसे पानी का प्रवाह वह रहा हो, वीच में टीला आ जावे तो पानी के प्रवाह की दो धारायें पड़ जाती हैं; इसीप्रकार भगवान आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द का एकरूप प्रवाह है, उसमें अज्ञानी पुद्‌गलकर्म के विपाकरूप तीव्र व मन्द राग के स्वादवाली दो दशाओं के कारण दो भाग करके राग का स्वाद लेता है; जवकि धर्मी की दृष्टि आनन्दघनप्रभु आत्मा पर होती है, इसलिए वह निराकुल आनन्द का स्वाद लेता है – इसी का नाम धर्म है। सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के एकरूप आनन्द के स्वाद को भेदकर अज्ञानी शुभाशुभ राग का—विकार का स्वाद लेता है, वह मिथ्यादर्शन है।

दया, दान, व्रतादि शुभभाव तथा हिंसा, झूठ, चोरी आदि अशुभ-भाव – ये दोनों भाव अज्ञानभाव हैं, क्योंकि ये आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। अज्ञानी जीव घर-वार, कुटुम्व-परिवार, पैसा, आवरू, इज्जत, खाना-पीना इत्यादि अशुभभावों में अटक गया है। उनमें से हटकर कदाचित् साधु हो जावे, तो शुभभावों में अटक जाता है, शुभभाव की क्रिया में धर्म मानने लगता है। पहले अशुभभावों को अपना कर्त्तव्य मानता था, अव शुभभाव को कर्त्तव्य समझता है; परन्तु भाई! शुभ व अशुभ – दोनों भाव अज्ञान-रूप हैं, शुभ व अशुभ – दोनों में ज्ञान की – चैतन्य की किरण नहीं है दोनों भाव अचेतन हैं, क्योंकि वे चैतन्य की जाति के नहीं हैं। वे भाव न स्वयं को जानते हैं और न निकटवर्ती भगवान आत्मा को जानते हैं; वे तो चैतन्य के द्वारा जाने जाते हैं, इसलिए वे अचेतन हैं, अज्ञानरूप हैं। यह वात पहले ७२वीं गाथा में भी आ गई है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा पर का कर्त्ता तो है ही नहीं; परन्तु जो शुभ व अशुभ भावों का भी कर्त्ता वनता है, वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। शुभ व अशुभ – दोनों भाव पुद्‌गलकर्म के विपाक से, निमित्त से उत्पन्न होनेवाली दशायें हैं। दोनों का स्वाद कपायला – कलुषित है। शुभभाव का स्वाद कम कपायला है तथा अशुभभाव का स्वाद अधिक कपायला – कलुषित है।

जिसको विज्ञानघनस्वरूप आत्मा की दृष्टि और उसके आनन्द का अनुभव नहीं है, वह पुण्य व पाप के दो भाग करके तीव्र व मंद विकार का स्वाद लेता है। लाखों के मकान में रहने से जो हर्ष होता है, वह अशुभभाव

पाप है। उस अशुभभाव का स्वाद मीठा नहीं है, अत्यन्त कड़वा है तथा दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के जो शुभभाव होते हैं, उनका स्वाद भी मीठा नहीं है, कपायला है। आत्मा के एकरूप निराकुल आनन्द का स्वाद ही मिष्ट व इष्ट है।

यह आत्मा के उस अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव की बात चल रही है, जो अनन्तकाल में आजतक प्राप्त नहीं हुआ। अहाहा.......! आत्मा आनन्दकन्द प्रभु सुखकन्द है। जैसे शकरकन्द के ऊपर की छाल शकरकन्द नहीं है। छाल को निकालने पर अन्दर जो मिठास का पिण्ड है, वह शकरकन्द है; उसीप्रकार भगवान आत्मा में जो शुभाशुभभाव होते हैं, वे ऊपर की छालवत् हैं, वे आत्मा नहीं हैं। शुभाशुभभाव से भिन्न अन्दर जो आनन्दकन्द प्रभु विराजता है, वह आत्मा है। शुभाशुभभाव का लक्ष्य छोड़कर अन्तर्दृष्टि करने से जो आत्मानुभूति प्रगट होती है – वही सम्यग्दर्शन है, धर्म है।

शुभराग में धर्म मानने की दृष्टि ही मिथ्यात्व है। मिथ्यादृष्टि जीव विज्ञानघनस्वभाव के स्वाद को भेदकर – छेदकर शुभाशुभभाव के स्वाद का वेदन करता है; परन्तु वह भाव अज्ञानरूप है। २८ मूलगुण के पालन का शुभभाव अज्ञानरूप है तथा उसका स्वाद जहर समान कलुषित है। भाई! जो शुभभाव आत्मा के निराकुल आनन्द के स्वाद को भेदकर उत्पन्न होता है, उस शुभभाव का स्वाद आनन्दरूप कैसे हो सकता है? अज्ञानी उस शुभभाव का कर्त्ता होता है।

अरे भाई! जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बँधती है, वह भाव भी अज्ञानरूप है तथा उसका स्वाद कलुषित है। वह आत्मा की वस्तु नहीं है।

नाटक समयसार में आता है –

करै करम सोई करतारा। जो जानै सो जाननहारा ॥
जो करता नहि जानै सोई। जानै सो करता नहि होई ॥

अज्ञानी अपने नित्यानन्द सुखकन्द प्रभु आत्मा के आनन्द का स्वाद छोड़कर शुभाशुभभाव का कर्त्ता होता है, ज्ञाता नहीं रहता। जबकि धर्मी समकिती जीव की नजर आनन्दकन्द प्रभु आत्मा पर है। उसको तो एकरूप आनन्द का स्वाद आता है। भगवान! एकबार सुन तो सही; नाथ! तेरी वस्तु तेरे ही अन्दर शुभाशुभभाव से भिन्न अमृतस्वरूप है। भगवान आत्मा व्रत व अव्रतभावों से भिन्न है। जिसको ऐसी ज्ञानानन्दस्वरूप अपनी वस्तु का भान हुआ है, उस धर्मी को भी राग आता है; परन्तु वह राग का ज्ञाता रहता है, कर्त्ता नहीं होता।

१. समयसार नाटक : कर्त्ताकर्म क्रिया द्वार, छन्द ३३

यह गाथा दो हजार वर्ष पूर्व रची गई थी, उसके एक हजार वर्ष बाद आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने इसकी आत्मख्याति टीका करके अमृतरस का दोहन किया है। गाथा में जो भाव भरा था, आचार्यदेव ने उसभाव को टीका में एकदम स्पष्ट कर दिया है। कहते हैं कि अज्ञानी शुभाशुभभावरूप कषाय का स्वाद लेता है तथा उस भाव का वह कर्त्ता होता है। शुभभाव कषाय है तथा उसका स्वाद कलुषित है।

छहढाला में कहा है :

"यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।"

शुभराग भी आग है, स्वभाव को जलानेवाली आग है, इसलिए राग से भिन्न भगवान आत्मा की दृष्टि करके समतामृतरूप धर्म का सेवन कर!

७२ वीं गाथा में भी आत्मा को भगवान कहकर बुलाया है, परन्तु यह अज्ञानी उस भगवान आत्मा के एकरूप आनन्द के स्वाद को छोड़कर शुभ या अशुभभाव का, मन्द या तीव्र राग का स्वाद लेता है; वह धर्म नहीं है, वल्कि अधर्म है। भगवान आत्मा तो शुद्धोपयोग द्वारा प्राप्त होता है, तथा वह शुद्धोपयोग ही धर्म है। अज्ञानी को आत्मा की खवर नहीं है, अतः वह आत्मा के स्वाद को भेदता हुआ अज्ञानरूप शुभाशुभभावों को करता है तथा उससमय में वह आत्मा तन्मयपने से उन भावों का व्यापक होने से उनका कर्त्ता होता है। अज्ञानी शुभाशुभराग को अपना मानकर उस भाव का तन्मयपने से कर्त्ता होता है। अज्ञानी शुभाशुभराग में एकाकार हो गया है।

मुनिराज ने ढिंढोरा पीट-पीटकर सत्य वात को जगत-जाहिर कर दिया है। उन्होंने यह विल्कुल परवाह नहीं की कि दुनियाँ हमारी इस बात को मानेगी कि नहीं ? वे कहते हैं कि अपने शुद्ध ज्ञायकभाव को भूलकर अज्ञानी शुभभाव व अशुभभाव में तन्मय – एकाकार होता है, इसप्रकार वह उस भाव का कर्त्ता होता है और वह भाव भी उससमय तन्मयपने से उस आत्मा का व्याप्य होने से उसका कर्म बनता है। ज्ञानी तो शुभभाव का भी कर्त्ता नहीं है तो फिर जड़ के कर्तृत्व की तो बात ही कहाँ रही ? अज्ञानी कर्त्ता होकर जहाँ-तहाँ 'ये मैंने किया, ये मैंने किया' – ऐसा पर में अपना कर्तृत्व मानता है। उससे यहाँ कहते हैं कि भाई ! आत्मा तो पर का कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु तू फिर भी शुभाशुभभाव का कर्त्ता बनता है, सो यह तेरा अज्ञान है, मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादृष्टि जीव ही शुभाशुभभावों का कर्त्ता होता है।

अज्ञानी शुभ-अशुभभावों का भोक्ता है। विकारीभावों का भावक होने से वह भोक्ता है। आत्मा शरीर का भोक्ता नहीं है। शरीर तो जड़-मिट्टी है, उसे कैसे भोगेगा ? अज्ञानी शरीर को नहीं भोगता, परन्तु शरीर की क्रिया के काल में जो शुभाशुभभाव होता है, उसमें तन्मय होकर उस भाव का वह जीव भोक्ता होता है।

सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती के ९६,००० रानियाँ होती हैं। उसके लक्ष्य से जो विषयवासना का राग होता है, ज्ञानी उसका कर्त्ता नहीं है, ज्ञाता ही है। धर्मी के ज्ञान में वह जड़ की क्रिया व राग निमित्त हैं। धर्मी आत्मा जड़ की क्रिया व उससमय के राग का निमित्त नहीं है, किन्तु वह धर्मी के ज्ञान में निमित्त है।

ज्ञानी ने तो गुलाट खायी है यानि अपना दृष्टिकोण ही पलट दिया है। जबतक पर्यायबुद्धि थी, तबतक राग का कर्त्ता व भोक्ता था। पर का तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी कर्त्ता-भोक्ता नहीं है; परन्तु जहाँ पर्यायबुद्धि छूटी व ज्ञायक का भान हुआ, तभी से वह ज्ञान का कर्ता व भोक्ता होता है तथा जो राग व जड़ की क्रिया होती है, वह उसके ज्ञान में निमित्त मात्र है। अब वह आनन्द का कर्त्ता व भोक्ता है; राग का कर्त्ता व भोक्ता नहीं है।

भरतचक्रवर्ती छहखण्ड के स्वामी थे, सम्यग्दृष्टि व ज्ञानी थे। एक स्वर्णकार को संदेह हुआ कि छियानवै हजार रानियाँ व इतने वैभव का ढेर होते हुए भी भरतचक्रवर्ती को ज्ञानी कहा जाता है – यह कैसे संभव हो सकता है ? भरतजी को जब यह बात मालूम पड़ी तो उन्होंने उस स्वर्णकार को बुलाया और कहा – यह तेल का भरा कटोरा हाथ में लेकर इस अयोध्यानगरी की शोभा देखने के लिए जाओ। नगरी की शोभा देखते हुए तेल की एक बून्द भी जमीन पर नहीं गिरे – इस बात का ध्यान रखना। यदि एक बूंद भी गिर गई तो तलवार से तत्काल सिर काट दिया जायेगा। स्वर्णकार सारी नगरी घूमकर वापिस आ गया, तब भरतजी ने पूछा – बताओ भाई ! नगरी की शोभा कैसी है ? तुमने क्या-क्या देखा ? तब स्वर्णकार ने कहा – महाराज ! मेरा लक्ष्य तो इस कटोरे पर था, नगर की शोभा की तो मुझे कुछ भी खबर नहीं है। तो भरतजी ने कहा – भाई ! इसीप्रकार हमारा लक्ष्य आत्मा में लगा है, यह बाहर का वैभव क्या है ? इस बात की हमको खबर नहीं है। हमारा लक्ष्य आत्मा के वैभव पर है, बाहर के वैभव पर नहीं है।

अज्ञानी शुभ-अशुभभाव का कर्त्ता व भोक्ता है, परन्तु पर का कर्त्ता या भोक्ता नहीं है। ज्ञानी तो राग का भी कर्त्ता-भोक्ता नहीं है, ज्ञाता-दृष्टा ही है, वहाँ पर के कर्त्ता-भोक्तापने की तो बात ही क्या है?

ये धन-सम्पत्ति, बाग-बंगले, मोटर-गाड़ी, रोटी-दाल-भात-हलुआ, दाख-बदाम आदि किसी भी वस्तु को आत्मा नहीं भोगता, किन्तु अज्ञानी को उस समय जो अशुभराग होता है, वह उसका भोक्ता है। ज्ञानी तो स्वभाव दृष्टिवान होने से उस काल में हुए उस राग को भी नहीं भोगता। अहाहा....? पुण्य-पाप के भाव अज्ञानी के भाव्य हैं तथा अज्ञानी उनका भावक – भोक्ता है, परन्तु अज्ञानी परवस्तु का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है।

ज्ञानी को पूजा-भक्ति आदि शुभभाव आते हैं; परन्तु वह उनका ज्ञाता ही है, कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। अहाहा....! ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की जिसे दृष्टि हुई है, वह ज्ञानी तो अपने ज्ञानानन्दस्वरूप का कर्त्ता व भोक्ता है; परन्तु जिसे अपने ज्ञानानन्द स्वभाव का भान नहीं है, वह अज्ञानी राग का कर्त्ता व भोक्ता होता है। पर का तो अज्ञानी भी कर्त्ता नहीं है।

गाथा १०२ के भावार्थ पर प्रवचन

भगवान आत्मा निर्मलानन्द शुद्ध चिदानन्द प्रभु है। ऐसे आत्मप्रभु की जिसको श्रद्धा हुई, स्वभाव में अन्तर्दृष्टि हुई; वह ज्ञानी कर्म के उदय को मात्र जानता ही है, उसमें तन्मय नहीं होता। ज्ञानी ऐसा जानता है कि ये जो शुभाशुभभाव होते हैं, वह कर्म का विपाक है, धर्म नहीं है; इसप्रकार वह शुभाशुभभाव से निज को भिन्न जानता है। सम्यग्दृष्टि भले ही गृहस्थाश्रम में हो, किन्तु उसे जो शुभाशुभभाव होते हैं; उन्हें वह पुद्गलकर्म के फलरूप में अपने से भिन्न जानता है। अहाहा....! मैं तो राग से भिन्न, कर्म से भिन्न, चिदानन्दघन प्रभु आत्मा हूँ – ऐसा जिसको भान हुआ है, वह धर्मीजीव अपनी वर्तमान भूमिका में हुए शुभाशुभभावों को मात्र जानता ही है, उन्हें अपना कर्तव्य नहीं मानता।

पंच महाव्रत के परिणाम कर्म के विपाक के फल हैं, ये आत्मा नहीं हैं। ज्ञानी इन शुभराग के परिणामों को मात्र जानता ही है। ज्ञानी अपने ज्ञानस्वरूप में रहकर उसे जानता है। ज्ञानी तो ज्ञान का कर्त्ता है, आनन्द का कर्त्ता है। अहाहा....! अपना स्वरूप तो शुद्ध प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप है – ऐसा जिसको अनुभव हुआ है, वह धर्मीजीव अपनी ज्ञान व आनन्द की

पर्याय का कर्त्ता है, किन्तु महाव्रतादिरूप राग का कर्त्ता नहीं है। राग का कर्त्ता तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टिजीव है।

जिसको अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा का भान नहीं है, वह कर्मोदय के निमित्त से हुए अज्ञानरूप शुभाशुभभावों का कर्त्ता होता है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि व्रत-अव्रत के परिणाम मेरी वस्तु है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि कर्मोदय से हुए भाव हैं। अज्ञानी उन्हें अपना भाव मानता है, अतः वह उनका कर्त्ता होता है। जो बाह्य क्रियाकाण्ड में धर्म मानते हैं, उनका श्रद्धान झूठा है। वे अज्ञानी, पाखण्डी हैं, ज्ञानी तो रागादि परिणामों के ज्ञाता ही रहते हैं, वे उनके कर्त्ता नहीं होते। परभावों का तथा परद्रव्य के परिणामों का कर्त्ता तो ज्ञानी व अज्ञानी कोई भी नहीं है।

मोहि कब ऐसा दिन आय है।

मोहि कब ऐसा दिन आय है ।।टेक ।।
सकल विभाव अभाव होहिंगे, विकलपता मिट जाय है ।।१।।
यह परमातम यह मम आतम, भेदबुद्धि न रहाय है।
औरनि की का बात चलावै, भेदविज्ञान पलाय है ।।२।।
जानैं आप आप मैं आपो, सो व्यवहार विलाय है।
नय परमान निखेपन माहीं, एक न औसर पाय है ।।३।।
दरसन ज्ञान चरन के विकलप, कहो कहां ठहराय है।
'द्यानत' चेतन चेतन ह्वै है, पुद्गल पुदगल थाय है ।।४।।

—आध्यात्मिक कविवर द्यानतराय

समयसार गाथा १०३

न च परभावः केनापि कर्तुं पार्येत –

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो तह तं परिणामए दव्वं ।। १०३ ।।

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिंस्तु न संक्रामति द्रव्ये ।
सोऽन्यदसंक्रांतः कथं तत्परिणामयति द्रव्यम् ।। १०३ ।।

इह किल यो यावान् कश्चिद्वस्तुविशेषो यस्मिन् यावति कस्मिंश्चिच्चिदात्मन्यचिदात्मनि वा द्रव्ये गुणे च स्वरसत एवानादित एव वृत्तः; स खल्वचलितस्य वस्तुस्थितिसीम्नो भेत्तुमशक्यत्वात्तस्मिन्नेव वर्तेत न पुनः

अब यह कहते हैं कि परभाव को कोई (द्रव्य) नहीं कर सकता :–

जो द्रव्य जो गुण-द्रव्य में, परद्रव्यरूप न संक्रमे ।
अनसंक्रमा किस भाँति वह परद्रव्य प्रणमावे अरे ।।१०३।।

गाथार्थ :– [**यः**] जो वस्तु (अर्थात् द्रव्य) [**यस्मिन् द्रव्ये**] जिस द्रव्य में और [**गुणे**] गुण में वर्तती है, [**सः**] वह [**अन्यस्मिन् तु**] अन्य [**द्रव्ये**] द्रव्य में तथा गुण में [**न संक्रामति**] संक्रमण को प्राप्त नहीं होती (बदलकर अन्य में नही मिल जाती); [**अन्यत् असंक्रान्तः**] अन्यरूप से संक्रमण को प्राप्त न होती हुई [**सः**] वह (वस्तु), [**तत् द्रव्यम्**] अन्य वस्तु को [**कथं**] कैसे [**परिणामयति**] परिणमन करा सकती है ।

टीका :– जगत् में जो कोई जितनी वस्तु जिस किसी जितने चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्य में और गुण में निज रस से ही अनादि से ही वर्तती है, वह वास्तव में अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा को तोड़ना अशक्य होने से उसी में (अपने उतने द्रव्य-गुण में ही) वर्तती है; परन्तु द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमण को प्राप्त नहीं होती और द्रव्यान्तर या गुणांतर-

द्रव्यांतरं गुणांतरं वा संक्रामेत । द्रव्यातरं गुणांतरं वाऽसंक्रामंश्च कथंत्वन्यं वस्तुविशेषं परिणामयेत् ? अतः परभावः केनापि न कर्तुं पार्येत ।

रूप संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह अन्य वस्तु को कैसे परिणमित करा सकती है ? (कभी नहीं करा सकती) इसलिये परभाव किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता ।

भावार्थ :– जो द्रव्य स्वभाव है उसे कोई नहीं वदल सकता, यह वस्तु की मर्यादा है ।

गाथा १०३ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

यह गाथा वहुत ही सरस है । आचार्य कहते हैं कि जैसे जगत को ईश्वर का कर्तृत्व माननेवाले अन्य ईश्वरवादी मिथ्यादृष्टि हैं, उसीप्रकार जैन सम्प्रदाय में रहकर कोई ऐसा माने कि 'मैं शरीर को हिला सकता हूँ, भाषा वोल सकता हूँ, परजीवों की दया पाल सकता हूँ' तो वह भी मिथ्यादृष्टि ही है । भाई ! पंचमहाव्रत के परिणाम शुभभाव हैं, आस्रव हैं, जड़ – अचेतन हैं, जहर हैं । मोक्ष-अविकार में शुभभावों को विपकुम्भ कहा है । प्रभु ! तेरी वस्तु तो अमृत का सागर अनाकुल आनन्द का रसकन्द है तथा शुभभाव तो इससे विपरीत जहर हैं । जो ऐसे शुभभावों का, जहर का कर्त्ता होता है, वह झूठा, मिथ्यादृष्टि है ।

जगत् में जितनी भी चेतन व अचेतन वस्तुएं हैं, वे सव अपने द्रव्य व गुणों में अनादि से, निजरस से ही वर्तती हैं । आत्मा अपने गुण-पर्यायों में वर्तता है तथा जड़ अपने गुण-पर्यायों में । यह शरीर जो हलन-चलन करता है, यह शरीर की पर्याय है । शरीर के परमाणु शरीर की पर्याय में वर्तते हैं, आत्मा उसे हला-चला सकता है – ऐसा मानना सर्वथा मिथ्या है ।

भाई ! वीतराग का मार्ग वहुत सूक्ष्म है । वर्तमान में यथार्थ मार्ग लुप्त हो गया है । लोगों ने वाहर से वहुत विपरीत मान रखा है । यहाँ तो यह कहते है कि चैतन्यस्वरूप आत्मा अनादि से ही निजरस से निजद्रव्य में, निजगुण में व निजपर्याय में वर्तता है । चाहे निर्मल पर्याय हो या विकारी पर्याय हो, आत्मा तो निजरस से ही अपनी पर्याय में वर्त रहा है – यह महासिद्धान्त है ।

जगत में संख्या अपेक्षा चेतन व अचेतन जितनी भी वस्तुएं हैं, प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य में व अपनी पर्याय में अनादि से ही वर्त रही है । प्रत्येक आत्मा व प्रत्येक परमाणु अपने द्रव्य-गुण-पर्यायों में ही अनादि से वर्त रहे हैं । तात्पर्य यह है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्यद्रव्य की पर्याय का कर्त्ता

नहीं है तथा न कोई भी द्रव्य किसी अन्यद्रव्य की पर्याय में वर्तता है; इसकारण आत्मा शरीर की क्रिया कर ही नहीं सकता। ये पैसा-धन जड़ (अजीव) तत्त्व है। वह अपने द्रव्य व अपनी पर्याय में वर्तता है। उसका आना-जाना उसकी स्वयं की जड़ क्रिया है। फिर भी कोई ऐसा माने कि 'मैं पैसा कमा सकता हूँ तथा अपनी मर्जी से इसे खर्च कर सकता हूँ' – तो यह उसका मिथ्या भ्रम है, अज्ञान है। ज्ञानी हो या अज्ञानी, कोई भी जीव पर का कुछ नहीं कर सकता। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है तथा यही भगवान ने जाना है और कहा है। अज्ञानी को इस बात की खबर नहीं है, तो क्या उसके अज्ञान से वस्तुस्वरूप बदल जायेगा, अन्यथा हो जायेगा ? नहीं, ऐसा नहीं होता।

'मैं देश की सेवा करता हूँ, अन्य जीवों को पालता-पोसता हूँ, उनपर दया करता हूँ, उनकी रक्षा करता हूँ, दूसरों को समझा सकता हूँ, उन्हें उपदेश देता हूँ इत्यादि प्रकार से मैं परद्रव्य की क्रिया करता हूँ' – ऐसा अज्ञानी को भ्रम है। उनसे कहते हैं कि अरे भाई ! उपदेश की भाषा तो जड़ है। भाषा के परमाणु अपने द्रव्य में एवं अपनी पर्याय में वर्तते हैं। उन्हें आत्मा कैसे कर सकता है ? नहीं कर सकता ?

ये दाल-भात, रोटी-शाकादि परद्रव्य की क्रियाओं को आत्मा नहीं करता। ये रोटी के टुकड़े उंगलियों से नहीं होते, क्योंकि उंगलियाँ अपने द्रव्य व पर्याय में वर्तती हैं तथा रोटी के जो टुकड़े होते हैं, वे रजकण अपने द्रव्य व पर्याय में वर्तते हैं। रोटियों के जो टुकड़े होते हैं, उन्हें आत्मा तो करता नहीं हैं, तथा वे उंगलियों से भी नहीं होते, क्योंकि एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में क्या कर सकता है ? यह वीतराग का कोई अजब रहस्य है।

प्रश्न :– 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' यह जो तत्त्वार्थसूत्र में कहा है – इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :– वहाँ उपग्रह – उपकार का अर्थ निमित्तमात्र है। प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय स्वयं से होती है, उसमें जो बाह्य वस्तु निमित्त होती है, उसे उपग्रह कहा जाता है। पर का उपकार (पर का कार्य) जीव कर सकता है – ऐसा वहाँ अर्थ नहीं है। सर्वार्थसिद्धिटीका की वचनिका में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने उपग्रह का अर्थ निमित्त ही किया है। उपग्रह शब्द से वहाँ निमित्त का ज्ञान कराया है। जीव पर का उपकार (कार्य) कभी करता ही नहीं है, कर ही नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ चाहे वह जड़ हो या चेतन, सब अपने-अपने द्रव्य व अपनी वर्तमान पर्याय में वर्तते हैं – रहते हैं। एक द्रव्य की पर्याय कोई अन्य द्रव्य करे या दूसरा

द्रव्य वर्तावे – ऐसा त्रिकाल संभव नहीं है। भाई! नवतत्त्व की भिन्नता जैसी है, वैसी अज्ञानी को भासती नहीं है, तो उसे सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो? नहीं हो सकता।

जगत में अनन्त आत्मायें हैं तथा अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु रजकण हैं। प्रत्येक रजकण स्वयं से हैं, पर से नहीं है। प्रत्येक परमाणु में कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरणरूप छह शक्तियाँ हैं। इससे वे प्रत्येक परमाणु अपनी शक्ति से अपनी पर्याय में प्रवर्तते हैं। पर की पर्याय को स्वयं वर्तावे और अपनी पर्याय को पर वर्तावे – ऐसा त्रिकाल सम्भव नहीं है।

देखो, इस परमागम मन्दिर में संगमरमर पर पौने चार लाख अक्षर खुदे हैं। इन अक्षरों की खुदाई करने की मशीन जो इटली से तीस हजार रुपये खर्च करके मंगाई है, उस मशीन का एक-एक रजकण अपनी शक्ति से निजरस से ही अपनी पर्याय में वर्तता है। मशीन से जो अक्षर खुदे हैं न? वे मशीन से नहीं खुदे हैं। अहाहा....! कैसी विचित्र बात है। जो अक्षर मशीन से खोदे गये हैं, वे मशीन से नहीं खुदे हैं और न किसी व्यक्ति (आत्मा) से खुदे हैं। गजब बात है। जगत में जितनी भी वस्तुएं है, वे सब निजरस से ही अर्थात् अपनी निजशक्ति से ही अपने-अपने वर्तमान में वर्तती हुई प्रत्येक पर्याय में वर्त रही हैं। भाई! बहुत सूक्ष्म बात है, पर समझने जैसी है और समझ में आ सके – ऐसी है। अर्थात् कठिन नहीं है और सुखी होने के लिए आवश्यक है।

प्रश्न :– एक परमाणु दूसरे परमाणु के कार्य में, एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के कार्य में प्रभाव डालता है न?

उत्तर :– अरे भगवन्! ये प्रभाव क्या वस्तु है? द्रव्य है, गुण है या पर्याय है? यहाँ तो कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य करता है – ऐसा जो माने उसके मूल में ही भूल है। जैसे एक और दो बराबर तीन होते हैं, इसके बदले कोई एक और दो बराबर चार कहे और फिर चार चौक सोलह, सोलह दूनी बत्तीस – ऐसा पहाड़ा पढ़े, किन्तु जब मूल में ही भूल हो गई तो पहाड़ा पढ़ने से वह भूल तो बढ़ती ही चली जायेगी।

उसीप्रकार 'मैं पर का कार्य कर सकता हूँ' – ऐसा माननेवाले की मूल में ही भूल है, इसकारण 'मैं व्यापार-धंधा करता हूँ, कुटुम्ब का भरण-पोषण करता हूँ, बालबच्चों को पढ़ाता हूँ, पर की दया का पालन करता हूँ, इत्यादि पर का कार्य करता हूँ' – यह भूल चली ही आ रही है। भाई! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य करता है, उसके कार्य में अपना प्रभाव

डालता है – यह बात है ही नहीं; क्योंकि प्रभाव द्रव्य, गुण या पर्याय से कोई भिन्न वस्तु ही नहीं।

अरे भाई ! जड़ या चेतन प्रत्येक द्रव्य अपनी शक्ति व अपनी पर्याय में अनादि से निजरस से ही वर्त रही है। वस्तुतः यह अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा है। इस मर्यादा को तोड़ना अशक्य होने से वस्तु अपने द्रव्य-गुणों की मर्यादा में ही रहती है द्रव्यान्तर या गुणान्तर रूप संक्रमण नहीं करती।

देखो, यह सिद्धान्त ! अचलित वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि परमाणु परमाणु की पर्याय में वर्ते व आत्मा आत्मा की पर्याय में वर्ते। आत्मा कर्मों को बाँधे या कर्म आत्मा में विकार कराये – ऐसा वस्तुस्वरूप ही नहीं है। कर्मों से जीव में विकार होता है – यह बात सत्यार्थ नहीं है, क्योंकि कर्म जड़ परमाणु में वर्तते हैं व विकार आत्मा की पर्याय में वर्तता है। विकारी पर्याय को जड़कर्म करे व जड़कर्मों की प्रकृति को आत्मा करे – ऐसा तीन काल में भी कभी सम्भव नहीं है। कितने ही इस बात को सुनकर बौखला जाते हैं; परन्तु भाई ! यह तो जैनशासन का मूल सिद्धान्त है। एक द्रव्य की पर्याय दूसरा द्रव्य तीन काल में नहीं कर सकता – यह जिनशासन का अविचल सिद्धान्त है।

इसलिए आत्मा की पर्याय दूसरे से होती है तथा दूसरे की पर्याय आत्मा से होती है – यह बात बिल्कुल सत्य नहीं है।

जो बात भगवान की दिव्यध्वनि में आयी है, वही बात श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कही है। उसी की आचार्य अमृतचन्द्र ने यह टीका की है। वे कहते हैं कि प्रभु ! तू एक बार सुन तो सही। अचलित वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि आत्मा व परमाणु निजरस से ही अपनी अपनी पर्याय में वर्त रहे हैं। एक दूसरे का कुछ कर सके – ऐसी वस्तुस्थिति ही नहीं है। वस्तुस्वरूप की मर्यादा तोड़ना अशक्य है, तथापि अपनी पर्याय को दूसरा करे तथा दूसरे की पर्याय को मैं करूँ ऐसा जो माने, वह अचलित वस्तुस्थिति को अभिप्राय में – अपनी मान्यता में तोड़ता है, इसलिए वह मूढ़ है।

यह समयसार सत्य की प्रसिद्धि करनेवाला सत्शास्त्र है। यहाँ कहते हैं कि ये मस्तक के परमाणु जीव के आधार से नहीं रहते तथा ऊपर के परमाणु नीचे के परमाणुओं के आधार पर नहीं रहते। प्रत्येक परमाणु में कर्त्ता-कर्म आदि षट्कारकरूप शक्ति रहती है तथा उससे प्रत्येक परमाणु

अपने कारण से अपनी पर्याय में वर्त रहे हैं, उसको कोई पर का आधार नहीं है। देह में से जीव चले जाने पर देह ढल जाती है, वह देह की अवस्था देह के कारण से हुई है, जीव के कारण नहीं हुई। जीव हैं, इसलिये देह चलती फिरती है, और जीव के निकल जाने पर ढह जाती है – यह मान्यता यथार्थ नहीं है। देह की प्रत्येक अवस्था में देह के परमाणु वर्त रहे हैं, इसमें जीव का कोई कार्य नहीं है।

आत्मा को खूब विशेषण लगाये जाते हैं, जैसे कि अनन्तगुणों के वैभव की विभूति, परमेश्वर पुरुषार्थ का पिण्ड, गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय, स्वभाव का सागर, शान्ति का सरोवर, आनन्द की मूर्ति, चैतन्यसूर्य, ज्ञान का निधान, ध्रुवधाम, तेज के नूर का पूर, अतीन्द्रिय महाप्रभु, ज्ञान की ज्योति, विज्ञानघन, चैतन्य चमत्कार इत्यादि। भैया भगवतीदास ने अक्षरवत्तीसी लिखी है, उसमें आत्मा की बात क, ख, ग.... इत्यादि वारह खड़ी में उतारी है। जैसे कि कक्का से केवलज्ञान, खख्खा से खबरदार आत्मा, गग्गा से ज्ञान का भण्डार आदि। यहाँ कहते हैं कि ऐसा आत्मा सदा ही अपने द्रव्य में व अपनी पर्याय में ही वर्तता है, परद्रव्य में नहीं जाता तथा परद्रव्य आत्मा में नहीं आता। अपनी पर्याय अपने से होती है, निमित्त से नहीं और परद्रव्य का कार्य परद्रव्य से होता है, आत्मा से नहीं – ऐसी ही अचलित वस्तुस्थिति है।

एक श्रीमन्त के पास दो अरव चालीस करोड़ की सम्पत्ति थी। उसके एक रिश्तेदार ने एकवार उससे कहा कि जब तुम्हारे पास इतनी वेसुमार – अटूट लक्ष्मी है तो अब तुम्हें कमाने की क्या जरूरत है? इस सब कमाने-धमाने के जंजाल को छोड़ दो। तब उस श्रीमन्त ने कहा – ये धन्धा मैं अपने लिए नहीं करता हूँ, दूसरे लोगों के पालन-पोषण के लिए करता हूँ। देखो! यही उसके विचारों की विपरीतता है। अरे भाई! दूसरों का तो कोई कुछ करता ही नहीं है। पर की ममता कर-कर के अपने राग-द्वेष का पोषण करता है। 'पर का काम मैं करता हूँ' – ऐसा तुझको मिथ्या अहंकार हो गया है। अरे भाई! तेरी पर्याय तुझसे होती है तथा परजीवों की पर्यायें उनसे स्वयं से होती हैं। तू परजीव की पर्याय का कर्त्ता नहीं है। प्रभु! कोई किसी की पर्याय का कर्त्ता नहीं है। तेरी पर्याय कोई अन्य कर दे तथा तू किसी अन्य की पर्याय को कर सके – ऐसा त्रिकाल सम्भव नहीं है।

प्रश्न : – पानी तो अग्नि से गर्म होता हुआ स्पष्ट दिखता है न?

उत्तर :—अरे भाई ! तू संयोग से देखता है । वस्तु के परिणमनशील स्वभाव को नहीं देखता । स्वभाव से देखनेवाले ज्ञानी को तो पानी की शीत पर्याय व ऊष्ण अवस्थाओं में पानी के परमाणु वर्तते हुए दिखाई देते हैं, अग्नि नहीं । अग्नि ने पानी में प्रवेश नहीं किया है । गजब बात है । भाई ! लौकी के शाक को जो चाकू से टुकड़े करते हैं, वे चाकू से नहीं हुए, बल्कि लौकी के टुकड़े होने का कार्य लौकी के परमाणुओं से हुआ है, और छुरी का कार्य छुरी के परमाणुओं से हुआ है । चाकू का कार्य जीव नहीं करता और लौकी के टुकड़े होने का काम चाकू करे – ऐसा नहीं है । जीव व पुद्गल परमाणु प्रत्येक अपनी-अपनी पर्यायों में वर्त्त रहे हैं – ऐसी ही वस्तुस्थिति है । लोगों को यह बात अचरज भरी लगती है, परन्तु वस्तुस्वरूप ही ऐसा है । अज्ञानी ऐसा मानता है कि 'मैं पहाड़ तोड़ सकता हूँ, गढ़ को उखाड़ सकता हूँ, परन्तु यह सब भ्रम हैं । पर की पर्याय को कौन कर सकता है ।

प्रश्न : – इंजीनियर लोग बड़-बड़े बाँध बांधने का काम करते हैं न ?

उत्तर : – इंजीनियर अपने तज्जाति का राग करते हैं, पर का कार्य नहीं कर सकते । जड़ की क्रिया जड़ परमाणुओं से होती है, उसे आत्मा नहीं करता । ऐसा स्वतन्त्र सिद्धान्त समझे विना धर्म कैसे हो सकता है ? एक परमाणु की पर्याय दूसरा परमाणु नहीं कर सकता, वस्तु की ऐसी अचलित मर्यादा को तोड़ना अशक्य है । एक आत्मा जड़ परमाणुओं में कुछ नहीं कर सकता ।

यह न्याय से व तर्क से सिद्ध बात है । परमात्मा कहते हैं कि जगत में अनन्त आत्मायें हैं तथा अनन्तानन्त पुद्गल हैं, वे अनन्तपने कैसे रह सकते हैं ? यदि एक द्रव्य का कार्य दूसरा द्रव्य करे, तो वे दोनों एकमेक हो जायेंगे और अनन्त द्रव्यों का अनन्तपना नहीं रह सकेगा, अनन्तता ही समाप्त हो जायगी । भाई ! यह वीतरागीशासन का तत्त्व वरावर न्याय से समझना चाहिए ।

यहाँ अमृतचन्द्राचार्य ने वहुत संक्षेप में सिद्धान्त लिख दिया है । अहाहा····· ····! आनन्द में झूलते हुए सन्तों को जरा-सा विकल्प आया और यह शास्त्र स्वयं अपने कारण वन गया । ज्ञानी उस विकल्प का भी कर्त्ता नहीं है । वह विकल्प भी आचार्य की स्वयं की कमजोरी से आ गया, पर के कारण नहीं । प्रत्येक द्रव्य अर्थात् वस्तु अपने गुण-पर्यायों में वर्तती है ।

अन्य का कार्य किसी अन्य से हो – ऐसा वस्तुस्वरूप ही नहीं है। दो कारणों से कार्य होता है – ऐसा जो कथन आता है, वह तो कार्य के समय जो अन्य वस्तु निमित्त में उपस्थित होती है, उसका ज्ञान कराने के लिए कही जाती है। वस्तुत: कार्य दो कारणों से नहीं होता। कार्य के वास्तविक कारण दो नहीं हैं, एक उपादान ही वास्तविक कारण है।

जगत में सभी वस्तुएँ अपने द्रव्य-गुण में ही वर्तती हैं, द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप से संक्रमित नहीं होतीं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रवेश नहीं पाता तथा एक पर्याय दूसरे पर्यायरूप हो – ऐसा कभी नहीं होता। जीव की पर्याय का संक्रमण होकर शरीर की अवस्थारूप हो – ऐसा भी त्रिकाल संभव नहीं है। प्रत्येक वस्तु की वर्तमान पर्याय संक्रमण करके पर की पर्याय को करे – ऐसा कभी नहीं होता।

भाई ! पर की दया कोई नहीं पाल सकता। यह तो अपनी दया पालने की वात है। सन्तों ने स्वतन्त्रता का ढिंढोरा पीटा है, तथापि जिन्हें वात बैठती ही नहीं है, वे अभागे हैं। उनके लिए कोई क्या करे ? प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है न ? वस्तुस्वरूप का समझ में आना न आना – इसमें भी जीव स्वतन्त्र है।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में संक्रमण नहीं होता। एक गुण या पर्याय का अन्य द्रव्य की पर्याय रूप से संक्रमण नहीं होता। समय-समय में प्रत्येक आत्मा व प्रत्येक परमाणु अपनी-अपनी पर्याय का कर्त्ता है, परन्तु पर की पर्याय का कर्त्ता नहीं है। भगवान तीनलोक के नाथ कहते हैं कि एक द्रव्य की पर्याय अन्य द्रव्य की पर्याय को करती है – ऐसा जो माने, वह मूढ़ है, अज्ञानी है, पाखण्डी है। अहाहा........ ! जगत के अनन्त द्रव्य, उनकी प्रत्येक शक्तियाँ व उनकी प्रतिसमय की पर्यायें स्वतन्त्र हैं।

एकवार ऐसा प्रश्न हुआ था कि सिद्धभगवान क्या करते हैं ?

उस प्रश्न के उत्तर में कहा था कि सिद्धभगवान पर का तो कुछ नहीं करते हैं, अपनी पर्याय में जो अनन्त-आनन्द प्रगट हुआ है, उसका वेदन करते हैं।

तव पुन: प्रश्न किया कि ऐसा कैसा भगवान, जो किसी का कुछ भी नहीं करता ? हम तो दूसरों का भला करते हैं और भगवान कुछ भी नहीं करता ?

देखो, यह अज्ञानी का भ्रम है। भाई ! कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता। यह अचलित वस्तु की मर्यादा है।

उसे तोड़ना अशक्य है। अपनी पर्याय पर में नहीं जाती तथा पर की पर्याय अपने में नहीं आती, तो फिर एक वस्तु अन्य वस्तु को कैसे परणमा सकती है? जो स्वयं द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप से नहीं परिणमती, वह अन्य वस्तु को कैसे परिणमा सकती है? अज्ञानी अपने शुभाशुभभाव को करता है, परन्तु परभाव को नहीं करता तथा ज्ञानी अपने ज्ञाताद्दष्टारूप परिणाम को करता है, राग व पर को नहीं करता।

'मैं दुःखी की सहायता करता हूँ, भूखे को रोटी, प्यासे को पानी, नंगे को वस्त्र देता हूँ' – ऐसा अज्ञानी मानता है, यह उसका भ्रम है। भले अज्ञानी ऐसा मानता है, तथापि पर का कार्य कोई भी जीव तीन काल में कभी नहीं कर सकता।

भावार्थ यह है कि जो द्रव्यस्वभाव है उसे कोई नहीं पलट सकता। यह वस्तु की मर्यादा है।

सुमर सदा मन आतमराम

सुमर सदा मन आतमराम ।।टेक।।

स्वजन कुटुम्बी जन तू पोखै, तिनको होय सदैव गुलाम।
सो तो हैं स्वारथ के साथी, अन्त काल नहिं आवत काम ।।१।।

जिमि मरीचिकां में मृग भटके, होवे जब ग्रीषम अति घाम।
तैसे तूभवमाहीं भटके, धरत न इक छिनहू बिसराम ।।२।।

करत न ग्लानी अब भोगन में, धरत न वीतराग परिणाम।
फिरि किमि नरक मांहि दुःख सहसी, जहां नहीं सुख आठो याम ।।३।।

तातैं आकुलता अब तजि के, थिर ह्वै बैठो अपने धाम।
'भागचन्द' बसि ज्ञाननगर में, तजि रागादिक ठग सब ग्राम ।।४।।

– कविवर भागचन्द

अतः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पोग्गलमयम्हि कम्मम्हि ।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ।। १०४ ।।

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि ।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता ।। १०४ ।।

यथा खलु मृण्मये कलशे कर्मणि मृद्द्रव्यमृद्गुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतरसंक्रमस्य वस्तुस्थित्यैव निषिद्धत्वादात्मानमात्मगुणं वा नाधत्ते स कलशकारः; द्रव्यांतरसंक्रममन्तरेणान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वात् तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानो न तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभाति ।

उपरोक्त कारण से आत्मा वास्तव में पुद्गलकर्म का अकर्त्ता सिद्ध हुआ, यह कहते हैं :—

आत्मा करे नहिं द्रव्य-गुण पुद्गलमयी कर्मों विषैं ।
इन उभय को उनमें न करता, क्यों हि तत्कर्त्ता बने ।।१०४।।

गाथार्थ :— [आत्मा] आत्मा [पुद्गलमये कर्मणि] पुद्गलमय कर्म में [द्रव्यगुणस्य च] द्रव्य को तथा गुण को [न करोति] नहीं करता; [तस्मिन्] उसमें [तद् उभयम्] उन दोनों को [अकुर्वन्] न करता हुआ [सः] वह [तस्य कर्ता] उसका कर्त्ता [कथं] कैसे हो सकता है ?

टीका :— जैसे मिट्टीमय घटरूपी कर्म जो कि मिट्टीरूपी द्रव्य में और मिट्टी के गुण में निजरस से हीं वर्तता है, उसमें कुम्हार अपने को या अपने गुणों को डालता या मिलाता नहीं है; क्योंकि (किसी वस्तु का) द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप में संक्रमण होने का वस्तुस्थिति से ही निषेध है । द्रव्यान्तररूप में (अन्यद्रव्यरूप में) संक्रमण प्राप्त किये विना अन्य वस्तु को परिणमित करना अशक्य होने से, अपने द्रव्य और गुण — दोनों को उस घटरूपी कर्म में न डालता हुआ वह कुम्हार परमार्थ से उसका कर्त्ता प्रति-

तथा पुद्गलमये ज्ञानावरणादौ कर्मणि पुद्गलद्रव्यपुद्गलगुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतरसंक्रमस्य विधातुमशक्यत्वादात्मद्रव्यमात्मगुणं वात्मा न खल्वाधत्ते; द्रव्यांतरसंक्रममंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वात्तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानः कथं नु तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभायात्? ततः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता ।

भासित नहीं होता । इसीप्रकार – पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म जो कि पुद्गलद्रव्य में और पुद्गल के गुणों में निज रस से ही वर्तता है, उसमें आत्मा अपने द्रव्य को या अपने गुण को वास्तव में डालता या मिलाता नहीं है, क्योंकि (किसी वस्तु का) द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप में संक्रमण होना अशक्य है । द्रव्यान्तररूप में संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तु को परिणमित करना अशक्य होने से, अपने द्रव्य और गुण – दोनों को ज्ञानावरणादि कर्मों में न डालता हुआ वह आत्मा परमार्थ से उसका कर्त्ता कैसे हो सकता है ? (कभी नहीं हो सकता ।) इसलिये वास्तव में आत्मा पुद्गलकर्मों का अकर्त्ता सिद्ध हुआ ।

गाथा १०४ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

मिट्टीमय घड़ारूपी कार्य मिट्टीरूपी द्रव्य में व मिट्टी के गुणों में या मिट्टी की पर्यायों में निजरस से ही वर्तता है । मिट्टी में जो घटरूप कार्य हुआ, वह मिट्टी की निजशक्ति से ही हुआ है; कुम्हार से या निमित्त से नहीं हुआ । देखो ! वर्तमान में यह बात खूब जोर पकड़ रही है कि निमित्त से ही कार्य होता है, किन्तु यहाँ इस मान्यता का निषेध किया है । बल्कि यहाँ तो यह सिद्ध किया है कि निमित्त से कार्य नहीं होता । भाई ! यह रोटीरूप जो कार्य होता है, वह आटा से होता है, चकला, वेलन, तवा या रोटी बनानेवाली बाई से नहीं ।

भाई ! शुद्ध अन्तःतत्त्व के श्रद्धान बिना बाह्य क्रियाकाण्ड करके धर्म होना माने, तो यह मान्यता महामिथ्यात्व है । परजीव की दया का पालन करने में धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि परजीव की दया कोई जीव पाल ही नहीं सकता ।

प्रश्न :– लोक में तो ऐसा कहा जाता है कि 'दया धर्म का मूल है' और आप उसे मिथ्यात्व कहते हैं ।

उत्तर :– हाँ, 'दया धर्म का मूल है' – यह बात तो बराबर है, परन्तु यह स्व-दया की बात है । स्व-दया धर्म का मूल है तथा आत्मा में

रागादि की उत्पत्ति न होना स्व-दया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में ४४वें श्लोक में हिंसा-अहिंसा के स्वरूप का कथन करते समय यह बात विशेषरूप से स्पष्ट की गई है कि 'पर की दया पालना' यह तो कथन मात्र है। पर की दया कौन पाल सकता है ? अन्य जीव की जितनी आयु हो, उतना वह जीवित रहता ही है। उसे अन्य न कोई जीवित रखता है और न कोई उसे मार ही सकता है। आत्मा बाह्य क्रियाओं का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है – यह मूल सिद्धान्त है।

भगवान सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि जो घटरूप कार्य होता है, उसमें माटी स्वयं घटरूप वर्तती है, कुम्हार घटरूप नहीं वर्तता। उससमय कुम्हार के हाथ की जो हलन-चलनरूप क्रिया होती है, वह भी स्वयं हाथ के परमाणुओं से होती है, आत्मा से नहीं होती। आत्मा तो स्वयं अपने गुण व पर्यायों में वर्त रहा है। पर की पर्याय जो होती है, उसमें आत्मा नहीं वर्तता। अरे ! जो आँख की पुतली हिलती है न, उसमें पुतली के परमाणु निजरस से वर्तते हैं, आत्मा से नहीं। पुतली हिलाने की क्रिया का कर्त्ता परमाणु है, आत्मा नहीं। बापू ! तत्त्व की यथार्थदृष्टि हुए बिना या भेदज्ञान हुए बिना धर्म नहीं होता।

यहाँ जीव व अजीव की भिन्नता की बात चल रही है। अजीव की कोई भी क्रिया अंशमात्र भी जीव नहीं कर सकता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया कर सके – ऐसा त्रिकाल व त्रिलोक में कभी-कहीं सम्भव नहीं है। इसीप्रकार जीव की शुभाशुभभावरूप या शुद्धभावरूप अवस्था को जड़कर्म नहीं कर सकते। भाई ! जीवादि सातों ही तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। अज्ञानी दया, दान, व्रत आदि आस्रव परिणामों को आत्मा के साथ मिलाकर राग का कर्त्ता बनता है तथा पर का कार्य 'मैं कर सकता हूँ' – ऐसा विपरीत मानता है। अरे ! सामान्यजनों को जीव, अजीव, आस्रव तथा आत्मा के भेद की एवं उनकी सूक्ष्म बात की खबर नहीं है, इसकारण उनको यह बात समझना कठिन पड़ती है।

यहाँ कहते हैं कि मिट्टीरूपी द्रव्य में मिट्टीरूप गुण (घट परिणाम) निजरस से वर्त रहे हैं। गुण का अर्थ यहाँ पर्याय है। उसमें कुम्हार अपने द्रव्य के गुण व पर्याय को नहीं मिलाता। कुम्हार घड़ा बनाने का जो राग करता है, वह राग घड़ारूप पर्याय में प्रवेश नहीं करता, तो वह राग घड़ारूप पर्याय को कैसे कर सकता है ? अज्ञानी जीव राग का कर्त्ता है, परन्तु पर का कार्य कभी नहीं कर सकता। जो ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होता

है, उसमें निमित्तरूप जो रागादिभाव हैं, अज्ञानी उनका कर्त्ता है; परन्तु जो कर्म का वन्ध होता है, उसका कर्त्ता वह नहीं है। कर्मवन्ध होना तो जड़ की पर्याय है। जड़ की पर्याय को आत्मा त्रिकाल में भी कभी नहीं कर सकता। यहाँ इसी बात को सिद्ध करने के लिए घड़े का दृष्टान्त दिया है।

जो राग व आत्मा का भेद जानते हैं, वे समकिती धर्मीजीव राग के भी कर्त्ता नहीं होते। देखो! पहले हमने एकवार मीरावाई का वैराग्य-मय नाटक देखा था, उसमें यह बात दर्शाई गयी थी कि चित्तौड़ के राणा के साथ मीरावाई की शादी हुई थी, परन्तु साधुओं के सत्संग करने से मीराबाई को खूव वैराग्य हो गया था। राणा ने मीरा के पास संदेश भेजा कि "मीरा! तुम घर आ जाओ, मैं तुम्हें पटरानी वनाऊँगा;" परन्तु मीरा को तो ईश्वर की लौ लगी थी, वह ईश्वर भक्ति की धुन में मस्त थी, अतः उसने राणा को जवाब में कहा –

"परणी मीरा पियुजी नी साथ, बीजानां मीठण नहीं रे बाधूं।
नहीं रे बाधूं राणा नहीं रे बाधूं, बीजानां मीठण नहीं रे बाधूं॥"

अर्थात् ईश्वर के प्रेम के वशीभूत हुई मीरा ने राणा से कह दिया कि मैंने तो मेरे नाथ (ईश्वर) के साथ शादी कर ली है, लौ लगा ली है, इसलिए अब मेरा दूसरा पति नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मीजीव की परिणति अन्दर राग से भिन्न होकर शुद्ध चैतन्य के साथ जुड़ गई है। इससे वह कहता है कि मेरी निर्मल चैतन्यपरिणति का ही मैं स्वामी हूँ, राग का नहीं; और राग मेरा स्वामी नहीं। शुभाशुभभाव होते हैं, किन्तु वह आत्मा का विकार है। मैं उनका संग नहीं करूँगा, क्योंकि उनका संग करना व्यभिचार है। अहाहा....! मैं तो नित्यानन्द स्वरूप चैतन्यमूर्ति ज्ञायकविम्ब प्रभु हूँ। उसको पुण्य-पाप के संग जोड़ना व्यभिचार है। इसप्रकार चैतन्यस्वरूप निज चिदानन्द भगवान की जिसको लगन लगी है, ऐसे धर्मीजीव निर्मल ज्ञान व आनन्द की परिणति के कर्त्ता हैं, किन्तु राग के कर्त्ता नहीं हैं। जहाँ राग का भी कर्त्ता जीव नहीं है, वहाँ पर का कर्त्ता होने की वात ही कहाँ रही?

यहाँ यह सिद्ध करना है कि परद्रव्य की पर्याय का कर्त्ता तो अज्ञानी भी नहीं है। घड़ारूप कार्य में कुम्हार अपने द्रव्य, गुण व पर्याय को नहीं मिलाता, क्योंकि किसी वस्तु का द्रव्यान्तर व गुणान्तररूप संक्रमण होना वस्तुस्थिति में ही संभव नहीं है। वस्तुस्वरूप ही ऐसा है कि कुम्हार का आत्मद्रव्य पलटकर घड़े की पर्याय में नहीं जाता, उसीप्रकार कुम्हार की

राग की पर्याय भी पलटकर घड़े की पर्याय में नहीं जाती, तो कुम्हार घड़े की पर्याय को कैसे कर सकता है ? अरे भगवान ! बात बहुत सूक्ष्म है। तेरी ज्ञायकवस्तु सर्वथा भिन्न है। प्रभु ! ज्ञायक आत्मा तो जगत के ज्ञेयों का मात्र ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं। वस्तुतः तो वह राग का भी ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं। आत्मा को राग व परद्रव्य की पर्याय का कर्त्ता मानना मिथ्यात्व की ही विडम्बना है। कुम्हार का द्रव्य पलटकर घड़े की पर्याय में नहीं जाता तथा कुम्हार की राग की पर्याय भी पलटकर घड़े की पर्याय में नहीं आती, इसलिए कुम्हार मिट्टी की पर्याय बदलकर घड़े की पर्याय करे – यह बात त्रिकाल व त्रिलोक में भी सत्य नहीं है। कुम्हार कभी भी घड़े का कर्त्ता नहीं है।

आटे में से जो रोटी बनने की क्रिया होती है, वह रोटीरूप जड़ की पर्याय आटे के परमाणुओं से होती है। रसोई बनानेवाली बाई उसमें अपनी पर्याय नहीं मिलाती, इसलिए बाई रोटी की पर्याय की कर्त्ता नहीं है।

बापू ! यह वीतराग का मार्ग अलौकिक है। जड़ व चेतन दोनों का सदैव प्रगट भिन्न स्वभाव है। जड़ की पर्याय जड़ से होती है, दूसरे कोई भी द्रव्य अपने द्रव्य-गुण-पर्यायों को उसमें डालते नहीं हैं, मिलाते नहीं हैं; इसलिए आत्मा जड़ की क्रिया को कभी भी नहीं करता – यह सिद्ध होता है। भाई ! 'मैं खाता हूँ, बोलता हूँ, अपने शरीर को हला-चला सकता हूँ इत्यादि अनेक प्रकार से मैं परद्रव्य की क्रिया कर सकता हूँ' – ऐसा मानना मिथ्या श्रद्धान है तथा इसका फल चार गतियों में परिभ्रमण करना है।

जीव अपने गुण-पर्यायों को परद्रव्य में मिलाये बिना, तद्रूप किये बिना पर का कार्य कैसे कर सकता है ? अपने द्रव्य-गुण-पर्यायों को पर-द्रव्य में मिला नहीं सकता, तद्रूप कर नहीं सकता, क्योंकि वस्तु के स्वरूप में ऐसी कोई शक्ति या सामर्थ्य ही नहीं है, अतः वस्तुस्वरूप से ही उसका निषेध है। जिनागम का यह अटल सिद्धान्त है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कार्य नहीं कर सकता, फिर भी जगत बाहर की क्रिया का कर्त्ता बनकर मिथ्यात्व का सेवन करता है; परन्तु जिसको सत्य समझना हो उसे यह सिद्धान्त स्वीकार करना ही पड़ेगा। अन्यथा असत्य तो अनादि से मान ही रखा है और इसी के परिणामस्वरूप यह संसार दशा वर्त्त रही है। भाई ! सर्वज्ञदेव के द्वारा कहे गये नवतत्त्वों का यथार्थ स्वरूप समझकर

उसका श्रद्धान जिनको करना हो, उन्हें उक्त सिद्धान्त को स्वीकार करना ही पड़ेगा। निमित्त से कार्य होता है – इस बात का भगवान सर्वज्ञदेव ने सदैव निषेध किया है। यही सत्य की यथार्थ घोषणा है। इसे बहुत ही सावधानी से समझना चाहिए।

जगत में अनन्त जीव हैं तथा अनन्त अजीव जड़ पदार्थ हैं। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता बने, तद्रूप परिणमन करें तो वे सब अनन्तपने कैसे रह सकेंगे ? जब ऐसा माने कि अनन्त द्रव्यों में प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने द्रव्य-रूप से तथा अपनी-अपनी पर्यायरूप से अपना परिणमन करते हैं, तब ही अनन्त द्रव्य सिद्ध हो सकते हैं। पर से परिणमन होना मानने पर सब एकमेक हो जावेंगे, अनन्त द्रव्य भिन्न-भिन्न नहीं रह सकेंगे। अतः प्रत्येक द्रव्य का परिणमन परनिर्पेक्ष है, स्वतंत्र है – यह मूल मुद्दे की बात है।

जैसे किसी ने पाँच लाख रुपया १० प्रतिशत के ब्याज पर लिया हो, उसके ब्याज की रकम तो चुकता कर दे और मूल रकम देने से इनकार करने लगे तो अनर्थ ही है न ? उसीप्रकार किसी परद्रव्य की पर्याय को तो आत्मा कर ही नहीं सकता – यह मूल मुद्दे की बात है, और कोई अज्ञानी इसी सिद्धान्त से इन्कार करे तो उसको धर्म-कैसे होगा ? भाई ! यह भगवान का मन्दिर बना है न ? इसकी क्रिया आत्मा ने – जीव ने नहीं की।

प्रश्न :– इस मंदिर को कारीगर ने बनाया है कि नहीं ?

उत्तर :– नहीं, बिल्कुल नहीं; क्योंकि कारीगर अपने द्रव्य को या पर्याय को मन्दिर की पर्याय में नहीं मिला सकता। इसलिए मन्दिर-निर्माण, की क्रिया का कर्त्ता कारीगर नहीं है। बापू ! जड़ व चेतन तत्त्व की सदाकाल भिन्नता है। अजीव की पर्याय का अंश यदि जीव करे, तो जीव जड़ हो जायगा; परन्तु ऐसा नहीं होता। वैसा मानने पर 'अजीव की पर्याय को जीव करता है' – यह मानना पड़ेगा, जो कि मिथ्यात्व है, अज्ञान है तथा उसका फल संसार परिभ्रमण है।

पिण्डखजूर के अन्दर की गुठली निकालने की क्रिया जो कि उंगली से होती दिखती है, वह क्रिया उंगली से नहीं होती तथा आत्मा से भी वह क्रिया नहीं होती। जैसे कुम्हार घड़े का कर्त्ता नहीं है, वैसे ही उंगली पिण्डखजूर की गुठली नहीं निकाल सकती। यह बात सुनकर कितने ही लोग कहने लगते हैं कि यह एकान्त है, एकान्त है। वे भले ही ऐसा कहें; परन्तु यह सम्यक् एकान्त है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक के चौथे अध्याय में पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने संसारी जीवों के मिथ्यादर्शन की प्रवृत्ति कैसी होती है, उसके वर्णन में कहा है :-

"संसारी जीव अनादिकाल से कर्म निमित्त द्वारा अनेक पर्याय धारण करता है, पूर्व पर्याय को छोड़कर नवीन पर्याय धारण करता है। वहाँ एक तो स्वयं आत्मा तथा अनन्त पुद्‌गल परमाणुमय शरीर – इन दोनों को एक पिण्ड बन्धानरूप यह पर्याय होती है। उसमें इस जीव को 'यह मैं हूँ' ऐसी अहं-बुद्धि होती है। तथा जीव को व शरीर को निमित्त-नैमित्तिक संबंध हैं, उनसे जो क्रिया होती है, उन्हें अपनी मानता है। मैं बोल सकता हूँ, मैं हाथ हिला सकता हूँ, आँख से देख सकता हूँ, जीभ से चख सकता हूँ, इत्यादि परद्रव्य की क्रिया का कर्त्तापना मानता है, वह सब मिथ्यादृष्टि का कर्त्तव्य (मन्तव्य) है।"

अरे ! ऐसी अतिशय प्रज्ञा के धनी अति विलक्षण महान् पण्डित टोडरमलजी का अल्पवय में ही देहान्त हो गया था। उन्होंने मिथ्यादर्शन के स्वरूप का बहुत ही अच्छा स्पष्टीकरण किया है।

'राजते शोभते इति राजा' जो अपने ज्ञातादृष्टा स्वभाव का अनुसरण करके ज्ञान व आनन्द की पर्याय को उत्पन्न करता है तथा उससे शोभायमान रहता है, वह राजा है, जीवराज है। शेष जो राजा की पर्याय को व पर की पर्याय को अपनी मानता है, वह तो रंक है, भिखारी है। भाई ! तेरी वस्तु तो अन्दर में सर्वप्रदेशों में ज्ञान व आनन्द से भरी हुई है। उसमें दृष्टि दिए बिना, वह राग से कैसे प्रगट हो ? प्रभु ! तेरी स्वभावरूप वस्तु राग से प्रगट होने जैसी नहीं है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार के बन्ध अधिकार में कहा है कि मैं दूसरों को जीवित कर सकता हूँ, या मार सकता हूँ, सुखी-दुःखी कर सकता हूँ, दूसरों को बाँध कर रख सकता हूँ अथवा उनको मोक्ष प्राप्त करा सकता हूँ – ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, मूढ़ है। अमृत-चन्द्राचार्य ने १७३वें कलश द्वारा कहा है कि सर्व वस्तुओं में जो अध्यवसान होता है, उन सभी अध्यवसानों को जिनेद्र भगवान ने त्यागने योग्य कहा है; इसकारण हमें ऐसा मानना चाहिए कि पर जिसका आश्रय है – ऐसा व्यवहार सब ही छुड़ाया है; तो फिर ये सत्पुरुष एक सम्यक् निश्चय को ही निष्कम्परूप से अंगीकार करके शुद्धज्ञानघनरूप निजमहिमा (आत्म-स्वरूप) में स्थिर क्यों नहीं होते ?

देखो ! एक सम्यक्निश्चय को ही अंगीकार करने को कहा है, क्योंकि वही एक मोक्षमार्ग है। व्यवहार क्रियाकाण्ड के अनेक विकल्प मोक्षमार्ग नहीं हैं, ये तो बन्धन के कारण हैं, हेय हैं, त्यागने योग्य हैं। भाई ! दया, दान, व्रत, भक्ति आदि परिणाम की दृष्टि से हटकर त्रिकाली शुद्ध आत्मद्रव्य पर दृष्टि दे, तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट होगा; अन्यथा नहीं होगा। कलश में भी यही कहा है कि पर जिसका आश्रय है – ऐसा सारा व्यवहार ही छुड़ाया है, तो फिर यह सत्पुरुष एक सम्यक्निश्चय को ही निश्चयपने अंगीकार करके निजमहिमा में स्थिर क्यों नहीं हो जाते हैं ? लोगों को ऐसी सत्य बात सुनने को आज तक मिली ही नहीं है, इसीकारण नई-सी लगती है, किन्तु यह बात नई नहीं है। यह तो केवलियों के द्वारा कही गई पुरानी ही बात है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने ५० वर्ष पहले भी यह बात कही थी; परन्तु वे गृहस्थाश्रम में थे, इसलिए उक्त बात प्रसिद्धि में नहीं आ पाई, विशेषरूप से बाहर में प्रगट नहीं हो पायी।

अहाहा……! एक-एक गाथा में जड़ व चेतन को तथा राग व ज्ञान को भिन्न-भिन्न करके वर्णन किया है। हे भगवान ! तू तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, अतः तू पर का काम करे या कर सके – यह बात त्रिकाल सत्य नहीं है, मोक्षमार्गप्रकाशक के चौथे अधिकार में अतिस्पष्ट कहा है कि अपना (आत्मा का) स्वभाव दर्शन-ज्ञान है, उसकी प्रवृत्ति की निमित्त मात्र यह शरीर के अंगरूप स्पर्शनादि द्रव्य-इन्द्रियां हैं। यह जीव उन सर्व को एकरूप मानकर ऐसा मानता है कि हाथ वगैरह के स्पर्श से मैं छूता हूँ, जीभ से चखता हूँ, नासिका से सूँघता हूँ, नेत्रों से देखता हूँ, कानों से सुनता हूँ – इसप्रकार माननेवाला अज्ञानी है, मूढ़-मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा जड़ का काम नहीं करता तथा उस काल में जो राग होता है, अज्ञानी उस राग का कर्त्ता होता है। भाई ! मार्ग बहुत सूक्ष्म है। अज्ञानी कहता है कि कुम्हार के बिना घड़ा नहीं बनता। ज्ञानी कहते हैं कि मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बनता। घड़े का कर्त्ता मिट्टी है, कुम्हार नहीं। जिनशासन का मार्ग दुनियाँ से सर्वथा निराला है।

यहाँ कहते हैं कि द्रव्यान्तररूप से संक्रमण हुए बिना अन्य वस्तु का परिणमन कराना अशक्य होने से, अपने द्रव्य व गुण को उस घड़ेरूपी कर्म में नहीं मिलाता हुआ कुम्हार परमार्थ से उसका कर्त्ता प्रतिभासित नहीं होता। देखो ! कोई द्रव्य अपनी सत्ता छोड़कर परद्रव्य में प्रवेश नहीं करता अथवा परद्रव्यरूप नहीं होता तथा द्रव्यान्तररूप हुए बिना अन्य

द्रव्य को परिणमाना अशक्य है। मिट्टीरूप हुए बिना मिट्टी को घड़ेरूप परिणमाना अशक्य है, इसलिए घड़ेरूप कर्म में प्रवेश न करता हुआ कुम्हार घड़े का कर्त्ता प्रतिभासित नहीं होता – ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

जगत जन शुद्धतत्त्व की बात को भूलकर क्रियाकाण्ड के मार्ग में अटक गये हैं; परन्तु भाई ! दया, दान, व्रत, तप आदि की क्रिया, महीना-महीना उपवास की क्रिया – ये सब तो राग की क्रियाएं हैं। इनसे सम्यग्-दर्शन व धर्म नहीं होता। अनन्त केवलियों ने व संतों ने यह कहा है कि आत्मा शरीरादि की एवं बाहर की क्रियाएं नहीं कर सकता; तथापि ऐसा मानता है कि "मैं परद्रव्य की क्रिया कर सकता हूँ।" उसका ऐसा मानना मिथ्यात्व है, मूढ़ता है।

पुद्गलमय ज्ञानावरणादिकर्म पुद्गलद्रव्य में व पुद्गलमय अपने गुणों में या पर्याय में निजरस से ही वर्तते हैं। उनमें आत्मा अपने द्रव्य, गुण या पर्याय को डालता या मिलाता नहीं। आठकर्म जो बँधते हैं, उनमें भी आत्मा के द्रव्य-गुण प्रविष्ट नहीं होते; क्योंकि आत्मा का द्रव्यान्तर या गुणान्तर होना अशक्य है, इसलिए जीव (अज्ञानी जीव) राग-द्वेष करे तब उसका निमित्त पाकर जो जड़कर्म का बन्धन होता है, उसका कर्त्ता आत्मा नहीं है।

अरे ! ऐसी बात एक तो कभी सुनने को मिलती नहीं और कदाचित् मिल जावे तो 'एकान्त है – एकान्त है' ऐसा कहकर टाल देता है; परन्तु भाई ! इस मिथ्यात्व का महादुःखरूप फल प्राप्त होगा, जो तुझसे सहा नहीं जायेगा।

यहाँ कहते हैं कि जीव पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव अज्ञानभाव से करता है, परन्तु उसकाल में जो कर्मबन्ध की पर्याय होती है, उसका तो जीव अज्ञानभाव से भी कर्त्ता नहीं है। कर्मबन्ध तो जड़ की पर्याय है तथा वह जड़ – पुद्गल से होती है, उसे जीव कैसे कर सकता है ? ज्ञानावरण आदि का कार्य अपने पुद्गलद्रव्य में तथा अपनी पर्याय में निजरस से ही वर्तता है। उसमें आत्मा अपने द्रव्य व पर्याय को नहीं मिलाता, क्योंकि आत्मद्रव्य परद्रव्य में जाय या आत्मा की पर्याय परद्रव्य की पर्याय में जावे – ऐसा होना अशक्य है।

अज्ञानी जो विकार करता है, शुभाशुभभाव करता है, उतने प्रमाण में कर्म बँधता है; तथापि उस कर्मबन्धन की पर्याय का आत्मा कर्त्ता नहीं

है । जीव ने रागादि किये, इसकारण कर्मों को बाँधना पड़ा – ऐसा नहीं है । भाई ! आत्मा कर्म बाँधे या छोड़े – यह बात वस्तुस्वरूप में ही नहीं है । अज्ञानी पर्याय में विकार करे या छोड़े – यह बात तो है, परन्तु वह जड़कर्मों को बाँधे या छोड़े – यह बात तीनकाल में भी सत्य नहीं है । भगवान अरहन्तदेव ने कर्मों का नाश किया – ऐसा कहना निमित्त का कथन है । कर्म तो जड़ हैं, उन्हें कौन नष्ट कर सकता है ? जिसने अपने भावकर्मों का नाश किया तथा अनन्त चतुष्टय को प्राप्त किया, वे अरहन्त हैं । जड़कर्म तो अपने कारण नष्ट होते हैं, अकर्मरूप परिणम जाते हैं; जड़कर्मों में आत्मा का कुछ कर्त्तव्य नहीं है ।

जड़ व चेतन सदा प्रगट भिन्न स्वभाववाले हैं । जड़ की पर्याय चेतन नहीं करता व चेतन की पर्याय जड़ नहीं करता । जड़ व चेतन दोनों द्रव्य सदैव भिन्न हैं, इसकी जिनको खबर नहीं है, उनको पुण्य-पाप के भावों से – आस्रवभावों से आत्मा भिन्न है, ऐसी भेदज्ञान की दृष्टि कहाँ से होगी ? तथा सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान व चारित्र भी कहाँ से कैसे होगा ? भाई ! सम्यग्दर्शन बिना सब क्रियाकाण्ड एक के बिना बिन्दी जैसे ही हैं ।

अब कहते हैं कि 'द्रव्यान्तर रूप से संक्रमण किये बिना अन्य वस्तु को परिणमाने में अशक्य होने से, अपना द्रव्य व गुण – दोनों को वह ज्ञानावरणादि कर्म में नहीं डाल सकता, अतः वह आत्मा परमार्थ से उनका कर्त्ता कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता, इसलिए वस्तुतः आत्मा पुद्गलकर्म का अकर्त्ता ठहरा ।'

देखो, यह निष्कर्ष कहा है । जीव जब राग करता है, उसकाल में जो कर्मबन्धन होता है, उस कर्मबन्धन की पर्याय का आत्मा कर्त्ता कैसे हो सकता है ? अज्ञानी अपनी पर्याय में राग-द्वेष के भाव को करता है, परन्तु उस समय जो कर्मबन्धन होता है, वह राग से नहीं होता; क्योंकि राग उसमें प्रविष्ट नहीं होता, इसलिए आत्मा पुद्गल कर्म का अकर्त्ता ठहरा ।

इसप्रकार जड़ की पर्याय का अज्ञानी जीव भी कर्त्ता नहीं है – ऐस अकर्त्तापना यहाँ सिद्ध किया है । सभी जीव ऐसे अकर्त्ता स्वभाव को समझ कर सुखी हों – यही इस कथन का अभिप्राय है ।

समयसार गाथा १०५

अतोन्यस्तूपचार :

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमेत्तेण ॥१०५॥

जीवे हेतुभूते बंधस्य तु दृष्ट्वा परिणामम्।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥ १०५ ॥

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति संपद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपरायणानां परेषामस्ति विकल्पः। स तूपचार एव न तु परमार्थः।

इसलिये इसके अतिरिक्त अन्य अर्थात् आत्मा को पुद्गलकर्म का कर्त्ता कहना सो उपचार है, अब यह कहते हैं :—

जीव हेतुभूत हुआ अरे ! परिणाम देख जु बंधका।
उपचारमात्र कहाय यों यह कर्म आत्माने किया ॥ १०५ ॥

गाथार्थ :— [जीवे] जीव [हेतुभूते] निमित्तभूत होने पर [बंधस्य तु] कर्मबन्ध का [परिणामम्] परिणाम होता हुआ [दृष्ट्वा] देखकर [जीवेन] जीव ने [कर्म कृतं] कर्म किया — इसप्रकार [उपचारमात्रेण] उपचारमात्र से [भण्यते] कहा जाता है।

टीका :— इस लोक में वास्तव में आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म का निमित्तभूत न होने पर भी अनादि अज्ञान के कारण पौद्गलिक कर्म को निमित्तरूप होते हुये अज्ञानभाव में परिणमता होने से निमित्तभूत होने पर पौद्गलिक कर्म उत्पन्न होता है; इसलिये 'पौद्गलिक कर्म आत्मा ने किया' ऐसा निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट विकल्पपरायण अज्ञानियों का विकल्प है; वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नहीं।

भावार्थ :– कदाचित् होनेवाले निमित्त-नैमित्तिकभाव में कर्त्ता-कर्म कहना सो उपचार है।

गाथा १०५ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

भगवान आत्मा स्वभाव से शुद्ध चैतन्यघन स्वरूप है। वह नवीन कर्मबन्धन में निमित्त नहीं है। आत्मा कर्मबन्धन में निमित्तभूत विकार-राग-द्वेष व पुण्य-पाप के भावों से भिन्न शुद्ध चिद्रूप एकरूप वस्तु है। इस-कारण आत्मा नवीनकर्म बन्धन में निमित्त नहीं है। देखो, शुद्ध चैतन्यमय वस्तु (आत्मा) में तो विकार है ही नहीं, किन्तु शुद्ध चैतन्य के सन्मुख जो दृष्टि हुई, उस दृष्टि में भी राग का निषेध है, इसलिए जिसको शुद्धज्ञायक-स्वभावी भगवान आत्मा की दृष्टि हुई है ऐसा निर्मल दृष्टिवन्त ज्ञानी भी कर्मबन्धन में निमित्त नहीं है। अहो ! परम अलौकिक बात है। जबतक पूर्ण वीतराग दशा न हो तबतक ज्ञानी को अशुभ से बचने के लिए शुभभाव आते हैं, परन्तु ज्ञानी की दृष्टि स्वभाव पर स्थिर हो जाने से वह स्वयं शुभ का कर्त्ता नहीं होता और इसीकारण वह नये कर्मबन्ध में निमित्त नहीं होता। भाई ! बात बहुत सूक्ष्म है, परन्तु समझने जैसी है।

भगवान आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु शुद्ध स्वभावमय वस्तु है। वह व्यवहार-रत्नत्रय के विकल्पों से भिन्न है। अहाहा····! शुद्ध वस्तु में तथा शुद्ध वस्तु की दृष्टि में व्यवहार-रत्नत्रय का विकल्प नहीं है, इसकारण जिस तरह शुद्ध वस्तु प्रभु आत्मा नवीन कर्मबन्ध में निमित्त नहीं है, उसीप्रकार शुद्ध वस्तुकी दृष्टिवाले ज्ञानी धर्मीजीव भी नवीन कर्मबन्ध में निमित्तनहीं हैं। जो रागपरिणाम नये कर्मबन्ध के निमित्त होते हैं, वे रागपरिणाम ज्ञानी को नहीं हैं; क्योंकि ज्ञानी इनसे भिन्न हो गया है। जो रागपरिणाम होते हैं, ज्ञानी उन्हें मात्र जानता ही है, करता नहीं है, इसीकारण ज्ञानी नवीन कर्मबन्ध का निमित्त नहीं है। भाई ! बहुत गम्भीर बात है।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि व्यवहार करते-करते समकित प्राप्त हो जायगा; परन्तु उनकी यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि शुद्ध निश्चय की दृष्टि में व्यवहार-रत्नत्रय का विकल्प नहीं समाता, भिन्न रह जाता है। भाई ! यह अन्तर की बात है। इसमें जरा भी आगा-पीछा करे या उक्त मान्यता में जरा भी ढिलास करे, तो सत्य श्रद्धान नहीं होगा। सम्यग्दर्शन प्रगट होने में व्यवहार की किंचित् भी अपेक्षा नहीं है।

नियमसार गाथा २ की टीका में शुद्ध रत्नत्रयात्मक मोक्ष का मार्ग परम निरपेक्ष है – ऐसा कहा है। धर्मी को अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप की

भावना होती है; उसे पुण्य – व्यवहारधर्म की वांछा नहीं होती। जवतक पूर्ण वीतराग भाव प्रगट नहीं हो, तबतक व्यवहार का भाव आता अवश्य है; परन्तु ज्ञानी को उसकी भावना नहीं होती।

आनन्दकन्दस्वरूप निजस्वभाव में झूलनेवाले मुनिवरों को छठवें गुणस्थान में भगवान की भक्ति, वन्दना, स्मरण तथा पंचमहाव्रत के विकल्प आते हैं, परन्तु वे वन्ध के कारण हैं – ऐसा वे जानते हैं। शुद्ध चैतन्य की परिणति को धारण करनेवाले उन मुनिवरों की दृष्टि चैतन्य-स्वभाव पर स्थिर हो, परन्तु जव तक पूर्णदशा प्रगट न हो, तवतक अस्थान के राग से वचने हेतु शुभराग आता है, परन्तु वह शुभभाव वन्ध का कारण है – ऐसा वह जानता है। जो उनको वन्ध का कारण न मानकर मोक्ष का कारण मानते हैं, उनका वह मिथ्या-श्रद्धान है, अज्ञान है।

यहाँ वहुत गम्भीर वात की है। मूल गाथा सूत्र में तो ऐसा कहा है कि जीव नवीन कर्मवन्ध में निमित्तभूत होता है, परन्तु टीका में आचार्यदेव ने ऐसा कहा है कि इस लोक में वस्तुतः आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म में निमित्तभूत भी नहीं है। यदि स्वभाव से ही आत्मा निमित्तभूत हो तो उसे त्रिकाल (सदा) विकार करने का प्रसंग प्राप्त होगा तथा कर्म-बन्धन में निमित्तरूप से जीव को सदैव उपस्थित रहने की समस्या उत्पन्न हो जायगी, इसप्रकार नित्य कर्तृत्व का प्रसंग आने पर मुक्ति कभी होगी ही नहीं, अर्थात् उसके मुक्ति का ही अभाव सिद्ध होगा।

दया, दान आदि के विकल्प आते हैं, ज्ञानी उन्हें वन्ध का कारण जानता है, वह उन्हें धर्म या धर्म के कारण नहीं मानता – यह वात भी यहाँ नहीं ली है। यहाँ तो यह कहते हैं कि ज्ञानी को नवीन वन्ध होता ही नहीं है, क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि अपने ज्ञानानन्द स्वभाव पर रहती है तथा उससे उसको स्वभाव की ही परिणति उत्पन्न होती है। जो राग का परिणाम होता है, वह ज्ञानी का कर्म नहीं है। इससे ज्ञानी नवीन कर्मवन्ध में निमित्त भी नहीं है। अहो! कैसी गम्भीर व्याख्या की है।

अरे भाई! यह मनुष्यभव योंही वीता जा रहा है। भगवान कहते हैं कि इस जीव की त्रसपर्याय में रहने की स्थिति दो हजार सागर की है अर्थात् दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्याय में रहने का काल दो हजार सागर का है, इस अवधि में यदि आत्मज्ञान – सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं किया तो इस त्रसपर्याय की स्थिति पूरी करके निगोद में चला जायगा। अरे भगवान्! तुझे ऐसा अवसर मिला और विकार से रहित, व्यवहार से रहित, बन्ध व वन्ध के निमित्तपने से रहित, शुद्ध चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का

भान प्रगट नहीं किया तो चारगति का भ्रमण करते-करते निगोद में – दुःख के समुद्र में चला जायेगा।

जो नवीन कर्मवन्ध होता है, वह दशा तो जड़कर्म से होती है तथा उनमें उपादानरूप से कर्मपरमाणु वर्तते हैं तथा आत्मा के विकारीभाव उस नवीन कर्मवन्ध में निमित्त हैं, परन्तु चैतन्यरत्नाकर ज्ञाता-दृष्टा तथा आनन्द-स्वभाव से भरा चिदानन्दघन प्रभु आत्मा विकार से शून्य है, इसकारण ज्ञायकमूर्ति प्रभु आत्मा नवीन कर्मवन्ध में निमित्तभूत नहीं है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरा चैतन्य महासागर है। उसमें दया, दान आदि विकार के विकल्प ही नहीं हैं, तो वह नवीन कर्मवन्धन में निमित्तभूत कैसे हो ? आत्मा स्वभाव से नवीन कर्मवन्धन में निमित्त है ही नहीं।

भगवान आत्मा ज्ञान व आनन्द से पूर्ण व राग से रिक्त शुद्ध ज्ञायक-मूर्ति है। जिसे ऐसे आत्मा का भान हुआ है, वह सम्यग्दृष्टि – ज्ञानी है। सम्यग्दृष्टि को दया, दान, व्रत व व्यवहार-रत्नत्रय के विकल्प आते हैं, किन्तु वे इन विकल्पों को अपने शुद्ध ज्ञान चैतन्यस्वरूप से भिन्न जानते हैं। सम्यग्दृष्टि को जो स्वभाव की दृष्टि हुई है, उस दृष्टि में रागादि विकार का अभाव है और इसलिए जैसे स्वभाव कर्मवन्ध में निमित्तभूत नहीं है, उसी-प्रकार स्वभावदृष्टिवाला ज्ञानी भी नवीन कर्मवन्ध में निमित्तभूत नहीं है। समकिती को वन्ध होता ही नहीं है। जो अल्पबंध होता है, वह यहाँ गिनती में नहीं है, इसलिए वह कर्मवन्ध में निमित्त कैसे हो ? बंध में निमित्त तो विकारीभाव है तथा वह विकारीभाव आत्मस्वभाव व आत्मस्वभाव की दृष्टि में नहीं है, अतः आत्मस्वभाव के दृष्टिवन्त पुरुषों को वन्ध नहीं होता। ऐसा शुक्ललेश्या का भाव तो जीव ने अनंतवार किया है, जिससे नवग्रैवेयक में भी अनंतवार जा-जा कर आया है; परन्तु वह उस शुभभाव को अपना मानता है तथा उससे धर्म होता है – ऐसा मानता है, इसकारण वह मिथ्यादृष्टि है। शुभभाव राग है तथा आत्मा का स्वभाव वीतराग है। राग व स्वभाव को एक माननेवाला भले ही नववें ग्रैवेयक जावे, परन्तु जिसकारण जन्म-मरण का नाश होता है – ऐसी क्रिया उसके पास नहीं है, इसकारण वह चतुर्गतिरूप संसार में भटकता है।

भगवान आत्मा पर का कर्त्ता तो है ही नहीं, परन्तु पर के काम में निमित्त भी नहीं है। द्रव्यस्वभाव यदि पर के कार्य में निमित्त हो, तो जहाँ-जहाँ पर में कार्य हो, वहाँ-वहाँ आत्मा को सदैव उपस्थित रहना पड़ेगा और फिर उसे पर के कार्य में उपस्थित रहने के कारण राग से

भिन्न होकर स्वानुभव के लक्ष्य का कभी अवसर ही प्राप्त नहीं होगा। यह बात गाथा १०० में भी आ गई है। इसप्रकार यह सिद्ध है कि वास्तव में आत्मा स्वभाव से नवीन कर्मबन्धन में निमित्त नहीं है।

अब कहते हैं कि जिसे अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का भान नही है, वह जीव ऐसा मानता है कि 'मैं दया, दान आदि के परिणामों का कर्त्ता हूँ।' ऐसा अज्ञान इस जीव को अनादि से है। उस अनादिकालीन अज्ञान के कारण विकाररूप परिणमन होने से नवीन पौद्गलिक कर्म उत्पन्न होता है। इस नवीन कर्मबन्धन में अज्ञानी का विकारीभाव निमित्त होता है। जड़कर्म की प्रकृति तो जड़कर्म के कारण ही बँधती है, उसमें अज्ञानी का रागादिभाव तो निमित्तमात्र है।

(भाई! समयसार में बहुत गंभीरता है। यह तो जगतचक्षु है। यह भगवान की साक्षात् दिव्यध्वनि में से आया हुआ शास्त्र है। सम्वत् १९७८ की साल में जब समयसार हाथ में आया, तब इसे पढ़कर ऐसा लगा कि 'यह शास्त्र तो अशरीरी होने की चीज है।' इसका स्वाध्याय खूब धैर्य से प्रतिदिन करना चाहिए।)

त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि बिना इच्छा के निकलती है। महाविदेह में साक्षात् परमात्मा भगवान विराजते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य महाराज वहाँ भगवान की वाणी सुनने के लिए पधारे थे। सुनने का विकल्प तो था, किन्तु विकल्प का लक्ष्य नहीं था; बल्कि अन्तर में अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप का लक्ष्य था। ज्ञानी को भगवान की वाणी सुनने का तथा धर्मोपदेश देने का विकल्प आता है, परन्तु ज्ञानी उन विकल्पों का कर्त्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है। अहाहा....! आत्मा शुद्ध चैतन्यमय प्रभु है, शुभराग ज्ञेय है तथा ज्ञानी उनका ज्ञाता है, कर्त्ता नहीं है; इसकारण जैसा आत्मा स्वभाव से कर्मबन्धन में निमित्त नहीं है, उसीतरह ज्ञानी भी नवीन कर्मबन्धन में निमित्त नहीं है।

अहाहा....! भगवान आत्मा निरंजन, निर्विकार, शुद्ध चैतन्यघन प्रभु है। उसमें शरीर, मन, वाणी, कर्म, नोकर्म तो हैं ही नहीं; शुभभावरूप विकार भी नहीं है। इससे आत्मा स्वभाव से कर्मबन्धन का निमित्त नहीं है तथा जिसको शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा के स्व-संवेदनपूर्वक स्वानुभव हुआ है, उस सम्यग्दृष्टि को ऐसा राग ही नहीं होता जो नवीन कर्मबन्धन में निमित्त हो। जो अल्पराग ज्ञानी को होता है, उसे यहाँ (दृष्टि के जोर में) गौण करके यह कहा जा रहा है कि ज्ञानी के राग होता ही नहीं है और

अज्ञानी को तो अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप का भान ही नहीं है, इसकारण अज्ञानी के रागभाव को नवीन कर्मबन्धन में निमित्त कहा जाता है।

जो नवीन कर्मबन्धन होता है, उसे आत्मा नहीं करता। वह तो पुद्‌गल की पर्याय है और अज्ञानी का अज्ञानरूप परिणाम उसमें निमित्त कहा जाता है। आत्मद्रव्य भी उसमें निमित्त नहीं है और दृष्टिवन्त ज्ञानी भी उसमें निमित्त नहीं है। अखण्डानन्द स्वरूप भगवान आत्मा का आकर्षण होने से ज्ञानी को बाहर की सम्पूर्ण वस्तुओं का आकर्षण छूट गया है। चैतन्यचमत्कार को देखने के पश्चात् धर्मी को बाहर में कहीं भी चमत्कार भासित नहीं होता। स्वर्ग में इन्द्रों का अपार वैभव होता है, किन्तु धर्मीजीवों का उस ओर भी लक्ष्य नहीं होता; क्योंकि धर्मी को तो वह भी तुच्छ ही भासित होता है। धर्मी को विषयवासना का राग जहर के समान लगता है। 'अहाहा····! मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु परमात्म-स्वरूप हूँ' – ऐसा जिसको वर्तमान पर्याय में भान हो गया, वह ज्ञानी नवीन कर्मबन्धन में निमित्त नहीं है। यहाँ यह कह रहे हैं कि ज्ञानी को नवीन कर्म नहीं बँधते।

९६ वीं गाथा में भी शरीर को मृतक कलेवर कहा है। अमृत का सागरस्वरूप भगवान आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर मृतक कलेवर में मूर्छित हो गया है और मृतक कलेवर में मूर्छित हुआ अज्ञानी जीव, अपने शुभाशुभभाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है। शरीर तो हाड़-मांस-चमड़े से बना हुआ मृतक कलेवर है। इसमें से जब जीव निकल जायेगा, तब मृतक कलेवर होगा – ऐसा नहीं कहा, बल्कि अभी ही जीवित अवस्था में ही शरीर मृतक कलेवर है – ऐसा कहा है। उस मृतक कलेवर में मूर्छित अज्ञानी का विकार (पुण्य-पाप का भाव) नवीन कर्मबन्धन में निमित्त होता है।

कितने ही लोग कहते हैं कि समन्वय कर लो, जिससे सब एक हो जायेंगे, संगठन हो जायेगा; परन्तु भाई! इस शुद्धतत्त्व की सत्य बात का जगत की कपोल-कल्पित बातों के साथ समन्वय कैसे हो सकता है? असत्य के साथ सत्य का समझौता नहीं हो सकता। जैसे बेंत की छाल का सूत के धागे के साथ समन्वय नहीं होता, उसीप्रकार ज्ञान व अज्ञान का कभी समन्वय नहीं हो सकता। प्रभु! मानो या न मानो; किन्तु सत्य यही है और इस सत्य को स्वीकार किये बिना तेरा दुःख से छुटकारा नहीं होगा। भाई! यह तेरे हित का मार्ग है, और राग से लाभ मानना तेरे

अकल्याण का मार्ग है, अज्ञान है और उसमें तेरी भारी हानि है; अतः सत्य को समझने का पुरुषार्थ कर।

शास्त्र में तो यहाँ तक कहा है कि जो दया, दान, हिंसा वगैरह शुभाशुभभाव की रचना करता है, वह नपुंसक है। ४७ शक्तियों में एक वीर्यशक्ति है, उसके वर्णन में कहा है कि जो अपनी वीतराग निर्मल परिणति की रचना करे, वह वीर्यशक्ति है तथा जो शुभाशुभ राग की रचना करे वह तो नपुंसक है। जैसे नपुंसक को पुत्र की प्राप्ति नहीं होती, उसीतरह शुभराग की परिणति से निर्मल परिणति प्रगट नहीं होती। पुण्य की रुचिवाले जीव नपुंसकवत हैं, क्योंकि वे वीतरागभावरूप धर्मरूपी पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकते। समयसार गाथा ३९ से ४३ की टीका में भी राग की रुचिवालों को नपुंसक कहा है तथा पुण्य-पाप अधिकार की गाथा १५४ में उन्हें क्लीव (नामर्द) कहा है।

जो अपने आनन्द के नाथ को भूलकर पुण्य परिणाम में अटक जाता है तथा राग की रचना करता है, उस अज्ञानी का राग नवीन कर्मबन्धन में निमित्त है। ज्ञानी तो शुद्ध परिणति की रचना करते हैं। जो राग आता है, ज्ञानी उसे गौण करके निर्मल परिणति की रचना करते हैं, इसकारण ज्ञानी को नवीन कर्मबन्धन नहीं होता, इसलिए ज्ञानी नवीन कर्मबन्धन में निमित्त भी नहीं होते।

अज्ञानी अज्ञानभाव से परिणमित होने से उसका वह अज्ञानभाव निमित्तभूत होने पर नवीन पौद्गलिककर्म उत्पन्न होता है, इसप्रकार अज्ञानी का पुण्य-पाप का भाव नवीन कर्मबन्ध में निमित्त होता है। इससे निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट विकल्पपरायण अज्ञानियों का ऐसा विकल्प है कि 'पौद्गलिककर्म आत्मा ने किया,' सो वह विकल्प उपचार मात्र है, परमार्थ नहीं।

आत्मा तो राग रहित निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभावरूप है। अज्ञानी ऐसे निजस्वभाव से भ्रष्ट है। वह विकल्पपरायण है, अर्थात् विकल्प में तत्पर है, स्वभाव में तत्पर नहीं है। विकल्प में तत्पर अज्ञानी जो शुभाशुभ विकल्प करता है, वह विकल्प नवीन कर्मबन्ध में निमित्त होता है। इससे अज्ञानी ऐसा मानता है कि 'मैं उपचार से, व्यवहार से कर्मबन्धन का कर्त्ता हूँ' ऐसा उपचार अज्ञानी पर लागू पड़ता है। स्वभाव को भूलकर राग में तत्पर अज्ञानी जो विकल्प करता है, वह नवीन कर्मबन्धन में निमित्त है, इससे आत्मा से कर्मबन्धन हुआ – ऐसा उपचार से कहा जाता है, किन्तु यह बात परमार्थ नहीं है।

पर की या जड़ की अवस्था तो पर से या उस जड़ से ही होती है। उसे अन्य कौन करे ? शुभभाव आता है, परन्तु पर की क्रिया उस शुभभाव से नहीं होती। इस रथ में जो भगवान विराजमान करे और रथ को चलावे – इत्यादि पर की क्रिया आत्मा नहीं करता। भाई ! यह वीतराग का मार्ग जगत से सर्वथा भिन्न है। जो इसका स्वरूप समझेगा उसके भव का नियम से अभाव होगा, यह ऐसा ही मार्ग है। जो एक-दो भव रहते हैं, वे भी ज्ञाता के ज्ञेय हैं। यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी का राग नवीन कर्मबन्धन में निमित्त है, इसकारण 'आत्मा ने कर्म बाँधा' – ऐसा अज्ञानियों का जो विकल्प है, वह भी उपचार ही है, परमार्थ नहीं है।

गाथा १०५ के भावार्थ पर प्रवचन

कदाचित् अर्थात् अज्ञानपने अज्ञानीजीव विकार का कर्त्ता है, इसकारण उसके विकार को बन्धन में निमित्त कहा जाता है। उस निमित्त-नैमित्तिक भाव में कर्त्ता-कर्मभाव कहना उपचार है। अज्ञानी राग का कर्त्ता है। वह राग पर की क्रिया में निमित्त है। वहाँ अज्ञानी स्वयं को पर का कर्त्ता मानता है, वह उपचार है, परमार्थ से आत्मा पर का कर्त्ता नहीं है।

सम्हाल चित भजो सदीव

जब तैं आनन्द-जननि दृष्टि परी माई।
तब तैं संसय-विमोह-भरमता विलाई ॥ टेक ॥
मैं हूँ चित-चिह्न भिन्न, परतें पर जड़स्वरूप।
दोउन की एकता, सुजानी दुःखदाई ॥ १ ॥
रागादिक बन्धहेतु, बन्धन बहु विपति देत।
संवर हित जान तासु, हेतु ज्ञानताई ॥ २ ॥
सब सुखमय शिव हैं तसु, कारन विधि झारन इमि।
तत्त्व की विचारन, जिनवानि सुधि कराई ॥ ३ ॥
विषय-चाह ज्वालतैं, दह्यो अनन्त कालतैं।
सुधांबु स्यात्पदांक गाहतैं, प्रशान्ति आई ॥ ४ ॥
या बिन जगजाल में, न शरन तीनकाल में।
सम्हाल चित भजो सदीव, 'दौल' यह सुहाई ॥ ५ ॥

— आध्यात्मिक कविवर दौलतराम

समयसार गाथा १०६

कथमिति चेत् –

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो ।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण ।।१०६।।

योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः ।
व्यवहारेण तथा कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ।।१०६।।

यथा युद्धपरिणामेन स्वयं परिणममानैः योधैः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्य राज्ञो राज्ञा किल कृतं युद्धमित्युपचारो, न परमार्थः । तथा ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयं परिणममानेन पुद्गलद्रव्येण कृते

अब यह उपचार कैसे है, सो दृष्टान्त द्वारा कहते हैं :–

योद्धा करें जहँ युद्ध, वह वहाँ भूपकृत जनगण कहैं ।
त्यों जीव ने ज्ञानावरण आदिक किये व्यवहार से ।।१०६।।

गाथार्थ :– [योधैः] योद्धाओं के द्वारा [युद्धे कृते] युद्ध किये जाने पर, [राज्ञा कृतम्] 'राजा ने युद्ध किया' – [इति] इसप्रकार [लोकः] लोक [जल्पते] (व्यवहार से) कहते हैं, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञानावरणादि] ज्ञानावरणादि कर्म [जीवेन कृतं] 'जीव ने किया' [व्यवहारेण] – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है ।

टीका :– जैसे युद्ध-परिणाम में स्वयं परिणमते हुए योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर, युद्ध-परिणाम में स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले राजा में 'राजा ने युद्ध किया' ऐसा उपचार है, परमार्थ नहीं है । इसीप्रकार ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामरूप स्वयं परिणमते हुए पुद्गलद्रव्य के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जाने पर, ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामरूप स्वयं

ज्ञानावरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्यात्मनः किलात्मना कृतं ज्ञानावरणादिकर्मेत्युपचारो न, परमार्थः ।

परिणमित नहीं होनेवाले आत्मा में 'आत्मा ने ज्ञानावरणादि कर्म किया' – ऐसा उपचार है, परमार्थ नहीं है ।

भावार्थ :– योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर भी उपचार से यह कहा जाता है कि 'राजा ने युद्ध किया' इसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलद्रव्य के द्वारा किये जाने पर भी उपचार से यह कहा जाता है कि 'जीव ने कर्म किये' ।

गाथा १०६ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय को नहीं कर सकता । जैसे घटरूपी कार्य को मिट्टी ही करती है, कुम्हार नहीं, उसीतरह जड़कर्मों को पुद्गल ही करता है, जीव नहीं । जव जीव पुण्य-पाप, राग-द्वेष आदि विकारीभाव करता है; तव जो कर्मवन्धन होता है, उसका कर्त्ता जीव नहीं है । जड़ कर्मो की अवस्था जड़ परमाणुओं के द्रव्य से होती है, जीव के विकारीभाव तो उसमें निमित्तमात्र होते हैं । यद्यपि जितने प्रमाण में जीव राग-द्वेषादिभाव करता है, उतने प्रमाण में ही नवीन कर्मबन्ध होता है; तथापि जो कर्मवन्ध हुआ है, उस क्रिया का कर्त्ता आत्मा नहीं है । अज्ञानी अपनी मान्यता से अपने राग-द्वेषादि विकारीभावों का कर्त्ता भले हो, परन्तु पर के कार्य का कर्त्ता तो वह कदापि नहीं होता ।

धर्मीजीव तो ऐसा जानते हैं कि मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ । जैसा सिद्ध परमात्मा का स्वरूप है, वैसा ही मेरा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है । अहाहा........! 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' – ऐसी शुद्धस्वरूप की दृष्टि होने से ज्ञानी को पंचपरमेष्ठी की भक्ति का राग आता है, किन्तु उस राग का वह कर्त्ता नहीं होता । वह अच्छी तरह जानता है कि भगवान की भक्ति का राग भी अनर्थ का कारण है । पंचास्तिकाय की १६८वीं गाथा में कहा है कि – 'यह रागलवमूलक दोषपरम्परा का निरूपण है ।' (अर्थात् अल्पराग जिसका मूल है – ऐसी दोषों की संतति का यह कथन है ।) यहाँ इस लोक में वास्तविक अरहंतादि की भक्ति भी राग परिणति के विना नहीं होती । रागादि परिणति होने पर आत्मा बुद्धिप्रसार के विना (चित्त की भ्रमणा से रहित) स्वयं को नही रख सकता । तथा बुद्धिप्रसार होने पर (चित्तभ्रम होने पर) शुभाशुभ कर्मो का निरोध

नहीं हो सकता। इसलिए इस अनर्थ संतति का मूल रागरूप क्लेश का विलास ही है।

कुछ लोग कहते हैं कि शुभराग करते-करते मोक्ष होता है अथवा शुभभाव से परम्परा से मोक्ष होता है, किन्तु यह बात सही नहीं है। राग तो विकार है, आस्रव है, जहर है। यद्यपि मुनिवरों को भी पंचमहाव्रत का विकल्प आता है, परन्तु वे ऐसा जानते हैं, मानते हैं कि यह शुभराग अनर्थ का मूल है तथा पंचास्तिकाय गाथा १७० में भी कहा है कि 'यह रागरूप क्लेश सर्वथा निःशेष नाश करने योग्य है।' तात्पर्य यह है कि राग रखने लायक नहीं है, बल्कि सम्पूर्णरूप से नाश करने लायक है।

प्रश्नः — पंचास्तिकाय गाथा १७० की टीका में अरहंत की भक्ति आदि के शुभराग को परम्परा मोक्ष का कारण कहा है न?

उत्तर :— हाँ, कहा है; किन्तु भाई! यह आरोपित कथन किया गया है — ऐसा समझना। ऐसा कथंचित् मोक्षहेतुपने का आरोप भी ज्ञानी के भक्ति आदिरूप शुभभावों में ही किया जा सकता है। अज्ञानी के तो शुद्धि का अंशमात्र भी प्रगट परिणमने में नहीं है, अतः उसके जब यथार्थ मोक्षहेतु प्रगट ही नहीं हुआ है, विद्यमान ही नहीं है तो फिर उसके भक्ति आदि रूप शुभभावों में किसका आरोप करें? ज्ञानी को शुभभावों से जो स्वर्गादि मिलते हैं, वे क्लेश हैं, दाह हैं, वे कहीं सुखरूप नहीं हैं; वह जब उनका अभाव करेगा, तब परमसुखस्वरूप मोक्ष को प्राप्त करेगा।

जिसप्रकार हलुआ शक्कर, घी व आटे से बनता है, उसीप्रकार मोक्षपद की प्राप्ति शुद्ध ज्ञान-दर्शन व चरित्र से ही होती है। पूर्णानन्द का नाथ चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि होना सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्म-तत्त्व के स्पर्श से जो ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान है तथा स्वरूप में निमग्न होकर उसी में लीन रहना, अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करना चारित्र है। यही मोक्ष का मार्ग है।

श्री निहालभाई सोगानी जब सर्वप्रथम यहाँ आये, तब उनसे इतना ही कहा था कि 'पर के लक्ष्य से जो विकल्प उठते हैं, अन्तर में बैठा भगवान उनसे भिन्न है।' इस बात को सुनकर उनके अन्दर स्व की ओर ढल जाने की धुन सवार हो गई। समिति के कमरे में गहरा मंथन व ध्यान करते-करते उन्हें आत्मानुभूति हो गई, वे अल्पभव में मोक्ष जायेंगे। उन्होंने 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' में लिखा है कि जो शुभभाव आता है, वह मुझे धधकती भट्टी की तरह लगता है। अहाहा....! जिसको ऐसा भान हुआ

है कि 'मैं निर्मलानन्द स्वरूप हूँ', उसे भक्ति आदि के शुभभाव का राग कष्टरूप लगता है। जैसे – शक्कर के स्वाद के समक्ष अकीक का स्वाद कड़वा लगता है; उसीतरह अनुभव होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद जिसे आया है, उसको शुभराग का स्वाद कड़वा लगता है। जिसभाव से 'तीर्थंकर' गोत्र बँधता है, वह शुभभाव भी धर्मी को क्लेशरूप, दुःखरूप भासित होता है।

अज्ञानी जीव का शुभभाव अनर्थ का कारण है; वह परम्परा मोक्ष का कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि के शुभभाव को उपचार से मोक्ष का परम्परा कारण कहा जाता है, क्योंकि राग के फल में वह स्वर्ग के क्लेश भोगकर मनुष्यगति में आकर स्वरूप में ठहरने का उग्र पुरुषार्थ करके मोक्ष पद पायेगा। इसकारण धर्मीजीव के शुभराग को उपचार से ही मोक्ष का परम्परा हेतु कहा जाता है।

यहाँ कहते हैं कि जिसप्रकार युद्ध के परिणाम में योद्धा परिणमता है, वैसे राजा युद्ध के परिणाम से नहीं परिणमता। राजा तो आदेश देकर एक ओर बैठ जाता है। राजा के आदेशरूप निमित्त से युद्ध के भावरूप परिणमन करनेवाला योद्धा ही युद्ध करता है, राजा युद्ध में संलग्न नहीं होता; अतः 'राजा ने युद्ध किया' ऐसा कथन उपचारमात्र है, परमार्थ नहीं। उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्मपरिणाम से स्वयं परिणमते हुए पुद्गलद्रव्य द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जाते हैं। आत्मा ज्ञानावरणादि कर्म-परिणामरूप स्वयं नहीं परिणमता, अतः 'आत्मा ने ज्ञानावरणादि कर्म किए' – ऐसा कथन उपचार का है, परमार्थ से नहीं है।

पुद्गलद्रव्य स्वयं ज्ञानावरणादि कर्मरूप से परिणमित होता है, अज्ञानी जीव स्वयं ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित नहीं होता। अज्ञानी जीव तो अज्ञानभाव से अपने राग-द्वेषादि परिणाम को करता हुआ एक ओर है। उन राग-द्वेषादि के निमित्त से पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणम जाता है। उसमें अज्ञानी जीव का कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। सब वस्तुएँ स्वतंत्र जुदी-जुदी हैं। रजकरण स्वतंत्र वस्तु है। रजकरण स्वयं ज्ञानावरणादि-रूप परिणम जाते हैं, उसमें अज्ञानी जीव कुछ नहीं करता; तथापि 'आत्मा ने कर्म किया' – ऐसा उपचार से कहने का व्यवहार है, आरोपित कथन द्वारा लोक में ऐसा कहा जाता है, यह बात परमार्थ नहीं है। आत्मा जड़कर्म की अवस्था का कर्त्ता नहीं है, तो फिर वह दूसरों का उद्धार करता है व देश की सेवा करता है – यह बात ही कहाँ रही? समाज का, देश

का या दूसरे बाहर के – परद्रव्यों के जो कार्य होते हैं, उनका कर्त्ता आत्मा नहीं है।

भगवान ! तेरा तो चैतन्य देश है, उसमें ज्ञानादि अनन्त गुणों से भरा हुआ बहुमूल्य माल है। श्रीमद् राजचन्द्र ने भी कहा है कि 'हम परदेशी पंछी साधु, आर्य देश के नाहीं रे।' अहाहा....! ज्ञानी कहते हैं कि यह हिन्दुस्तान या सौराष्ट्र हमारा देश नहीं है। हमारा देश तो ज्ञान व आनन्दरूप भगवान आत्मा है। ऐसे असंख्य प्रदेशवाले अपने देश को पहचानकर उसी में स्थिर होकर वसना – रहना ही सम्यग्दर्शन व धर्म है। वही मोक्षमार्ग है और वही स्वयं मोक्षपद रूप है।

गाथा १०६ के भावार्थ पर प्रवचन

पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप से परिणमते हैं। आत्मा जड़-कर्मरूप नहीं परिणमता। आत्मा ने जड़कर्मों को किया – ऐसा उपचार से कहा जाता है। जड़कर्म की प्रकृति पुद्गल से बँधती है, उसका कर्त्ता आत्मा नहीं है। जब कर्मों का कर्त्ता भी आत्मा नहीं है तो फिर व्यापार, उद्योग वगैरह बाह्य परद्रव्य की क्रियाओं का कर्त्ता आत्मा कैसे हो सकता है? पर की परिणति को कौन कर सकता है? अज्ञानभाव से जो विकारी-भाव होता है, वह इस कर्मबन्धन में निमित्त माना है। इससे उपचार से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा ने जड़कर्मों को किया। परमार्थतः आत्मा जड़कर्मों का कर्त्ता नहीं है।

संयोगदृष्टिवालों को यह बात समझ में आना कठिन है। 'पर का कार्य जीव करता है' – ऐसा मानना दो द्रव्यों की एकताबुद्धि है। अज्ञानी ने दो द्रव्यों की भिन्नता नहीं मानी; जबकि दो द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव माना है तथा पुद्गलद्रव्य की एक परमाणु की पर्याय से दूसरे परमाणु की पर्याय के बीच अन्योन्याभाव है। संयोगीदृष्टिवाले को सब एक भासित होते हैं, परन्तु भाई ! अभाव क्या करे? कर्मबन्ध की प्रत्येक पर्याय का अपना-अपना जन्मक्षण है। जड़कर्म की पर्याय स्वतंत्र परमाणुओं से हुई है, राग के परिणाम से कर्म की पर्याय नहीं होती।

आत्मा पर का कार्य नहीं कर सकता; आत्मा जड़कर्म को बाँधता भी नहीं है और छोड़ता भी नहीं है। भाई! ऐसी सूक्ष्म तत्त्व दृष्टि हुए बिना धर्म होना सुलभ नहीं है। भेदज्ञान करना ही धर्मप्राप्ति का सच्चा उपाय है।

समयसार गाथा १०७

अत एतत्स्थितम् –

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पोग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च ।
आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यम् ॥१०७॥

अयं खल्वात्मा न गृह्णाति न परिणमयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्यव्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म यत्तु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणमयति उत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः ।

अब कहते हैं कि उपरोक्त हेतु से यह सिद्ध हुआ कि :–

उपजावता, प्रणमावता ग्रहता, अवरु बांधे, करे ।
पुद्गलदरब को आतमा – व्यवहारनयवक्तव्य है ॥ १०७ ॥

गाथार्थ :– [आत्मा] आत्मा [पुद्गलद्रव्यम्] पुद्गलद्रव्य को [उत्पादयति] उत्पन्न करता है, [करोति च] करता है, [बध्नाति] बाँधता है, [परिणामयति] परिणमन कराता है [च] और [गृह्णाति] ग्रहण करता है – यह [व्यवहारनयस्य] व्यवहारनय का [वक्तव्यम्] कथन है ।

टीका :– यह आत्मा वास्तव में व्याप्यव्यापक भाव के अभाव के कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक (पुद्गलद्रव्य-स्वरूप) कर्म को ग्रहण नहीं करता, परिणमित नहीं करता, उत्पन्न नहीं करता, और न उसे करता है, न बाँधता है; तथा व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने पर भी "प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म को आत्मा ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है" – ऐसा जो विकल्प वह वास्तव में उपचार है ।

भावार्थ :– व्याप्यव्यापकभाव के बिना कर्तृत्वकर्मत्व कहना सो उपचार है, इसलिये आत्मा पुद्गलद्रव्य को ग्रहण करता है, उत्पन्न करता है इत्यादि कहना सो उपचार है।

गाथा १०७ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

जिसप्रकार युद्ध लड़ते तो योद्धा हैं और कहा यह जाता है कि राजा युद्ध लड़ता है; उसीतरह कर्म का बन्ध होता तो उसकी तत्समय की पर्याय की योग्यता से है और कहा यह जाता है कि आत्मा कर्म बाँधता है। सो यह कथन उपचार या व्यवहार का है।

कर्मबन्ध में व आत्मा में व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है। जड़कर्म व्याप्य है व उसी के जड़-परमाणु उसमें व्यापक हैं। अतः जड़कर्म की पर्याय के कर्त्ता जड़ परमाणु ही हैं। आत्मा का उस पर्याय के साथ व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव है, इसलिए आत्मा जड़कर्म का कर्त्ता नहीं है और जड़कर्म आत्मा का कार्य नहीं है। यद्यपि जीव का जैसा विकारी भाव होता है, तद्नुसार ही कर्मप्रकृति बँधती है, तथापि जो कर्मबन्ध की पर्याय होती है, वह उसके स्वयं के कारण होती है, जीव के विकारी भावों के कारण नहीं।

जितना योग का कम्पन व कषायभाव हो, उतना ही, उसी अनुपात में जड़कर्म में प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभागबन्ध होता है। 'प्रकृति व प्रदेशबन्ध योग से तथा स्थिति व अनुभागबन्ध कषाय से होता है' – ऐसा जो शास्त्र में कथन आता है, वह निमित्त की अपेक्षा से किया गया कथन है। वहाँ निमित्त का ज्ञान कराया गया है, लेकिन यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ तो कर्त्ता-कर्म का स्वरूप समझाते हुए कह रहे हैं कि 'कर्मबन्ध की अवस्था व्याप्य अर्थात् कार्य तथा आत्मा उसका व्यापक अर्थात् कर्त्ता हो – ऐसा नहीं है, क्योंकि दो भिन्न द्रव्यों में ऐसे व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है। कर्मबन्ध की अवस्था परिणाम व आत्मा परिणामी– ऐसे परिणाम-परिणामी भाव का अभाव है। जो चार प्रकार का बन्ध होता है, वह तो पुद्गल परमाणुओं की पर्याय है तथा परमाणु उसमें व्यापक है, इसलिए कर्मबन्ध की पर्याय का कर्त्ता पुद्गल परमाणु है, आत्मा नहीं। आत्मा उस कर्मबन्ध का कर्त्ता तथा वह कर्मबन्ध आत्मा का कार्य नहीं है।

वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, परन्तु भाई! रुचि और लगन से अभ्यास करें तो समझ में न आये – ऐसा भी नहीं है। आत्मा जड़कर्मों को करता है एवं उसके फल को भोगता है – यह बात सत्य नहीं है।

जड़कर्म जड़-पुद्गल परमाणुओं से बँधते हैं। प्रकृति अर्थात् स्वभाव, प्रदेश अर्थात् परमाणुओं की संख्या – ये दोनों जड़कर्म की अवस्थायें अपनी स्वयं की परमाणुओं की कारणरूप योग्यता से बँधते हैं। इसीप्रकार स्थिति व अनुभाग (फलदानशक्ति) रूप कार्य भी जड़-परमाणु से, उन्हीं के कारण होते हैं। आत्मा का उनके साथ व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है। परमाणुओं की कर्मबन्धरूप पर्याय व्याप्य व आत्मा उसका व्यापक नहीं है, इसलिये आत्मा कर्मबन्धरूप पर्याय का कर्त्ता नहीं है और वह पर्याय आत्मा का कार्य नहीं है।

आत्मा का जड़कर्म के साथ परिणामी-परिणाम सम्बन्ध नहीं है, कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। आत्मा जड़ कर्म की पर्याय का कर्त्ता नहीं है, तो बाह्य व्यापारादि कार्यों का कर्त्ता आत्मा कैसे हो सकता है? बाह्य पदार्थों की क्रिया व्याप्य व आत्मा उनका व्यापक – ऐसा कैसे हो सकता है? व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न पदार्थों में नहीं होता। अरे भाई! विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है। अपने-अपने स्व-परिणामों का कर्त्ता ही प्रत्येक द्रव्य है; एक द्रव्य के परिणमन का कर्त्ता दूसरा द्रव्य हो – ऐसा संभव नहीं है। जैसे – कुम्हार घटरूप कार्य का कर्त्ता नहीं है, वैसे ही आत्मा जड़कर्म की पर्याय का कर्त्ता नहीं है।

जड़कर्म के बन्ध के चार प्रकार हैं। कर्मपरमाणुओं की संख्या का नाम प्रदेशबन्ध है, उनका स्वभाव प्रकृतिबन्ध है तथा, कर्मबन्ध की काल की मर्यादा स्थितिबंध है और कर्मों की फलदानशक्ति को अनुभागबन्ध कहते हैं। इन चारों ही अवस्थाओं के कर्त्ता स्वयं उन्हीं के कर्मपरमाणु हैं, आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है। चारों प्रकार की जो कर्मबन्ध की अवस्थाएँ होती हैं, वे अवस्थाएँ ही उन परमाणुओं के प्राप्य कर्म हैं, क्योंकि उन कर्मबन्ध की अवस्था में उससमय वे ही परमाणु तद्रूप परिणमित होते हैं, उसमें दूसरा (जीव) तद्रूप परिणमित नहीं होता।

जिसप्रकार – रोटी एक कार्य है, वह रोटी परमाणुओं का प्राप्य कर्म है। रोटी के परमाणु उस रोटीरूप नियत पर्याय को प्राप्त होते हैं, तद्रूप परिणमते हैं। रसोई बनानेवाली बाई उस रोटीरूप नहीं परिणमती। 'बाई ने रोटी बनाई' यह तो कहने मात्र का व्यवहार है, वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। उसीप्रकार जड़कर्मों के बन्ध की अवस्था कर्मपरमाणुओं का प्राप्य कर्म है, क्योंकि उस बन्धरूप अवस्था को वे परमाणु स्वयं प्राप्त होते हैं अर्थात् वे ही तद्रूप परिणमते हैं, जीव तद्रप नहीं परिणमता।

इस परमागम मन्दिर की जो रचना हुई, यह एक कार्य है । यह पुद्गल परमाणुओं का प्राप्य कर्म है। मन्दिर में स्थित पुद्गलद्रव्य के परमाणुओं ने उस नियत पर्याय को तद्रूप परिणत होकर प्राप्त किया है । कारीगर या अन्य किसी ने तद्रूप परिणमन नहीं किया, इसकारण मन्दिर की रचना उन पुद्गल परमाणुओं का ही कार्य है, अन्य किसी का नहीं ।

इस प्राप्य, विकार्य व निर्वर्त्यकर्म की चर्चा इसी समयसार ग्रन्थ की ७३, ७७, ७८ एवं ७९ वीं गाथा में विस्तार से आ चुकी है । वही बात यहाँ १०७ वीं गाथा में कही है । प्रवचनसार की ५२ वीं गाथा में भी यह शब्द आया है ।

द्रव्य में जो ध्रुवरूप से (स्वकाल नियत) पर्याय है, उसे प्राप्त किया, अर्थात् द्रव्य उस नियत पर्यायरूप से परिणमित हुआ; इसलिए वह उस द्रव्य का प्राप्यकर्म है । पूर्व अवस्था बदलकर वह पर्याय हुई, इसलिए वही पर्याय विकार्यकर्म कहलाई तथा नवीन उपजी, इस अपेक्षा उसे ही निर्वर्त्यकर्म कहा गया है । इसप्रकार तीनों एक ही समय की पर्याय के भेद हैं और उनके कर्त्ता तद्रूप परिणत होनेवाले वे पुद्गल परमाणु हैं, आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है ।

देखो, जीव की आयु व उसके शरीर की जो अवस्था है, वह परमाणुओं का प्राप्य है, उनका कर्त्ता वे परमाणु हैं । वहाँ दूसरा कोई कहे कि 'मैंने इस जीव की दया का पालन किया, तो वह मिथ्यादृष्टि है । भाई ! वीतराग जिनेश्वरदेव का मार्ग बिल्कुल जुदी जाति का है, ऐसी बात जगत् में अन्यत्र कहीं नहीं है ।

प्राप्य, विकार्य व निर्वर्त्य – ये तीनों एक समय की पर्याय के ही भेद हैं । ये वस्तु की परिपूर्ण स्वतंत्रता जाहिर करते हैं । जो पुद्गल-द्रव्यात्मक कर्म बँधते हैं, आत्मा उनको ग्रहण नहीं करता । 'योग के कारण कर्म परमाणुओं को ग्रहण करता है, – यह कथन निमित्त की अपेक्षा से है, अत: औपचारिक कथन है, वास्तविक नहीं । इसीप्रकार स्थिति व अनुभाग-बन्ध के सम्बन्ध में भी जिनवाणी में निमित्त की अपेक्षा नानाप्रकार के कथन हैं, उन्हें यथास्थान यथार्थ समझना ।

जैसे – मोहनीय कर्म की ७० कोड़ा-कोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट एवं एक अन्तर्मुहूर्त की जघन्य स्थिति पड़ती है, वह अपनी-अपनी पर्याय की स्वतंत्र योग्यता से पड़ती है, उन पर्यायों के कर्त्ता कर्म के परमाणु हैं; जीव को कषाय हुई, इसकारण कर्म का स्थितिबन्ध नहीं हुआ । इसीतरह

फलदानशक्तिरूप अनुभागबन्ध भी परमाणुओं की अपनी स्वयं की योग्यता से हुआ है। वह भी पुद्गलद्रव्य का प्राप्यकर्म है। कर्मबन्ध की अवस्था को पुद्गलद्रव्य ही ग्रहण करता है, आत्मा उसे ग्रहण नहीं करता। अरे भाई! यद्यपि कर्म के साथ आत्मा का अत्यन्त नजदीक का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, तथापि आत्मा उसका कर्त्ता नहीं है, तो फिर अन्य हिलने-डुलने, खाने-पीने, चलने-फिरनेरूप क्रियाओं का कर्त्ता आत्मा कैसे हो सकता है?

यहाँ यह कह रहे हैं कि जड़ कर्मबन्ध की जो अवस्थाएँ होती हैं, वे पुद्गलद्रव्य के प्राप्य, विकार्य व निर्वर्त्यकर्म हैं, जीव उनका कर्त्ता नहीं है। जड़कर्म व आत्मा के व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से आत्मा जड़कर्म को ग्रहण नहीं करता, परिणमाता नहीं है तथा उत्पन्न नहीं करता एवं बाँधता नहीं है।

यद्यपि मिट्टीमय घड़ा मिट्टी का ही कार्य है। मिट्टी ही उसमें व्यापक है, इसकारण मिट्टी ही उसकी कर्त्ता है। घड़ा कुम्हार का व्याप्य कर्म नहीं है, कुम्हार घड़े में व्यापक होकर या पसरकर तन्मय नहीं हुआ है। घड़ेरूप अवस्था व कुम्हार में व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है, इसलिए घड़ारूप कार्य का कुम्हार कर्त्ता नहीं है। घड़ा मिट्टी में से अपनी घटरूप अवस्था से परिणत हुआ है तथा कुम्हार उसमें निमित्तमात्र है, इसकारण कुम्हार ने घड़ा बनाया नहीं है।

यद्यपि परपदार्थ का जो कार्य होता है, वह उसी परपदार्थ से होता है, तथापि निमित्त की मुख्यता से ऐसा कहने का व्यवहार है कि अमुक कार्य अमुक परद्रव्य ने किया है, सो यह उपचार का कथन है, वास्तविक नहीं। अज्ञानी जीव का जो यह विकल्प है कि 'मैं पर का कार्य करता हूँ', उसका यह विकल्प उपचार है। ज्ञानी को तो अपने ज्ञाताद्रष्टा स्वभाव का भान है। इसकारण उसके परिणाम बंध में निमित्त नहीं हैं। वस्तुतः ज्ञानी को बन्ध नहीं है। धर्मी को वीतराग परिणाम होता है, इसकारण उसको कर्म का बन्ध भी नहीं होता और उस बन्ध में उसका परिणाम निमित्त भी नहीं होता।

धर्मी जीव को अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का भान हुआ है। वह जानता है कि मैं तो शुद्ध चैतन्यमय अखण्ड अभेद एकरूप आत्मा हूँ। उससमय जो राग होता है तथा जड़कर्म की प्रकृति बँधती है, वह उसके ज्ञान में निमित्त है। ज्ञान तो स्व-पर को जानता हुआ अपने उपादान से हुआ है। उसमें राग व कर्म की अवस्था निमित्त कही जाती है। कर्म के प्रकृति एवं

प्रदेशवन्ध में ज्ञानी निमित्त भी नहीं होता। यद्यपि अज्ञानी योग व राग का कर्त्ता है तथा उस अज्ञानी का योग व राग तत्समय होनेवाले कर्मवन्ध में निमित्त भी होता है; तथापि यदि ऐसा कहा हो कि योग व राग से कर्मवन्ध होता है, तो यह व्यवहार का उपचरित कथन है, परमार्थ नहीं। यहाँ उपचार का अर्थ व्यवहार कल्पना है। कोई भी परद्रव्य अन्य परद्रव्य का कर्त्ता नहीं है, फिर भी उसे पर का कर्त्ता कहना उपचार है।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है। प्रतिसमय पदार्थ की जो अवस्था होती है; वह अपने स्वकाल में उसी पदार्थ से होती है, अन्य से नहीं। उस कार्य होने का वही जन्मक्षण है। पदार्थ की उस पर्याय को कोई अन्य करे – यह वात सर्वथा असत्य है, विलकुल भी सत्य नहीं है। पुद्गलद्रव्यरूप कर्मवन्ध की जिससमय जो पर्याय होती है, वह उससे स्वयं से होती है और वही उसका जन्मक्षण है। परमाणु में उससमय में उत्पन्न होने का स्वकाल निश्चित है, इसकारण वह कर्मवन्ध की पर्याय अपने स्वकाल में उत्पन्न होती है। आत्मा उस कर्मवन्ध की पर्याय को ग्रहण या उत्पन्न नहीं करता। जीव ने राग किया, इसकारण वह कर्मवन्ध की पर्याय हुई हो – ऐसा नहीं है। राग तो उसमें निमित्तमात्र है। राग से कर्मवन्ध हुआ या आत्मा ने कर्मवन्ध किया – ऐसा कहना उपचार का कथन है।

गाथा १०७ के भावार्थ पर प्रवचन

व्याप्य-व्यापकभाव के विना कर्त्ता-कर्मभाव नहीं होता तो भी अर्थात् व्याप्य-व्यापकभाव के अभाव में भी कर्त्ता-कर्म कहने का जो व्यवहार है, वह उपचार का कथन मात्र है। आत्मा जड़ को ग्रहण करता है, परिणमाता है, उत्पन्न करता है – ऐसा कहना उपचरित कथन है, वास्तविक नहीं।

क्रिया एक करता जुगल, यौं न जिनागम मांहि।
अथवा करनी औरकी, और करै यौं नाहि॥ २१॥
करै और फल भोगवै, और वनै नहीं एम।
जो करता सो भोगता, यहै जथावत जेम॥ २२॥
भावकरम करतव्यता, स्वयंसिद्ध नहि होइ।
जो जगकी करनी करै, जगवासी जिय सोइ॥ २३॥

— कविवर पण्डित वनारसीदास
समयसार नाटक, सर्वविशुद्धिद्वार

कथमिति चेत् –

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥ १०८ ॥

यथा राजा व्यवहारात् दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः ।
तथा जीवो व्यवहारात् द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ॥ १०८ ॥

यथा लोकस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको राजेत्युपचारः तथा पुद्गलद्रव्यस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको जीव इत्युपचारः ।

अब यहाँ प्रश्न करता है कि यह उपचार कैसे है ? उसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं :–

गुणदोष उत्पादक कहा ज्यों भूप को व्यवहार से ।
त्यों द्रव्यगुण उत्पन्नकर्त्ता, जीव कहा व्यवहार से ॥ १०८ ॥

गाथार्थ :– [यथा] जैसे [राजा] राजा को [दोषगुणोत्पादकः इति] प्रजा के दोष और गुणों को उत्पन्न करनेवाला [व्यवहारात्] व्यवहार से [आलपितः] कहा है, [तथा] उसी प्रकार [जीवः] जीव को [द्रव्यगुणोत्पादकः] पुद्गलद्रव्य के द्रव्य-गुणोंको उत्पन्न करनेवाला [व्यवहारात्] व्यवहार से [भणितः] कहा गया है ।

टीका :– जैसे प्रजा के गुण-दोषों में और प्रजा में व्याप्य-व्यापकभाव होने से स्वभाव से ही (प्रजा के अपने भाव से ही) उन गुणदोषों की उत्पत्ति होने पर भी यद्यपि उन गुणदोषों में और राजा में व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है, तथापि यह उपचार से कहा जाता है कि 'उनका

उत्पादक राजा है'; इसीप्रकार पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों में और पुद्गलद्रव्य में व्याप्य-व्यापकभाव होने से स्वभाव से ही (पुद्गलद्रव्य के अपने भाव से ही) उन गुण-दोषों की उत्पत्ति होनेपर भी यद्यपि गुण-दोषों में और जीव में व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है, तथापि 'उनका उत्पादक जीव है' – ऐसा उपचार किया जाता है।

भावार्थ :– जगत् में कहा जाता है कि 'यथा राजा तथा प्रजा'। इस कहावत से प्रजा के गुण-दोषों को उत्पन्न करनेवाला राजा कहा जाता है। इसीप्रकार पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों को उत्पन्न करनेवाला जीव कहा जाता है। परमार्थदृष्टि से देखा जाये तो यह यथार्थ नहीं, किन्तु उपचार है।

गाथा १०८ की उत्थानिका, गाथा, टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

लोक में कहावत है कि – 'यथा राजा तथा प्रजा' अर्थात् जैसा राजा वैसी प्रजा, किन्तु यह तो कथन मात्र है, निमित्त का कथन है। वस्तुत: तो राजा की पर्याय राजा में है व प्रजा की पर्याय प्रजा में है। प्रजा के गुण-दोषों का प्रजा के साथ ही व्याप्य-व्यापकभाव है, राजा में प्रजा के गुण-दोषों का व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है। राजा के कारण प्रजा गुण-दोष नहीं करती। राजा अपने दुष्ट परिणाम के फलस्वरूप नरक में जाता है और प्रजाजन अपने गुण से मोक्ष पा लेते हैं। भाई! प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। एक द्रव्य का परिणमन दूसरे द्रव्य के आधीन नहीं है।

प्रजा के स्वयं के भाव से उसके गुण-दोषों की उत्पत्ति होती है। प्रजा के गुण-दोषों को राजा उत्पन्न नहीं करता अथवा राजा के कारण प्रजा में गुण-दोष उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि प्रजा के गुण-दोष व्याप्य व राजा उनका व्यापक ऐसे व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है। यद्यपि वास्तविकता यही है, तथापि प्रजा के गुण-दोषों को राजा उत्पन्न करता है – ऐसा उपचार से कहा जाता है। 'जैसा बाप वैसा बेटा' यह सब निमित्त की अपेक्षा उपचरित कथन है। इनमें वास्तविकता नहीं है, क्योंकि बाप नरक चला जाता है और बेटा मोक्षपद प्राप्त करता है। तीव्र मानादि कषाय के फल में बाप नरक जाता है और मंद रागरूप परिणाम के शुभभाव से बेटा स्वर्ग जाता है, तो फिर 'जैसा बाप वैसा बेटा' यह नियम कहाँ रहा? यह तो मात्र उपचार का कथन है, इसमें सत्यांश नहीं है।

लोक में स्त्री को अर्द्धांगिनी कहते हैं, तो क्या दो शरीर मिलकर एक हुए हैं? स्त्री अपने मायाचार के फल से मरकर पशु पर्याय में चली

जाती है, मनुष्य स्वभाव की सरलता से स्वर्ग में जाता है। अरे! जीव पर को अपना मानकर ही अनन्त काल से जन्म-मरण कर रहा है। वास्तव में कोई किसी का कुछ भी नहीं करता। परद्रव्य की पर्याय को जीव करता है – ऐसा कहना उपचार है।

अब कहते हैं कि जड़कर्म अपने स्वभाव से ही बँधते हैं। कर्म की प्रकृति के गुण-दोषों का व आत्मा के विकारी भावों का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है। अज्ञानी जीव योग व राग का कर्त्ता है, उसका वह परिणाम जड़कर्म की पर्याय का निमित्त कहा जाता है, परन्तु वह परिणाम जड़कर्म का कर्त्ता नहीं है।

कोई सम्यग्दृष्टि व्यापारी हो तथा दुकान की गद्दीपर बैठा हो, वहाँ जो लेना-देना होता है, उसका वह ज्ञाता-दृष्टा है, जाननेवाला ही है, कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी तो अपने ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय में व्यापक होकर ज्ञान की पर्याय को प्राप्त करता है, उस समय जो राग हुआ और जड़कर्म का बंध हुआ – इसका ज्ञानी को मात्र ज्ञान हुआ है, किन्तु उस जड़प्रकृति की पर्याय का तथा योग एवं राग की पर्याय का वह कर्त्ता नहीं है।

पुद्गल के गुण-दोषों को पुद्गल करता है, आत्मा नहीं। पुद्गल में साता-असाता कर्म बँधते हैं, वे सब पुद्गल के गुण-दोष कहे जाते हैं। पुद्गल के गुण-दोषों में व जीव में परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है। पुद्गल की पर्याय कार्य व आत्मा उसका कर्त्ता – ऐसे भाव का उसमें अभाव है, तथापि 'उसका उत्पादक जीव है' ऐसा उपचार निमित्त का ज्ञान कराने के लिए किया जाता है।

अब आगे की गाथा का सूचक काव्य कहते हैं :—

(वसन्ततिलका)

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय
संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥ ६३ ॥

श्लोकार्थ :– **[यदि पुद्गलकर्म जीवः न एव करोति]** 'यदि पुद्गल-कर्म को जीव नहीं करता **[तर्हि]** तो फिर **[तत् कः कुरुते]** उसे कौन करता है ?' **[इति अभिशङ्कया एव]** ऐसी आशंका करके, **[एतर्हि]** अब **[तीव्र–रय–मोह–निवर्हणाय]** तीव्र वेगवाले मोह का (कर्तृत्व-कर्मत्व के अज्ञान का) नाश करने के लिये, यह कहते हैं कि **[पुद्गलकर्मकर्तृ-**

सङ्कीर्त्यते] 'पुद्‌गलकर्म का कर्ता कौन है'; [शृणुत] इसलिये (हे ज्ञान के इच्छुक पुरुषों!) इसे सुनो।

कलश ६३ पर प्रवचन

इस कलश में अगली गाथाओं की उत्थानिका है। यहाँ शिष्य का प्रश्न है कि यदि जीव पुद्‌गल कर्मो को नहीं करता तो फिर उन्हें कौन करता है?

ऐसी आशंका करके शिष्य गुरु से पूछता है कि हे गुरुदेव! जो आपने कहा, वह तो पूर्ण सत्य है; परन्तु मेरी समझ में बैठा नहीं है, अतः विशेष स्पष्टीकरण करके समझाइए।

यहाँ आशंका का अर्थ गुरु के कथन में अविश्वास या शंका नहीं समझना, बल्कि समझ में नहीं आया कि यह किस प्रकार संभव हो सकता है? ऐसी यथार्थ समझने की जिज्ञासा से शिष्य का विनम्रतापूर्वक प्रश्न है।

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यदेव प्रस्तुत चार गाथाओं का चतुष्टय कहते हैं। इन गाथाओं में तीव्र मोह का अभाव करनेवाला तथा कर्त्ता-कर्म के अज्ञान का नाश करनेवाला पुद्‌गलकर्म के कर्तृत्व का कथन है।

पुग्गलकर्म करै नहि जीव
कही तुम मैं समुझी नहि तैसी।
कौन करै यह रूप कहौ अव,
को करता करनी कहु कैसी॥
आपुही आपु मिलै विछुरै जड़,
क्यौं करि मो मन संसय ऐसी।
सिष्य संदेह निवारन कारन,
वात कहैं गुरु है कछु जैसी॥१६॥

—कविवर पण्डित बनारसीदास
समयसार नाटक, कर्ता कर्म क्रिया द्वार

समयसार गाथा १०९ से ११२

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥ १०९ ॥

तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।
मिच्छादिट्ठीआदो जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥ ११० ॥

एदे अचेदणा खलु पोग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा ।
ते जदि करेंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा ॥ १११ ॥

गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा ।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥ ११२ ॥

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यंते बंधकर्तारः ।
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः ॥१०९॥

तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः ।
मिथ्यादृष्टयादिः यावत् सयोगिनश्चरमान्तः ॥११०॥

अब यह कहते हैं कि पुद्गल कर्म का कर्त्ता कौन है :-

सामान्य प्रत्यय चार, निश्चय बंधके कर्ता कहे ।
मिथ्यात्व अरु अविरमण, योगकषाय ये ही जानने ॥१०९॥

फिर उनहिका दर्शा दिया, यह भेद तेर प्रकार का ।
मिथ्यात्व गुणस्थानादि ले, जो चरमभेद सयोगिका ॥११०॥

पुद्गलकरम के उदय से, उत्पन्न इससे अजीव वे ।
वे जो करें कर्मो भले, भोक्ता भि नहिं जीवद्रव्य है ॥१११॥

परमार्थ से 'गुण' नाम के, प्रत्यय करें इन कर्म को ।
तिससे अकर्त्ता जीव है, गुणथान करते कर्म को ॥११२॥

एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मात् ।
ते यदि कुर्वन्ति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ।।१११।।

गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वति प्रत्यया यस्मात् ।
तस्माज्जीवोऽकर्ता गुणाश्च कुर्वन्ति कर्माणि ।।११२।।

पुद्गलकर्मणः किल पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ तद्विशेषाः मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बंधस्य सामान्यहेतुतया चत्वारः कर्तारः; ते एव विकल्प्यमाना मिथ्यादृष्टचादिसयोगकेवल्यन्तास्त्रयोदश कर्तारः। अथैते पुद्गलकर्मविपाकविकल्पत्वादत्यंतमचेतनाः संतस्त्रयोदश कर्तारः केवला एव यदि व्याप्यव्यापकभावेन किंचनापि पुद्गलकर्म कुर्यु स्तदा कुर्यु रेव,

---

गाथार्थ :– [चत्वारः] चार [सामान्यप्रत्ययाः] सामान्य प्रत्यय [खलु] निश्चय से [बंधकर्तारः] बंध के कर्त्ता [भण्यंते] कहे जाते हैं, वे – [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अविरमणं] अविरमण [च] तथा [कषाययोगौ] कषाय और योग [बोद्धव्याः] जानना। [पुनः अपि च] और फिर [तेषां] उनका [अयं] यह [त्रयोदशविकल्पः] तेरह प्रकार का [भेदः तु] भेद [भणितः] कहा गया है – [मिथ्यादृष्टचादिः] मिथ्यादृष्टि (गुणस्थान) से लेकर [सयोगिनः चरमांतः यावत्] सयोगकेवली (गुणस्थान) के चरम समय पर्यंत का [एते] यह (प्रत्यय अथवा गुणस्थान) [खलु] जो कि निश्चय से [अचेतनाः] अचेतन हैं [यस्मात] क्योंकि [पुद्गलकर्मोदयसंभवाः] पुद्गलकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं [ते] वे [यदि] यदि [कर्म] कर्म [कुर्वंति] करते हैं तो भले करें; [तेषां] उनका (कर्मोका) [वेदकः अपि] भोक्ता भी [आत्मा न] आत्मा नहीं है। [यस्मात्] क्योंकि [एते] यह [गुणसंज्ञिताः तु] 'गुण' नामक [प्रत्ययाः] प्रत्यय [कर्म] कर्म [कुर्वंति] करते हैं [तस्मात्] इसलिये [जीवः] जीव तो [अकर्ता] कर्मों का अकर्ता है [च] और [गुणाः] 'गुण' ही [कर्माणि] कर्मों को [कुर्वंति] करते हैं।

टीका :– वास्तव में पुद्गलकर्म का पुद्गलद्रव्य ही एक कर्त्ता है; उसके विशेष – मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग वन्ध के सामान्य हेतु होने से चार कर्त्ता हैं। उन्हीं के भेद करने पर मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली पर्यंत तेरह कर्त्ता है। अव, जो पुद्गलकर्म के विपाक के प्रकार होने से अत्यन्त अचेतन हैं ऐसे यह तेरह कर्त्ता ही मात्र व्याप्यव्यापकभाव

किं जीवस्यात्रापतितम् ? अथायं तर्कः – पुदगलमयमिथ्यात्वादीन् वेदयमानो जीवः स्वयमेव मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा पुद्गलकर्म करोति । स किलाविवेकः, यतो न खल्वात्मा भाव्यभावकभावाभावात् पुद्गलद्रव्यमयमिथ्यात्वादिवेदकोपि, कथं पुनः पुद्गलकर्मणः कर्ता नाम ? अथैतदायातम् यतः पुद्गलद्रव्यमयानां चतुर्णां सामान्यप्रत्ययानां विकल्पास्त्रयोदश विशेषप्रत्यया गुणशब्दवाच्याः केवला एव कुर्वंति कर्माणि, ततः पुद्गलकर्मणाम कर्ता जीवो गुणा एव तत्कर्तारः । ते तु पुद्गलद्रव्यमेव । ततः स्थितं पुद्गलकर्मणः पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ ।

से यदि कुछ भी पुद्गलकर्म को करें तो भले करें; इस में जीव का क्या आया ? (कुछ भी नहीं ।)

यहाँ तर्क है कि पुद्गलमय मिथ्यात्वादि को भोगता हुआ जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्म को करता है। (इसका समाधान यह है कि:–) यह तर्क वास्तव में अविवेक है, क्योंकि भाव्यभावकभाव का अभाव होने से आत्मा निश्चय से पुद्गलद्रव्यमय मिथ्यात्वादि का भोक्ता भी नहीं है, तब फिर पुद्गलकर्म का कर्त्ता कैसे हो सकता है ? इसलिये यह सिद्ध हुआ कि–जो पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्यप्रत्ययों के भेदरूप तेरह विशेषप्रत्यय हैं, जो कि 'गुण' शब्द से (गुणस्थान नामसे) कहे जाते हैं, वही मात्र कर्मो को करते हैं, इसलिये जीव पुद्गलकर्मों का अकर्ता है, किन्तु 'गुण' ही उनके कर्त्ता हैं; और वे 'गुण' तो पुद्गलद्रव्य ही हैं; इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलकर्म का पुद्गलद्रव्य ही एक कर्त्ता है ।

भावार्थ :– शास्त्रों में प्रत्ययों को बन्ध का कर्त्ता कहा गया है। गुणस्थान भी विशेष प्रत्यय ही हैं, इसलिये ये गुणस्थान बन्ध के कर्त्ता हैं अर्थात् पुद्गलकर्म के कर्त्ता हैं, और मिथ्यात्वादि सामान्य प्रत्यय या गुणस्थानरूप विशेष प्रत्यय अचेतन पुद्गलद्रव्यमय ही हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्म का कर्त्ता है; जीव नहीं । जीव को पुद्गलकर्म का कर्त्ता मानना अज्ञान है ।

गाथा १०९ से ११२ की उत्थानिका, गाथा व टीका पर प्रवचन

यहाँ यह कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली तक जो भेदरूप तेरह गुणस्थान हैं, वे सब अचेतन पुद्गल हैं। त्रिकाली शुद्ध

भगवान आत्मद्रव्य में तेरह गुणस्थान कहाँ हैं? यह बात गाथा ६९ में भी आ गई है।

१. पुद्गल कर्म का एक पुद्गल द्रव्य ही कर्त्ता है।

२. इसके विशेष – मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग ये चार बन्ध के सामान्य हेतु होने से ये चार कर्त्ता हैं।

३. इन्हीं के भेद करने पर मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली तक तेरह कर्त्ता हैं।

देखो, पहले यह कहा कि एक ही कर्त्ता है, पश्चात् उसके चार भेद किए। फिर उन्हें ही भेदरूप करने पर मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली तक तेरह कर्त्ता हैं ऐसा कहा। यहाँ यह समझाना है कि आत्मा जो कि अखण्ड एक शुद्ध चैतन्यमय द्रव्य है, उसका लक्ष्य करे, तो मिथ्यात्वादि भावों का नाश हो जायेगा। जो तेरह गुणस्थान हैं, वे जीव के स्वरूप में नहीं हैं, क्योंकि ये तो पुद्गल कर्म के कारण पड़े हुए भेद हैं। उन्हें पुद्गल कर्म करे तो करे, इसमें आत्मा को क्या? ऐसा कहकर आत्मा अभेद है, शुद्ध चैतन्यघन वस्तु है यह सिद्ध करना है। शुद्ध जीव द्रव्य इन तेरह गुणस्थानों का कर्त्ता नहीं है।

अब आगे कहते हैं कि ये तेरह गुणस्थान पुद्गल कर्म के विपाक हैं, इसलिये ये अचेतन हैं। इनमें चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का पाक नहीं है। यहाँ जीव की संपूर्ण अशुद्ध पर्यायों को पुद्गल में सम्मिलित कर दिया है।

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन आनन्द का नाथ प्रभु है। मिथ्यात्व से लेकर तेरह गुणस्थान जो कि पुद्गल के विपाक हैं, वे इस शुद्धात्मा में नहीं हैं। मिथ्यात्व पुद्गलकर्म का विपाक है। वह शुद्ध चैतन्य का फल या परिणमन नहीं है। यहाँ त्रिकाली शुद्ध चैतन्य वस्तु की दृष्टि कराना है, क्योंकि जो आत्मा को शुद्ध जानता है, वही शुद्ध का अनुभव करता है, और जो अशुद्ध को जानता है वह अशुद्ध का ही अनुभव करता है, उसे ही प्राप्त करता है। अहाहा ....! जो आत्मद्रव्य है, वह तो सकल निरावरण, अखण्ड, एक प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक, परमभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य है। वह द्रव्य कर्मों को क्या करेगा?

पर्याय के जो भेद पड़ते हैं, वह भी पुद्गलकर्म का पाक है। मिथ्यात्व दर्शनमोहनीयकर्म का पाक है, अविरति चारित्रमोहनीयकर्म का पाक है। मिथ्यात्व से लेकर सयोगकेवली तक के तेरह गुणस्थान कर्म के विपाक

हैं – इसकारण वे सब अत्यन्त अचेतन हैं। सयोगी गुणस्थान अचेतन है। संयोगी है न ? अहाहा····! चैतन्यमूर्ति भगवान पूर्णानन्द स्वरूप परम-पारिणामिक स्वभावरूप आत्मवस्तु में ये गुणस्थानादि के भेद नहीं हैं। जो पुद्गलकर्म के पाक हैं – ऐसे अचेतन तेरह गुणस्थान व्याप्य-व्यापकभाव से किसी पुद्गलकर्म को करें तो करें, उसमें जीव का क्या आया ? जीव तो शुद्ध अकर्त्ता है। जो भी नवीनकर्म बँधते हैं, वे इन तेरह कर्त्ताओं के व्याप्य – कर्म हैं।

वास्तव में तो प्रत्येक द्रव्य व्यापक (कर्त्ता) है और उसकी पर्याय ही उसका व्याप्य (कर्म) है; परन्तु यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो यह कहना है कि जो तेरह गुणस्थान हैं, वे तो व्यापक हैं तथा जो नवीन कर्मबन्ध होता है, वह उनका व्याप्य है। विकारी भाव प्रसरित होकर (पसरकर) नवीन कर्मरूप व्याप्य को बाँधते हैं, करते हैं – यहाँ ऐसा सम्बन्ध लेकर कथन किया है।

व्याप्य-व्यापकभाव वस्तुतः एक ही द्रव्य में होता है। द्रव्य कर्त्ता व्यापक एवं उसका कर्म या पर्याय उसका व्याप्य। परन्तु यहाँ दूसरी जुदी शैली (अपेक्षा) से बात कही गई है। आत्मा शुद्ध चेतन्यमय द्रव्य है तथा तेरह गुणस्थान अचेतन हैं। चैतन्यस्वभावी प्रभु आत्मा इन अचेतनरूप तेरह गुणस्थानों को कैसे कर सकता है ? जब अचेतन गुणस्थान शुद्ध आत्मद्रव्य में हैं ही नहीं, तो फिर आत्मा नवीन कर्म बाँधता है – यह बात ही कहाँ रही ? अहो ! भेदज्ञान की बात ही अलौकिक है।

जीवद्रव्य तो शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द प्रभु है। नवीनकर्म जो बँधते हैं वे तो तेरह गुणस्थानों के कारण बँधते हैं। गुणस्थान व्यापक व पुद्गल-कर्म उनका व्याप्य है; उनमें आत्मा व्यापक नहीं है। जो आत्मा तेरह गुणस्थानों में नहीं आता; वह नवीन कर्मबन्धन में कैसे आ सकता है, वह कर्मबन्ध को कैसे कर सकता है ? अहाहा····! जिसे शुद्ध द्रव्य का आश्रय करने की रुचि जागृत हुई है, उसे यदि मिथ्यात्वादि हों तो अल्प-काल में टल जायेगा ऐसी यह अपूर्व बात है। यहाँ कहते हैं कि तेरहों गुणस्थान अचेतन हैं, पुद्गल हैं, वे नवीन कर्मों को करें तो करे, उनमें जीव का क्या आया ? जीव तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान है। पर्याय में भले ही मिथ्यात्वादि हों, परन्तु शुद्ध चैतन्यमय स्वरूप का लक्ष्य करने पर वे सब छूट जावेंगे, मिट जायेंगे।

जयसेनाचार्य की टीका में आता है कि जिस प्रकार हल्दी व फिटकरी दोनों के मिलाने से लाल रंग होता है, एक से नहीं, पुत्रोत्पत्ति भी माता-

पिता के संयोग से होती है, एक से नहीं होती। उसीप्रकार यद्यपि विकार चैतन्य की पर्याय की योग्यता से होता है, तथापि उसमें पुद्‌गल की मिलावट है – ऐसा कहकर वहाँ विकार पुद्‌गल कर्म का कार्य है, यह बताना है; किन्तु यहाँ कहते हैं कि ये तेरह गुणस्थानरूप कर्त्ता पुद्‌गलकर्म को करें तो करें, जीवका इसमें कुछ भी कर्त्तृत्व नहीं है। जीव तो शुद्ध चिदानंदमय भगवान है।

९८वीं गाथा में भी आ गया है कि जौ पूर्वक जो जौ होता है, वह जौ ही है, इस न्याय से मिथ्यात्वादि गुणस्थान मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होने से सदा अचेतन व पुद्‌गल ही हैं, जीव नहीं हैं। जिसको शुद्ध चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मद्रव्य का लक्ष्य हुआ है, उसको तेरह गुणस्थान भले ही थोड़े काल तक पुद्‌गलकर्म बाँधे, किन्तु वह शुद्ध के लक्ष्य से स्वरूप स्थिरता का उग्र पुरुषार्थ करके तेरह गुणस्थान से रहित होकर अल्पकाल में मुक्ति को प्राप्त हुए विना नहीं रहेगा, अवश्य ही शीघ्र मुक्ति प्राप्त करेगा।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे ज्ञान के इच्छुक पुरुष ! तू सुन। अकेले द्रव्यस्वभाव से देखनेपर तू चैतन्यमूर्ति ज्ञान का पुंज, आनन्दरस का कंद, शुद्ध ज्ञायक प्रभु आत्मा है। उसमें ये मिथ्यात्वादि तेरह गुणस्थान नहीं हैं, क्योंकि ये तो सब पुद्‌गलकर्म के विपाक हैं, पुद्‌गल के फल हैं, चैतन्य के फल नहीं हैं। देखो, अशुद्धनिश्चय से जो जीव की पर्याय है, उसे व्यवहार मानकर यहाँ पुद्‌गलकर्म का विपाक कहा है। ऐसा कहकर आचार्यदेव गुणस्थानपर्याय का लक्ष्य छुड़ाकर त्रिकाली शुद्ध द्रव्य का लक्ष्य कराते हैं। कहते हैं कि हे भाई ! ये तेरह गुणस्थान थोड़ी देर के लिए कर्मबन्ध के कर्त्ता हों, तो भले ही हों; परन्तु तू तो शुद्ध चैतन्यमय निज परमात्मद्रव्य का लक्ष्य कर, और उसी में ही रमण कर; इससे तेरे सर्व कर्मबन्धन मिट जायेंगे। अहो ! आचार्य देव ने कैसी अद्‌भुत बात कही है।

प्रवचनसार की १८९वीं गाथा में यह कहा है कि निश्चय से राग व पुण्य-पाप के परिणामों का कर्त्ता जीव है, किन्तु वहाँ तो यह बताने का प्रयोजन है कि विकारीभाव जीव की पर्याय में है तथा राग की पर्याय में जीव का उल्टा पुरुषार्थ है और यहाँ सदा एक ज्ञानानन्दस्वरूप निज परमात्मा का लक्ष्य कराने का प्रयोजन है। अतः यह कहा है कि आत्मा गुणस्थानों से भिन्न शुद्ध चिदानन्दमय परमपारिणामिकभावरूप है और गुणस्थान पुद्‌गलकर्म के विपाकरूप अचेतन हैं, उन्हें शुद्ध चैतन्यमय आत्मा

कैसे कर सकता है ? जब गुणस्थानों को नहीं कर सकता, तो फिर पुद्गल कर्मों को करने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता, क्योंकि वे तो अत्यन्त भिन्न प्रगट पर ही हैं।

शिष्य को आशंका हुई कि पुद्गल कर्मों का कर्त्ता आत्मा नहीं है, तो फिर अन्य कौन है ?

इसके उत्तर में आचार्यदेव समझाते हैं कि ये मिथ्यात्वादि तेरह गुणस्थान जो कि पुद्गल के विपाक हैं तथा अचेतन हैं, वे नवीन कर्मबन्ध के कर्त्ता हैं तथा आचार्यदेव शिष्य को प्रेरणा देते हैं कि अरे भाई ! उन गुणस्थानादि को थोड़ी देर के लिए भले कर्त्ता मान लो, वे करें, तो भले करे, तुझे इससे क्या प्रयोजन ? तात्पर्य यह है कि तू तो शुद्ध जीवद्रव्य का लक्ष्य कर, जिससे तुझे वीतराग परिणति प्रगट होगी एवं अल्पकाल में सर्व कर्मों से मुक्ति मिल जायेगी।

भगवान आत्मा परिपूर्ण चिद्घनस्वरूप वस्तु है। वह व्यापक होकर गुणस्थानों को करे – ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है, तो फिर नवीन कर्मबन्ध का कर्त्ता तो कैसे हो सकता है ? इस कथन से कोई ऐसा अर्थ निकाले कि विकार कर्म के कारण होता है, तो यह मान्यता भी उसकी यथार्थ नहीं है। विकार तो जीव में अशुद्ध उपादान की योग्यता से होता है। शुद्ध जीवद्रव्य में विकार नहीं है और शुद्ध जीव में ऐसी कोई शक्ति या योग्यता भी नहीं है कि जो विकार को उत्पन्न करे। अशुद्ध उपादान की योग्यता से जीव में स्वयं से ही विकार उत्पन्न होता है और पुद्गल कर्म का उदय उसमें निमित्त होता है, इससे निमित्त की अपेक्षा उसे पुद्गल का विपाक कहा है। यहाँ द्रव्यस्वभाव की स्थिति सिद्ध करना है। इसकारण कहते हैं कि भगवान ! तेरा स्वभाव शुद्ध चैतन्यरूप है और ये तेरह गुणस्थान अचेतन स्वभाव हैं। इसतरह दोनों की भिन्नता सिद्ध की है तथा जड़कर्म का बन्धन होने में जड़ कारण है, चैतन्य कारण नहीं है यह सिद्ध किया है। ये तेरह गुणस्थान जड़ हैं और वे जड़ पुद्गलकर्म के कर्त्ता हैं।

भाई ! यह द्रव्यदृष्टि की बात है। एक ओर चैतन्यदल एवं दूसरी ओर जड़ का दल – ऐसे दो विभाग कर दिये हैं। अहाहा....! एक ओर राम (आत्मा) और दूसरी ओर सारा ग्राम (जड़भाव) है। अचेतन गुणस्थान अचेतन कर्मों को करें तो करें, इसमें चेतन का क्या है ? इस प्रकार पुद्गल कर्मों का कर्त्ता कौन है ? इस आशंका का समाधान कर रहे हैं।

भाई ! तू शुद्ध चैतन्यमय शाश्वत् महाप्रभु है और ये तेरह गुणस्थान आस्रव हैं, पुद्गल कर्म के परिपाक हैं। ये आस्रव नवीन कर्मों का आस्रव करें तो करें; उसमें चेतनद्रव्य का क्या है ? तू तो शुद्ध उपादानस्वरूप प्रभु है। जो अशुद्ध उपादान हैं, वे निमित्त के (पुद्गल कर्म के) आधीन होकर वर्तते हैं, इससे ये जड़ हैं। मिथ्यात्वादि जो चार भेद हैं अथवा तेरह भेद हैं – वे सब अचेतन हैं। चेतन का अचेतन में और अचेतन का चेतन में कभी भी प्रवेश नहीं होता। अरे ! चेतन व अचेतन द्रव्य परस्पर में स्पर्श ही नहीं करते। यहाँ यह कहना है कि हे प्रभु ! तू अपने शुद्ध चैतन्य स्वभावमय शाश्वत वस्तु की प्रतीति – विश्वास कर। वह (शुद्धात्मा) कभी भी किसी भी हालत में पुद्गलकर्म का कर्त्ता नहीं है।

शिष्य पुनः विनयपूर्वक युक्ति सहित प्रश्न पूछता है कि हे गुरुदेव ! जीव पुद्गलमय मिथ्यात्वादि का वेदन करता है, तो उसका वेदन करता हुआ वह मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्म को करता है। यहाँ यह तर्क है कि 'जो वेदता है, वह करता है।'

इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि भाई ! तुम्हारा यह तर्क अविवेकपूर्ण है, क्योंकि शुद्ध चैतन्यमय प्रभु आत्मा जड़ को नहीं भोगता है और ये तेरह गुणस्थान जड़–अचेतन हैं। अतः चैतन्यमय प्रभु उसे कैसे भोग सकता है ? अहाहा····! तेरा चैतन्यमय जीवद्रव्य तो अखण्ड अभेद परिपूर्ण चैतन्यमय वस्तु है। ऐसा शुद्ध जीवद्रव्य अचेतन गुणस्थानों को भी नहीं वेदता, तो फिर पुद्गल का वेदन कैसे कर सकेगा ? भाई ! जीवद्रव्य पुद्गलकर्म को भोगता नहीं है, इसलिए वह पुद्गलकर्म का कर्त्ता नहीं है। आत्मा पुद्गलकर्म को वेदता नहीं है, इसलिए वह उसका कर्त्ता भी नहीं है।

आत्मा और पुद्गलादि में भाव्य-भावकभाव का अभाव है इसलिए आत्मा पुद्गल कर्म का कर्त्ता नहीं है।

पुदगल परिनामी दरब, सदा परिनवै सोइ।
यातैं पुदगल करमकौ, पुदगल करता होइ ॥२०॥

–समयसार नाटक, कर्त्ता कर्म क्रियाद्वार

समयसार गाथा ११३ से ११५

न च जीव प्रत्यययोरेकत्वम् –

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो ।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥११३॥

एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥११४॥

अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्म णोकम्ममवि अण्णं ॥११५॥

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः ।
जीवस्याजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नम् ॥ ११३ ॥

अब यह कहते हैं कि – जीव और उनके प्रत्ययों में एकत्व नहीं है–

उपयोग ज्योंहि अनन्य जीवका, क्रोध त्योंही जीवका ।
तो दोष आवे जीव त्योंहि अजीवके एकत्वका ॥ ११३ ॥

यों जगत में जो जीव वे हि अजीव भी निश्चय हुवे ।
नोकर्म, प्रत्यय, कर्म के एकत्व में भी दोष ये ॥ ११४ ॥

जो क्रोध यों है अन्य, जीव उपयोगआत्मक अन्य है ।
तो क्रोधवत् नोकर्म, प्रत्यय, कर्म भी सब अन्य हैं ॥ ११५ ॥

गाथार्थ :– [यथा] जैसे [जीवस्य] जीव के [उपयोग] उपयोग [अनन्य] अनन्य अर्थात् एकरूप है [तथा] उसीप्रकार [यदि] यदि [क्रोधः अपि] क्रोध भी [अनन्य] अनन्य हो तो [एवम्] इसप्रकार [जीवस्य] जीवके [च] और [अजीवस्य] अजीवके [अनन्यत्वम्] अनन्यत्व [आपन्नम्] आ गया । [एवम् च] और ऐसा होने से [इह]

एवमिह यस्तु जीवः स चैव तु यिमतस्तथाऽजीवः ।
अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणाम् ॥ ११४ ॥

अथ ते अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता ।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माप्यन्यत् ॥ ११५ ॥

यदि यथा जीवस्य तन्मयत्वाज्जीवादनन्य उपयोगस्तथा जडः क्रोधोप्यनन्य एवेति प्रतिपत्तिस्तदा चिद्रूपजडयोरनन्यत्वाज्जीवस्योपयोगमयत्ववज्जडक्रोधमयत्वापत्तिः । तथा सति तु य एव जीवः स एवाजीव इति द्रव्यांतरलुप्तिः । एवं प्रत्ययनोकर्मकर्मणामपि जीवादनन्यत्वप्रतिपत्तावयमेव दोषः । अथैतद्दोषभयादन्य एवोपयोगात्मा जीवोऽन्य एव जडस्वभावः क्रोधः इत्यभ्युपगमः तर्हि यथोपयोगात्मनो जीवादन्यो जडस्वभावः क्रोधः तथा प्रत्ययनोकर्मकर्माण्यप्यन्यान्येव जडस्वभावत्वाविशेषात् । नास्ति जीवप्रत्यययोरेकत्वम् ।

इस जगत में [यः तु] जो [जीवः] जीव है [सः एव] वही [नियमतः] नियम से [तथा] उसीप्रकार [अजीवः] अजीव सिद्ध हुआ; (दोनों के अनन्यत्व होने में यह दोष आया) [प्रत्ययनोकर्मकर्मणाम्] प्रत्यय, नोकर्म और कर्म के [एकत्वे] एकत्व में भी [अयम् दोषः] यही दोष आता है। [अथ] अब यदि (इस दोष के भय से) [ते] तेरे मत में [क्रोधः] क्रोध [अन्यः] अन्य है और [उपयोगात्मकः] उपयोग स्वरूप [चेतयिता] आत्मा [अन्य] अन्य [भवति] है, तो [यथा क्रोधः] जैसे क्रोध है [तथा] वैसे ही [प्रत्ययाः] प्रत्यय, [कर्म] कर्म [नोकर्म अपि] और नोकर्म भी [अन्यत्] आत्मा से अन्य ही हैं।

टीका :— जैसे जीव के उपयोगमयत्व के कारण जीव से उपयोग अनन्य (अभिन्न) है, उसीप्रकार जड़ क्रोध भी अनन्य ही है; यदि ऐसी प्रतिपत्ति की जाये, तो चिद्रूप (जीव) और जड़ के अनन्यत्व के कारण जीव के उपयोगमयता की भाँति जड़ क्रोधमयता भी आ जायेगी और ऐसा होने पर जो जीव है, वही अजीव सिद्ध होगा — इसप्रकार अन्य द्रव्य का लोप हो जायेगा। इसीप्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी जीव से अनन्य हैं ऐसी प्रतिपत्ति में भी यही दोष आता है। इसलिये यदि इस दोष के भय से यह स्वीकार किया जाये कि उपयोगात्मक जीव अन्य ही है और 'जड़स्वभाव क्रोध अन्य ही है, तो जैसे उपयोगात्मक जीव से जड़स्वभाव क्रोध अन्य है, उसीप्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी अन्य ही हैं; क्योंकि उनके जड़-

स्वभावत्व में अन्तर नहीं है (अर्थात् जैसे क्रोध जड़ है उसीप्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी जड़ हैं) इसप्रकार जीव और प्रत्यय में एकत्व नहीं है।

भावार्थ :– मिथ्यात्वादि आस्रव तो जड़स्वभाव हैं और जीव चैतन्यस्वभाव है। यदि जड़ और चेतन एक हो जायें, तो भिन्न द्रव्यों के लोप होने का महादोष आता है। इसलिये निश्चयनय का यह सिद्धांत है कि आस्रव और आत्मा में एकत्व नहीं है।

गाथा ११३ से ११५ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

जीव उपयोगमय अर्थात् जानने-देखने के स्वभाववाला है। जैसे उष्णता व अग्नि एक है, उसीप्रकार भगवान आत्मा व जानने-देखनेरूप उपयोग एक है। जैसे आत्मा का जानना-देखना स्वभाव आत्मा से अभिन्न है, उसीप्रकार यदि कोई जड़ क्रोध को भी आत्मा से अनन्य मानेगा, तो उसकी मान्यता में जीव अजीव हो जावेगा।

विकार के परिणाम चाहे वे दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प ही क्यों न हों – यहाँ सभी को क्रोध कहा है, क्योंकि वे सब स्वभाव से विरुद्ध भाव हैं।

जैसे आत्मा उपयोगमय परमात्मा है, उसीप्रकार यदि आत्मा रागमय भी हो, तो राग अचेतन होने से जीव भी अचेतन (अजीव) हो जायेगा। इस गाथा का भाव बहुत सूक्ष्म है।

शरीर जड़ है – यह बात बाद में कहेंगे, यहां तो यह बताना है कि आत्मा में जो शुभभाव होता है, वह शुभभावरूप विकार – क्रोध अचेतन है और भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य उपयोगमय है। उन दोनों को एक अभिन्न माना जावे तो जीव अजीव हो जायेगा।

शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से आत्मद्रव्य ज्ञायक स्वभावी वीतरागभावरूप सच्चिदानन्दस्वरूप टंकोत्कीर्ण शाश्वत नित्य पदार्थ है। अहाहा! आत्म-द्रव्य अतीन्द्रिय सुखरूप अमृत से भरपूर वस्तु है। भगवान आत्मा चैतन्यमय उपयोग से, ज्ञायक स्वभाव से अभिन्न है, एक है और रागभाव जो कि क्रोधरूप है, अचेतन है। यदि जीव उसके साथ एकत्व स्थापित करेगा, तो उसकी मान्यता में जीव अजीव ठहरेगा।

ये दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव भी अचेतन हैं; क्योंकि इनमें चैतन्य की किरण नहीं है। इसीप्रकार महाव्रत के परिणामों में भी चैतन्य की किरण नहीं है। जैसे शरीर स्पर्श-रस-गंध-वर्ण सहित अजीव है, क्योंकि उसमें ज्ञान का अभाव है; उसीतरह राग स्पर्श-रस-गंध-वर्ण रहित अजीव है, क्योंकि उसमें भी ज्ञान का अभाव ही है।

यहाँ कहते हैं कि जैसे आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वभाव से अनन्य है, उसी प्रकार जड़ – अचेतन राग के साथ भी अनन्य हो जावे, तो चेतन आत्मा को अचेतन – जड़ होने का प्रसंग प्राप्त होगा। पंच महाव्रत के परिणाम यदि चैतन्यमय आत्मा से अभिन्न माने जावें, तो राग अचेतन होने से आत्मा को भी चेतनपने का अभाव होकर अचेतनपना हो जायेगा।

पर्याय में जो शुभाशुभ राग है, वह जड़ स्वभाव है – ऐसा सुनकर अज्ञानी का कलेजा काँप जाता है, क्योंकि राग मेरा है एवं मैं राग का कर्त्ता हूँ तथा शुभ राग करते-करते धर्म होता है – ऐसी अनादि से उसकी विपरीत मान्यता है।

यहाँ ऐसे अज्ञानी को द्रव्यदृष्टि का ज्ञान कराते हुए कहते हैं कि भाई! जो राग है, वह जड़ है; आत्मा उसका कर्त्ता नहीं है। यदि आत्मा राग का कर्त्ता हो, तो राग जड़ होने से आत्मा को भी जड़ हो जाने का प्रसंग प्राप्त होगा। गाथा में राग को क्रोध शब्द से कहा है। भगवान आत्मा त्रिकाल शुद्ध चैतन्य उपयोगमय अमृतस्वरूप प्रभु है। उसे भूलकर जिसको व्यवहार रत्नत्रय के राग की रुचि है, उसको अपने भगवानस्वरूप स्वभाव के प्रति द्वेष है। कहा है न कि 'द्वेषअरोचक भाव' अर्थात् परभाव की रुचि और स्वभाव की अरुचि ही द्वेष है – क्रोध है। यहाँ कहते हैं कि जैसे उपयोग आत्मा से अनन्य है, उसीप्रकार जड़ क्रोध भी आत्मा से अनन्य माना जायेगा, तो आत्मा को जड़ होने का प्रसंग आयेगा; पर ऐसा कभी होता नहीं है। क्रोधादि को आत्मा से अनन्य मानना मिथ्या मान्यता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि तो फिर पुद्‌गलकर्मों का कर्त्ता कौन है? उत्तर में कहते हैं कि पुद्‌गलकर्म का कर्त्ता पुद्‌गलद्रव्य ही है, यह बात पिछली गाथा १०९, ११०, १११ और ११२ में भी आ चुकी है। वहाँ तेरह गुणस्थानों के भावों को पुद्‌गलमय कहा है और वे ही नवीन कर्मबन्ध के कर्त्ता हैं, आत्मा नहीं। यहाँ यह कहते हैं कि आत्मा शुद्ध उपयोगमय वस्तु है, वह

राग का कर्त्ता नहीं है। यदि आत्मा राग का कर्त्ता होवे, तो वह रागमय हो जायेगा, तो फिर जिसप्रकार उपयोगमय है, उसीप्रकार वह जड़-रागमय भी है, ऐसा मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर जो जीव है, वही अजीव ठहरेगा अथवा इस रीति से अन्य द्रव्य लोप हो जायेगा।

यहाँ यह सिद्ध करना है कि आत्मा राग का कर्त्ता नहीं है। पुण्य-पाप रूप जो रागादि भाव होते हैं, वे ऊपर-ऊपर (पर्याय में) ही होते हैं। उन विकारी भावों का शुद्ध चैतन्य में प्रवेश नहीं हो सकता। जैसे पानी में तेल की बूँद ऊपर-ऊपर ही तैरती है, अन्दर में प्रवेश नहीं कर सकती; उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य प्रकाशमय भगवान आत्मा में राग का – विकल्प का प्रवेश नहीं हो सकता, ऊपर-ऊपर ही रहता है। अहाहा! राग आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो सकता और आत्मा राग में नहीं जाता, तो फिर आत्मा राग को कैसे कर सकता है? इसलिये कहते हैं कि यदि आत्मा राग का कर्त्ता हो तो आत्मा जैसा शुद्ध उपयोगमय है, वैसा ही जडमय भी है – ऐसा मानना पड़ेगा, और ऐसी मान्यता से चैतन्यस्वरूप जीव को जड़रागमय होने का प्रसंग प्राप्त होगा। इसप्रकार चैतन्यमय आत्मा जड़ ठहरेगा और चैतन्य का लोप हो जायेगा, जो कि वस्तुस्वरूप को इष्ट नहीं है। भाई! यह वहुत सूक्ष्म बात है।

दुकान के खाता-वही तो सावधानी से लिखता है और प्रतिदिन सिलक मिलाता है, परन्तु धर्म के चौपड़े (परमागम शास्त्रों) को कभी खोलकर भी नहीं देखे, तो अपने परिणामों की सिलक का मिलान किससे करेगा? भाई! बहुत धैर्य से एवं शान्ति से शास्त्रों को सुनना-समझना चाहिए। इतना ही नहीं वल्कि सूक्ष्म–पैनी वुद्धि से निरन्तर शास्त्र स्वाध्याय व मनन-चिन्तन भी करना चाहिए, जिससे अपने परिणामों की समता विषमता का यथार्थ आभास हो सके। प्रतिदिन स्वयं अपना अध्ययन-मनन चिन्तन करे, तो गुरु के द्वारा वताये गये अर्थ की भी अन्तर में सच्ची प्रतीति वैठती है।

आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी प्रभु शुद्ध चैतन्यप्रकाश के नूर का पूर है, और रागादिभावरूप आस्रव जड़ हैं – अचेतन हैं। भगवान ने नवतत्त्व भिन्न-भिन्न कहे हैं। उनमें जीव तो शुद्ध ज्ञायकतत्त्व है तथा राग जीव (आत्मा) से भिन्न आस्रव तत्त्व है।

समयसार गाथा ७२ में आस्रव को जड़ कहा है, क्योंकि आस्रव स्वयं को जानता नहीं है, पर को भी नहीं जानता। यहाँ कहते हैं कि ऐसा

शुद्ध चैतन्यप्रकाश का पुञ्ज प्रभु आत्मा यदि जड़-राग को करे, तो उस आत्मा को भी जड़ रागमय होने का प्रसंग आयेगा और ऐसा होने पर जीव ही अजीव ठहरेगा अर्थात् जीव का लोप हो जायेगा।

भाई ! जिनेन्द्रदेव के द्वारा निरूपित धर्म का स्वरूप बहुत सूक्ष्म व अलौकिक है। पूजा, भक्ति, व्रत आदि जो भाव हैं, वह शुभ राग है, धर्म नहीं है। धर्म तो शुद्ध वीतराग परिणति है तथा वह शुद्ध चैतन्य के लक्ष्य से उत्पन्न होता है। धर्म तो स्वाश्रित परिणाम है । अहाहा........! ऐसे स्वाश्रित तत्त्व की बात सुनकर यदि अन्तरंग से शुद्ध अत:तत्त्व का आदर और स्वीकार हो जाय तो अनन्त सुखमय सिद्धत्व और उसके अनादर के फल में निगोदगति मिलती है।

ये समयसार, नियमसार, प्रवचनसार आदि सन्तों की वाणी है। इनमें भगवान की दिव्यध्वनि का सार भरा है। इसमें सन्त कहते हैं कि हे नाथ ! जाग रे जाग। तेरा आत्मा शुद्ध ज्ञायक स्वभावी भगवान है। वह यदि राग करता है, तो रागरूप हो जाता है, आस्रवरूप हो जाता है, जड़रूप हो जाता है।

ऐसा होने पर हे प्रभु। तेरे चैतन्य के ही नाश होने का प्रसंग प्राप्त होगा। अरे भाई ! आत्मा राग का कर्त्ता नहीं है। पर्याय में जो राग होता है, आत्मा तो मात्र उसका ज्ञायक है।

अहाहा.... ! जिसको शुद्ध ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि (श्रद्धा) हुई है, उस धर्मी को जो राग का ज्ञान होता है; उस राग के ज्ञान का कर्त्ता तो वह स्वयं है और उसकी वह राग पर्याय उसके राग के ज्ञान में निमित्त है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान की पर्याय का कर्त्ता आत्मा स्वयं है और वह ज्ञान की पर्याय उस आत्मा का कर्म है; परन्तु जो राग हुआ, उसका कर्त्ता आत्मा नहीं है। आत्मा में व्यवहार रत्नत्रय का जो राग होता है, उसका कर्त्ता भी आत्मा नहीं है, उसका भी मात्र ज्ञाता ही है।

यहाँ कहते हैं कि देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग, शास्त्रज्ञान का विकल्प तथा अणुव्रत-महाव्रतादि का भाव भी शुभराग हैं, आस्रव हैं, और भगवान आत्मा तो शुद्ध ज्ञानमय, उपयोगमय है। यदि आत्मा राग का कर्त्ता होवे, तो आत्मा राग से अनन्य – एक ठहरेगा, तथा आत्मा व आस्रव, जो दोनों भिन्न तत्त्व हैं, वे भी एकरूप ठहरेंगे। इतना ही नहीं, राग से

आत्मा की अभिन्नता स्वीकार करने पर चैतन्य का नाश ही हो जायेगा। जीव को स्वयं अजीवत्व का प्रसंग आने से जीव द्रव्य का लोप हो जायेगा। जबकि ऐसा कभी होता नहीं है। अतः यह मान्यता ही मिथ्या है।

अब कहते हैं कि पुण्य-पाप के भाव एवं मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – ये सब आस्रव प्रत्यय हैं; शरीर, मन, वाणी इत्यादि नोकर्म हैं तथा ज्ञानावरणादि आठ कर्म जड़कर्म हैं। इन सबको यदि आत्मा करे, तो आत्मा उन सबसे अनन्य अर्थात् एक (अभिन्न) ठहरेगा और ये सब जड़ स्वरूप हैं, अतः आत्मा को भी जड़ मानना होगा। ऐसी मान्यता से चैतन्य द्रव्य का लोप हो जायेगा, जबकि भगवान आत्मा तो स्वरूप से शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा है, पुण्य-पाप के भावों का ज्ञातादृष्टा है, वह पर का कर्त्ता या पररूप नहीं होता है और पर पदार्थ भी ज्ञाता-दृष्टा के नहीं होते। इस कारण जीव से राग अनन्य है – ऐसा मानने पर जो दोष आता है, वही दोष प्रत्यय कर्म तथा नोकर्म आत्मा से अभिन्न (एक) हैं – ऐसा मानने में आता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि चैतन्य उपयोगमय ज्ञानस्वरूप जीव अन्य है और जड़ स्वभावी क्रोध अन्य है। शुभाशुभ भाव जड़ हैं और चैतन्यमय आत्मा से अन्य हैं।

अरे भाई! तेरा चैतन्यतत्त्व कैसा है, कौन है ? इसकी तुझे खबर नहीं है। प्रभु! तेरा चैतन्यतत्त्व अनादिअनन्त गुणों का गोदाम है, अनन्त सुख का सागर है, अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है; वह क्रोध का रागादिभावों का स्थान नहीं है। अहाहा····! प्रभु! अमृत से तृप्त-तृप्त (पूर्ण भरा हुआ) अमृत का सागर आत्मा अन्दर से उछल रहा है। भगवान आत्मा ध्रुव-ध्रुव-ध्रुवस्वरूप त्रिकाल चिदानन्दघनस्वरूप वीतरागस्वरूप है। उसे रागवाला या राग का कर्त्ता माने, तो उसे जड़स्वरूप मानना पड़ेगा।

अतः भगवान आत्मा अन्य है और जड़स्वभावी क्रोध अन्य है, यही निर्दोष स्वरूप स्थिति है। इसीप्रकार आठ कर्म, शरीरादि नोकर्म तथा मिथ्यात्वादि प्रत्यय जीव से अन्य हैं, क्योंकि इन सब के जड़स्वभावपने में कोई अन्तर नहीं है।

देखो! कितने ही लोग, जो ऐसा कहते हैं कि व्यवहार से निश्चय होता है, उनके इस कथन का यहाँ निषेध किया है। व्यवहार अन्य है तथा चैतन्यमय वस्तु अन्य है – ऐसा यहाँ स्पष्ट कहा है।

अरे भाई ! जिसतरह अंधकार से प्रकाश नहीं होता, उसीतरह व्यवहार करते-करते निश्चय नहीं होता । शुभराग मेरा कार्य और शुभराग का मैं कर्त्ता हूँ – ऐसी मान्यता से अनादिकाल से तू संसार सागर में डूब गया है । यहाँ तेरे हित की बात करते हुए आचार्य देव कहते हैं कि 'राग अन्य है एवं शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा अन्य है ।'

आत्मा ज्ञान का कर्त्ता है, परन्तु जो रागपरिणाम होता है, आत्मा उसका कर्त्ता निश्चय से नहीं है । राग होता है, परन्तु आत्मा उसका कर्त्ता नहीं है । इसप्रकार जीव व प्रत्यय एक नहीं है, जीव व आस्रव एक नहीं है; अन्य-अन्य हैं । मिथ्यात्व, अविरति, कषाय एवं योग इन सब प्रत्ययों से भगवान आत्मा भिन्न है – ऐसी दृष्टि (श्रद्धा) करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, इसके अतिरिक्त स्वयं को राग का व पर का कर्त्ता मानने से मिथ्यात्व का भाव उत्पन्न होता है ।

गाथा ११३ से ११५ के भावार्थ पर प्रवचन

मिथ्यात्वादि चार आस्रव जड़स्वभाव है । जो मिथ्या मान्यतायें हैं, वे जड़स्वभाव हैं; क्योंकि वे चैतन्यस्वभाव से विपरीत हैं । मिथ्या श्रद्धानादि को यहाँ जड़ कहा है तथा परमाणु तो जड़ हैं ही । जीव तो ज्ञायक स्वभाव की मूर्ति चैतन्यस्वभावी प्रभु है ।

यहाँ कहते हैं कि जड़ व चैतन्य यदि एक हो जावें, तो भिन्न द्रव्य का लोप होने का प्रसंग आता है, किन्तु ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता । इसलिये आत्मा अन्य है और जड़स्वभावी आस्रव, शरीर, मन, वाणी, कर्म, नोकर्म आदि सर्व अन्य हैं । वस्तुस्थिति ऐसी होने पर भी कोई ऐसा माने कि शुभाशुभ राग, शरीर, मन, वाणी, पैसा, मकान इत्यादि मेरे हैं तथा मैं इनका कर्त्ता हूँ, तो अपनी मान्यता में वह जड़-अचेतन हो जायेगा अर्थात् अपनी विपरीत मान्यता से वह मिथ्यात्व को ही उत्पन्न या पुष्ट करता है ।

इसलिये यह जो निश्चयनय का सिद्धान्त है कि आस्रव व आत्मा एक नहीं है, भिन्न है, उसको यथार्थ जानकर सभी जीव आत्मा की दृष्टि को प्राप्त करें अर्थात् सम्यक्त्व को प्राप्त कर सुखी होने का प्रयत्न करें ।

समयसार गाथा ११६ से १२०

अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं साधयति सांख्यमतानुयायि-शिष्यं प्रति—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पोग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तथा होदि ॥११६॥

कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥११७॥

जीवो परिणामयदे पोग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा ॥११८॥

अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पोग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११९॥

णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥

अब सांख्यमतानुयायी शिष्य के प्रति पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभावत्व सिद्ध करते हैं (अर्थात् सांख्यमतवाले प्रकृति और पुरुष को अपरिणामी मानते हैं, उन्हें समझाते हैं) :—

जीव में स्वयं नहिं बद्ध, अरु नहिं कर्मभावों परिणमे ।
तो वो हि पुद्गलद्रव्य भी, परिणमनहीन बने अरे ! ॥११६॥

जो वर्गणा कार्माण की, नहिं कर्मभावों परिणमे ।
संसार का हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे ! ॥११७॥

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन ।
यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥११६॥
कार्मणवर्गणासु चापरिणममानासु कर्मभावेन ।
संसारस्याभावो प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥११७॥
जीवो परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन ।
तानि स्वयमपरिणममानानि कथंनु परिणामयति चेतयिता॥११८॥
अथ स्वयमेव ही परिणमते कर्मभावेन पुद्गलं द्रव्यम् ।
जीव परिणामयति कर्म कर्मत्वमिति मिथ्या ॥११९॥
नियमात्कर्मपरिणतं कर्म चैव भवति पुद्गलं द्रव्यम् ।
तथा तद्ज्ञानावरणादिपरिणतं जानीत तच्चैव ॥१२०॥

जो कर्मभावों परिणमावे जीव पुद्गलद्रव्य को ।
क्यों जीव उसको परिणमावे, स्वयं नहिं परिणमत जो ? ॥११८॥

स्वयमेव पुद्गलद्रव्य अरु, जो कर्मभावों परिणमे ।
जीव परिणमावे कर्म को, कर्मत्व में – मिथ्या बने ! ॥११९॥

पुद्गलदरव जो कर्मपरिणत, नियम से कर्म हि बने ।
ज्ञानावरणइत्यादिपरिणत वोहि तुम जानो उसे ॥१२०॥

गाथार्थ :– [इदम् पुद्गलद्रव्यम्] यह पुद्गलद्रव्य [जीवे] जीव में [स्वयं] स्वयं [बद्धं न] नहीं बंधा [कर्मभावेन] और कर्मभाव से [स्वयं] स्वयं [न परिणमते] नहीं परिणमता [यदि] यदि ऐसा माना जाय [तदा] तो वह [अपरिणामी] अपरिणामी [भवति] सिद्ध होता है; [च] और [कार्मणवर्गणासु] कार्मणवर्गणाएं [कर्मभावेन] कर्मभाव से [अपरिणममानासु] नहीं परिणमती होने से, [संसारस्य] संसार का [अभावः] अभाव [प्रसजति] सिद्ध होता है [वा] अथवा [सांख्यसमयः] सांख्यमत का प्रसंग आता है ।

और [जीवः] जीव [पुद्गलद्रव्याणि] पुद्गलद्रव्यों को [कर्मभावेन] कर्मभाव से [परिणामयति] परिणमाता है ऐसा माना जाये, तो यह प्रश्न होता है कि [स्वयं अपरिणममानानि] स्वयं नहीं परिणमती हुई [तानि]

यदि पुद्गलद्रव्यं जीवे स्वयमबद्धं सत्कर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा तदपरिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणमयति ततो न संसाराभावः इति तर्कः । किं स्वयमपरिणममानं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत् ? न तावत्तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणमयितुं पार्येत; न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत; न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते । ततः पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु ।

उन वर्गणाओं को [**चेतयिता**] चेतन आत्मा [**कथं नु**] कैसे [**परिणमयति**] परिणामन करा सकता है ? [**अथ**] अथवा यदि [**पुद्गलद्रव्यम्**] पुद्गलद्रव्य [**स्वयमेव हि**] अपने आप ही [**कर्मभावेन**] कर्मभाव से [**परिणमते**] परिणमन करता है ऐसा माना जाये, तो [**जीवः**] जीव [**कर्म**] कर्म को अर्थात् पुद्गलद्रव्य को [**कर्मत्वम्**] कर्मरूप [**परिणामयति**] परिणमन कराता है [**इति**] यह कथन [**मिथ्या**] सिद्ध होता है ।

[**नियमात्**] इसलिए जैसे नियम से [**कर्म परिणतं**] कर्मरूप (कर्त्ता के कार्यरूप से) परिणमित [**पुद्गलद्रव्यम्**] पुद्गलद्रव्य [**कर्म चैव**] कर्म ही [**भवति**] है [**तथा**] इसी प्रकार [**ज्ञानावरणादिपरिणतं**] ज्ञानावरणादिरूप परिणमित [**तत्**] पुद्गलद्रव्य [**तत्चैव**] ज्ञानावरणादि ही है [**जानीत्**] ऐसा जानो ।

टीका :– यदि पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं न बँधकर कर्मभाव से स्वयमेव परिणमता न हो, तो वह अपरिणामी ही सिद्ध होगा और ऐसा होने से संसार का अभाव होगा, (क्योंकि यदि पुद्गलद्रव्य कर्मरूप नहीं परिणमे, तो जीव कर्मरहित सिद्ध होवे; तब फिर संसार किसका?) यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि "जीव पुद्गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणमाता है, इसलिये संसार का अभाव नहीं होगा," तो उसका निराकरण दो पक्षों को लेकर इसप्रकार किया जाता है कि — क्या जीव स्वयं अपरिणमते हुए पुद्गलद्रव्य को कर्मभावरूप परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुए को ? प्रथम, स्वयं अपरिणमते हुए को दूसरे के द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता; क्योंकि (वस्तुमें) जो शक्ति स्वतः न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता । (इसलिये प्रथम पक्ष असत्य है ।) और स्वयं परिणमते हुए को अन्य परिणमानेवाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं । (इसलिये दूसरा पक्ष भी

तथा सति कलशपरिणता मृत्तिका स्वयं कलश इव जडस्वभावज्ञानावरणादिकर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञानावरणादिकर्म स्यात्। इति सिद्धं पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावभावत्वम्।

असत्य है।) अतः पुद्गलद्रव्य परिणमन स्वभाववाला स्वयमेव हो। ऐसा होने से जैसे घटरूप परिणमित मिट्टी ही स्वयं घट है, उसीप्रकार जड़ स्वभाववाले ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित पुद्गलद्रव्य ही स्वयं ज्ञानावरणादि कर्म है। इसप्रकार पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ।

गाथा ११६ से १२० एवं उनकी उत्थानिका व टीका पर प्रवचन

देखो, यद्यपि अज्ञानी जीव जैसा विकारभाव करता है, तदनुरूप ही उसको द्रव्यकर्म का बन्धन होता है; तथापि वह पौद्गलिक कर्मबन्धन आत्मा के विकार के कारण नहीं होता, बल्कि पुद्गल के स्वयं के परिणमन की योग्यता से होता है। आत्मा ने विकार किया, इस कारण कर्मबन्ध हुआ हो – ऐसा नहीं है।

जीव भी अपने में जो पुण्य-पाप के भाव रचता है, वह भी स्वतन्त्रपने रचता है; उसमें किसी कर्म की अपेक्षा नहीं है। जीव अपने षट्कारकों से ही शुभाशुभभावरूप से परिणमता है। विकार परिणाम का **कर्त्ता** स्वयं विकार है, विकार परिणाम का **कर्म** भी स्वयं विकार है, विकार का **साधन** भी विकार स्वयं है, विकार करके स्वयं विकार को देता है, अतः विकार का **सम्प्रदान** भी स्वयं विकार है। विकार स्वयं में से हुआ, अतः **अपादान** भी स्वयं विकार है तथा विकार का **अधिकरण** भी स्वयं विकार है।

इसप्रकार अपने षट्कारक की क्रिया से विकार स्वयं उत्पन्न होता है। उसीप्रकार जो जड़कर्म की प्रकृति बँधती है, वह भी उसके स्वयं के षट्कारकों की क्रियारूप परिणमन से बँधती है। यहाँ सांख्यमतवाले को पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभावत्व समझा रहे हैं।

उनसे कहते हैं कि यदि पुद्गलद्रव्य कर्मभाव से स्वमेयव न परिणमे तो यह अपरिणामी ही ठहरेगा। पर्यायरूप से बदलने का यदि उसका

स्वयं का स्वभाव न हो, तो वह अपरिणामी अर्थात् कूटस्थ सिद्ध होता है। ऐसा होने पर संसार का ही अभाव होने का प्रसंग आता है, क्योंकि संसार का निमित्त जो द्रव्यकर्मरूप पर्याय, उसके नहीं होने पर जीव के संसार का अभाव सिद्ध होता है। यदि जड़कर्म का पुद्‌गल स्वयंमेव कर्मरूप नहीं परिणमे, तो विकार के निमित्त का अभाव हो जायेगा, निमित्त के अभाव में विकार भी नहीं रहेगा, और विकार नहीं रहे तो संसार का अभाव हो जायेगा। पुद्‌गलद्रव्य यदि स्वयमेव न परिणमे, तो जीव कर्मरहित हो जायेगा। कर्मरहित जीव को सिद्ध कहा जाता है।

यहाँ जो ऐसा तर्क किया जाता है कि जीव पुद्‌गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणमाता है, इसकारण जीव के संसार का अभाव नहीं होता, इसका निराकरण दो प्रश्न उठाकर किया है – (1) क्या जीव स्वयं अपरिणमित रहनेवाले पुद्‌गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणमाता है? (2) अथवा स्वयं परिणमन करते हुए पुद्‌गल को कर्मभाव से परिणमाता है?

प्रथम प्रश्न के बारे में आचार्य स्वयं आपत्ति उठाते हुए स्पष्टीकरण करते हैं कि स्वयं अपरिणमित पुद्‌गल को तो जीव परिणमा नहीं सकता, क्योंकि वस्तु में जो शक्ति स्वतः (स्वयं से) न हो तो उसकी पूर्ति अन्य कोई द्रव्य नहीं कर सकता, इसलिए प्रथम पक्ष असत्यार्थ है तथा स्वयं परिणमते हुए को पर (अन्य) द्वारा परिणमाने की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं। इसलिए दूसरा पक्ष भी असत्य है। अतः पुद्‌गलद्रव्य स्वयं ही परिणमन स्वभाववाला है। इसतरह यहाँ अज्ञानी के प्रश्न का निराकरण किया है।

जब जीव को यह विकल्प हुआ कि मैं अंगुली से रोटी का टुकड़ा करूँ तब हाथ उसरूप से स्वतः परिणमता है अथवा जीव के विकल्प से?

यदि अंगुली स्वयं अपनी योग्यता से परिणमन नहीं करे, तो क्या जीव उसे परिणमा सकता है? तथा यदि अंगुली स्वयं अपने से ही परिणमती है तो जीव ने क्या किया? कुछ भी नहीं किया, इसलिए अंगुली का परिणमन स्वयं अंगुली से हुआ है, जीव की इच्छा से नहीं।

इसीतरह घड़े पर घटित कर सकते हैं:–

जो मिट्टी से घड़े की पर्याय हुई, वह मिट्टी के परिणमन से हुई है, कुम्हार से नहीं। यदि मिट्टी स्वयं घड़ेरूप नहीं परिणमती, तो कुम्हार उसे नहीं परिणमा सकता था और जब स्वयं मिट्टी घड़ेरूप परिणमी

है, तो फिर उसमें कुम्हार ने क्या किया ? अर्थात् उसमें कुम्हार का कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।

यह तो युक्ति व आगम से सिद्ध बात है कि यदि वस्तु में स्वतः परिणमन शक्ति न हो, तो उसे अन्य कोई नहीं परिणमा सकता। यदि उसमें स्वतः परिणमन शक्ति है, तो उसको परिणमाने में अन्य द्रव्य की कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि वस्तु की शक्ति (योग्यता) पर की अपेक्षा नहीं रखती। कोई भी वस्तु परिणमन में परमुखापेक्षी नहीं है।

प्रश्न :- जीव की पर्याय में जो राग होता है, उसमें कर्म की अपेक्षा है या नहीं ?

उत्तर :- जीव में विकार की भी यदि कोई पर्याय होती है, तो वह भी अपने षट्कारक से स्वतन्त्र होती है। उसमें कर्मों के कारकों की अपेक्षा किंचित् भी नहीं है। अतः जीव में कर्म के कारण विकार होता है, यह बात सत्य नहीं है। निश्चयनय से विकार होने में कर्म की अपेक्षा नहीं है। वस्तु में विद्यमान परिणमन की शक्ति (योग्यता) से ही परिणमन होता है। उसमें पर की क्या जरूरत ? यदि अपनी स्वयं की परिणमन-शक्ति न हो तो, दूसरा किस तरह परिणमा सकता है ? एक दूसरे को परिणमावे – ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है।

अहाहा....! प्रत्येक द्रव्य की समय-समय की प्रत्येक पर्याय अपने-अपने स्वकाल में स्वयं से ही होती है, पर से नहीं – यह बात यहाँ सिद्ध करना है। कर्मरूप जो परिणमन होता है, वह अजीव की – पुद्गल की पर्याय है, पुद्गल जो कर्मरूप परिणमन करता है, वह अपनी निज की शक्ति से परिणमता है, पर से नहीं। पुद्गल की अपनी परिणमन करने की शक्ति न हो, तो दूसरा उसे नहीं परिणमा सकता है। जब वह अपनी निजी शक्ति से परिणमता है, तो उसमें अन्य जीव की अपेक्षा नहीं होती। जीव के राग-द्वेष के कारण पुद्गल कर्मरूप नहीं परिणमते। जड़ पुद्गल की पर्याय जो कर्मरूप होती है, वह अपने षट्कारकों से होती है, जीव के राग-द्वेष के कारण नहीं – ऐसी ही वस्तुस्थिति है।

बन्ध-अधिकार में आता है कि तू अन्य जीव को जीवित नहीं कर सकता, वह अपनी आयु से जीवित रहता है तथा आयु समाप्त होने पर मरता है। भाई ! किसी का जीवन-मरण कोई अन्य कर सके – ऐसा वस्तु के स्वरूप में ही नहीं है।

विकारीभावरूप से अज्ञानी स्वयं अपनी योग्यता से परिणमता है और उस समय जो कर्मबन्ध होता है, वह उसकी निज की परिणमन शक्ति से होता है। अज्ञानी विकार का परिणाम करता है, इसकारण उसे बँधना पड़ता हो – ऐसा नहीं है। (दोनों का अपने-अपने में स्वतन्त्र परिणमन है)।

ज्ञानी को राग होता है – ऐसा कहना व्यवहार है। वास्तव में तो ज्ञानी को राग सम्बन्धी ज्ञान होता है। वह भी स्वयं में स्वयं से होता है। स्वद्रव्य का एवं राग का ज्ञान जो ज्ञानी को होता है, वह ज्ञान भी स्वयं की परिणमन शक्ति से होता है। राग है, इस कारण राग का ज्ञान हुआ हो ऐसा नहीं है।

ज्ञानी को अपनी परिणमन की शक्ति से स्व-परप्रकाशक ज्ञान प्रगट होता है, इसमें राग की या पर की कोई अपेक्षा नहीं है। यदि ज्ञान अपनी निज की शक्ति से परिणमन नहीं करे, तो राग उसे राग के ज्ञानरूप से नहीं परिणमा सकता। राग में ऐसी ताकत नहीं है कि वह ज्ञान को परिणमा दे।

जड़ की परिणमन शक्ति से जड़ परिणमता है, जीव के कारण नहीं। जब जीव राग-द्वेष-मोह, विषयवासनारूप परिणमन करता है, उस काल में चारित्रमोहकर्म की प्रकृति स्वयं से परिणमती है। यही उसके परिणमन का स्वकाल है, इसलिए स्वयं अपने से परिणमता है। जीव का रागादि विकारभाव उसका कार्यरूप परिणमन करा दे – ऐसा नहीं है। यदि जड़कर्म स्वयं परिणमन नहीं करे, तो उसे राग कर्मरूप नहीं परिणमा सकता तथा वह कर्मप्रकृति जो अपने से स्वयं परिणमती है, उसे राग की अपेक्षा नहीं है। भाई! प्रत्येक तत्त्व भिन्न-भिन्न है। अजीव जीव नहीं तथा जीव अजीव नहीं – ऐसा सामान्यपने कहा है, परन्तु अजीव का परिणमन मैं कर सकता हूँ तथा मेरा परिणमन अजीव से होता है – ऐसा जो मानता है, उसकी मान्यता में जीव-अजीव की एकता है। अतः उसकी वह मान्यता मिथ्यात्व है।

ये अक्षर जो लिखे जाते हैं, वह पुद्गल परमाणुओं का स्वतंत्र परिणमन है। परमाणु स्वयं स्वतः परिणमित होकर अक्षररूप हुए हैं। ये अक्षररूप परिणमन किसी की कलम से हुआ हो या किसी व्यक्ति द्वारा लिखे गये हों – ऐसा नहीं है। मोती के दाने जैसे सुन्दर अक्षरों को लिखकर उनके लिखने का कोई अभिमान करे कि वाह! मैंने कितने सुन्दर अक्षर लिखे हैं, तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है और उसका अभिमान करना अज्ञान है। परमाणु स्वयं अपनी शक्ति से अक्षररूप परिणमे हैं।

इस परमागम मन्दिर में जो मारबल के पाटियों पर जिनागम के वचन लिखे हैं, उनका प्रत्येक अक्षर अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है। वे परमाणु स्वयं अपनी सहज परिणमन शक्ति से आगम के अक्षररूप से अंकित हो गये हैं। आगम के अक्षररूप परिणमन की क्रिया मशीन से या कारीगर से नहीं हुई है। यहाँ कहते हैं कि परमाणुओं में यदि अक्षररूप परिणमन करने की निजशक्ति नहीं होती, तो दूसरा उसे नहीं परिणमा सकता था और यदि अपनी सहज परिणमन शक्ति से परमाणु अक्षररूप से परिणमन करते हैं, तो उसमें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रहती।

अज्ञानी व्यर्थ ही कर्त्तापने का मिथ्या अभिमान करता है। मैं कितना चतुर हूँ, मैं जगत के पदार्थों की सुन्दर व्यवस्था कर सकता हूँ – ऐसा अज्ञानी भ्रमवश मानता है।

अरे भाई! जड़ की अवस्था व व्यवस्था स्वयं जड़ से होती है। जड़ की ऐसी सहज परिणमनशक्ति स्वयं जड़ में है, उसका कर्त्ता तू नहीं है। जड़ की व्यवस्था की अवस्था जो होने योग्य होती है, वह स्वयं उसी से होती है; उसमें तू कुछ नहीं कर सकता। उसमें तेरे विकल्प की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है। तेरी इच्छा के कारण जड़ में परिणमन हो – ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है।

इस परमागम मन्दिर को देखकर कोई ऐसा कहे कि यह किसी बहुत चतुर इन्जीनियर का काम है, तो उसका कहना यथार्थ नहीं है। अरे भाई! इस परमागम मन्दिर की जो भी रचना हुई है, वह परमाणुओं की सहज परिणमन शक्ति से स्वतंत्र हुई है। इन्जीनियर से, कारीगर से अथवा किसी अन्य से नहीं हुई है। भाई! गज़ब बात है, जैन परमेश्वर का वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म है।

यहाँ दो पक्षों को प्रस्तुत करते हुए परिणमन की स्वतंत्रता बताते हैं। एक तो यह कि स्वयं अपरिणमते पदार्थ को पर द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता; क्योंकि वस्तु में जो शक्ति स्वतः नहीं होती, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता तथा दूसरे स्वयं परिणमन करनेवाले पदार्थ को परिणमाने हेतु पर की सहायता की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वस्तु की शक्तियां पर की अपेक्षा नहीं रखतीं। (यदि पर की अपेक्षा रखें, तो वस्तु पराधीन हो जायेगी, इसलिए दोनों ही पक्ष असत्य हैं। इसकारण पुद्गल द्रव्य स्वयं परिणमन स्वभाववाला है – ऐसा सिद्धान्त सिद्ध हुआ।)

वस्तु में समय-समय की जो पर्यायें होती हैं, वे स्वयं से होती हैं; उन्हें पर की अपेक्षा नहीं है। ये मोटर जो चलती है, वह स्वयं अपनी योग्यता से चलती है, उसे पेट्रोल या चालक की अपेक्षा नहीं है।

भाई ! यह भेदज्ञान की बात लोगों को समझ में नहीं बैठती, परन्तु यह पूर्ण सत्य बात है। भाई ! पर की पर्याय तुझमें नहीं होती तथा तेरी पर्याय पर से नहीं होती, क्योंकि वस्तु स्वयमेव परिणमन स्वभाववाली है। जो ज्ञानावरणादिकर्म बँधते हैं, वे जीव के रागादि भावों से बँधते हो – ऐसा नहीं है, क्योंकि जड़ व चैतन्य – दोनों का प्रगट स्वभाव भिन्न-भिन्न है तथा दोनों स्वयमेव परिणमन स्वभाववाले हैं।

शास्त्र की वाणी कान में पड़ने से जो ज्ञान की पर्याय उत्पन्न हुई, वह शास्त्रों के शब्दों से हुई हो – ऐसा नहीं है। ज्ञान की पर्याय ज्ञान से स्वतः उत्पन्न हुई है, उसे शब्दों की अपेक्षा नहीं है। शास्त्र के शब्दों के कारण ज्ञान हुआ है – ऐसा नहीं है। अहो ! यह गाथा बहुत श्रेष्ठ है। कहा है कि स्वयं अपरिणमित पदार्थ को कौन परिणमा सकता है ? तथा जो स्वयं परिणमित होते हैं, उन्हें दूसरों द्वारा परिणमन की अपेक्षा कैसी ?

प्रश्न :– दूसरी वस्तु निमित्त तो है न ?

उत्तर :– हाँ, अन्य वस्तु निमित्त तो है, परन्तु इसका अर्थ क्या ? दूसरी वस्तु निमित्त है, परन्तु निमित्त से कार्य नहीं होता। निमित्त का कार्य निमित्त में एवं उपादान का कार्य उपादान में स्वतः होता है। निमित्त किसी पर वस्तु को बदल या परिणमित नहीं कराता, क्योंकि स्वयं परिणमित होने वाले को किसी पर की अपेक्षा नहीं है।

वस्तुतः कुम्हार घड़े का कर्त्ता नहीं है। कुम्हार घड़े को करे, तो कुम्हार को घड़े में प्रविष्ट हो जाना चाहिए। यह बात पीछे गाथा १०४ में आ चुकी है। मिट्टीमय घटकर्म मिट्टी से हुआ है; कुम्हार उसमें अपने द्रव्य को (स्वयं को) मिलाता नहीं है। अपने द्रव्य को तद्रूप परिणत किए बिना कुम्हार घड़े को कैसे कर सकता है ? अतः परमार्थ से कुम्हार घड़े का कर्त्ता नहीं है। उसी प्रकार इस जीव को जो विकार होता है, वह स्वयं से होता है; उसमें कर्म की अपेक्षा नहीं है। भले ही कर्म निमित्त हो; परन्तु कर्म के कारण जीव में विकार का परिणाम होता है – ऐसा नहीं। निमित्त से कार्य होता है – ऐसा माननेवाले का यहाँ स्पष्ट निषेध किया है।

पूजा करते समय 'स्वाहा' इत्यादि जो पाठ बोलते हैं, वह भाषा की पर्याय है तथा वह परमाणु की शक्ति से स्वतः होती है, भाषा की पर्याय का कर्त्ता जीव नहीं है। जीव को विकल्प हुआ, इसकारण भाषा का परिणमन हुआ – ऐसा नहीं है। जहाँ दोनों तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं, वहाँ एक तत्त्व दूसरे का क्या करे ? भगवान ने तत्त्वों की स्वतंत्रता का ढिंढोरा पीटा है। भाई ! इस बात का तुझे परिचय नहीं है, इसलिये साधारण लगता है, परन्तु यह भेदज्ञान की असाधारण बात है।

यह पुस्तक जो यहाँ चौकी पर रखी है, यह चौकी के आधार पर नहीं है। द्रव्य में स्वयं अधिकरण नाम की शक्ति है। उस शक्ति के आधार से ही पुस्तक रखी है, चौकी के आधार से नहीं। परमाणु-परमाणु की प्रति समय हुई पर्याय स्वतन्त्र स्वयं से होती है, पर के कारण नहीं। जड़ व चेतन में समय-समय जो पर्याय प्रगट होती है, वह स्वयं से होती है; उसमें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, कोई अन्य उसे परिणमाता भी नहीं है।

प्रवचनसार की १०२ वीं गाथा में आया है कि प्रत्येक पर्याय का जन्मक्षण होता है। तथा उस समय वही पर्याय स्वयं अपने से उत्पन्न होती है, उसमें दूसरे की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि पुद्‌गलद्रव्य परिणमनस्वभाव-वाला स्वयं ही है।

अब कहते हैं कि यह जो उदाहरण दिया था कि घड़ेरूप से परिणमित हुई मिट्टी ही स्वयं घड़ा है, घड़ेरूप से मिट्टी ही परिणामी है, घड़ा मिट्टी का कार्य है, कुम्हार का नहीं।

प्रश्न :– मिट्टी लाख वर्ष पड़ी रहे, तथापि क्या कुम्हार के बिना घड़ा बनता है ?

उत्तर :– हाँ, मिट्टी का घड़ा बननेरूप कारण मिट्टी में स्वयं में रहता है। वस्तु का सहज परिणमनस्वभाव है न ? मिट्टी स्वयं घड़ा बनने के काल में घड़ेरूप से परिणमित होती है। इसमें कुम्हार का कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। कुम्हार तो बाह्य निमित्त मात्र है। अहाहा ···· ! भाषा तो देखो ! कहते हैं कि घड़ेरूप से परिणमित मिट्टी ही घड़ा है। मिट्टी में घटरूप पर्याय होने का काल जन्मक्षण है, तो मिट्टी से स्वतः घड़ेरूप परिणाम का उत्पाद हुआ है। कुम्हार से घड़ा उत्पन्न होता है – ऐसा त्रिकाल संभव नहीं है।

यह मैंने किया, यह मैंने किया – ऐसा भान करके अज्ञानी जीव अनन्तकाल से दुःखी हो रहा है, चारगति में भटक रहा है।

इतनी पुस्तकें वनायी, इतने शिष्य वनाये इत्यादि मिथ्या कर्तृत्व का अभिमान किया, परन्तु भाई ! ये वाहर के, जड़ के कार्य कौन कर सकता है ? ये तो अपने स्वकाल में स्वयं होते हैं। इन कार्यों के होने में इन्हें तेरी अपेक्षा नहीं है। प्रभो ! इस मिथ्या अहंकार से तुझे दुःख होगा।

प्रश्न :– यह मोरपीछी जो नीचे पड़ी है, क्या यह मेरे हाथ से ऊँची नहीं होगी ?

उत्तर :– अरे भाई ! सुन, पुद्गल में जैसी परिणमनशक्ति है, उसी प्रकार की एक क्रियावती शक्ति भी है। इसकारण जव इस पीछी का ऊँची होने का काल होगा, उस समय स्वकाल को प्राप्त होकर पीछी अपनी शक्ति से ही ऊँची होनेवाली पर्याय को प्राप्त होगी। उसका कर्त्ता कोई अन्य नहीं है।

जिस समय ऊँची होने की पर्यायरूप परिणमन नहीं है, उससमय दूसरा उसे ऊँचा नहीं कर सकता और जिससमय ऊँची होने की पर्यायरूप परिणमन स्वतः है, तो दूसरा उसमें क्या करेगा ? क्या इस आकाश का टुकड़ा करके कोई उसे ऊँचा कर सकता है ? क्योंकि इसका ऐसा ही स्वभाव है। उसीप्रकार इस पुद्गल का ऐसा ही स्वभाव है, जिससे यह अपने स्वकाल को प्राप्त होकर स्वयं ऊँची हो जाती है। (संयोगदृष्टि छोड़कर वस्तु के स्वभाव से देखने पर ऐसा भासित होता है।)

जिसकी दृष्टि विपरीत है, उसको सव औंधा (उल्टा) दिखाई देता है। उसे यह तत्त्व की वात वैठती नहीं है। अरे भगवान ! मिथ्या श्रद्धा के कारण तुझे अनन्त-अनन्त भव हो गये हैं। अव दृष्टि पलट दे।

यहाँ कहते हैं कि घटरूप से परिणत मिट्टी ही स्वयं घट है। घड़ा मिट्टी का कार्य है, कुम्हार का कदापि नहीं। अहाहा .... ! जिसरूप से पदार्थ परिणमित होता है, उसरूप से ही वह पदार्थ है, पररूप से कदापि नहीं। इसकारण जड़स्वभाववाले ज्ञानावरणादि कर्मरूप से परिणमित हुए पुद्गलद्रव्य ही स्वयं ज्ञानावरणादि कर्म हैं, इसप्रकार पुद्गलद्रव्य परिणमनस्वभावी है, यह सिद्ध हुआ।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं।

(उपजाति)

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य
स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥ ६४ ॥

श्लोकार्थ :– [इति] इसप्रकार [पुद्गलस्य] पुद्गलद्रव्य की [स्वभावभूता परिणामशक्तिः] स्वभावभूत परिणमनशक्ति [खलु अविघ्ना स्थिता] निर्विघ्न सिद्ध हुई और [तस्यां स्थितायां] उसके सिद्ध होने पर [सः आत्मनः यम् भावं करोति] पुद्गलद्रव्य अपने जिस भाव को करता है [तस्य सः एव कर्ता] उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्त्ता है।

भावार्थ :– सर्व द्रव्य परिणमनस्वभाववाले हैं, इसलिये वे अपने अपने भाव के स्वयं ही कर्त्ता हैं। पुद्गलद्रव्य भी अपने जिस भाव को करता है, उसका वह स्वयं ही कर्त्ता है।

कलश ६४ व उसके भावार्थ पर प्रवचन

देखो जीव जब रागादि भाव से परिणमित होता है, तब उससमय पुद्गल परमाणु अपनी पर्याय से कर्मरूप परिणत होता है, क्योंकि उसमें सहज-परिणमन शक्ति है।

प्रश्न :– जो पुद्गल अपनी परिणमन शक्ति से परिणमित हुआ है, उसको कर्मरूप परिणमित होने में बाह्य कारण क्या है?

उत्तर :– जीव के विकार का परिणाम उसमें निमित्त कारण है। निमित्त का अर्थ अनुकूल होता है। जैसे नदी में पानी का प्रवाह चलता है, किनारे उसमें निमित्त हैं। किनारों के कारण पानी का प्रवाह नहीं चलता। प्रवाह तो स्वयं की योग्यता से चलता है, उसमें दोनों किनारे अनुकूल हैं अर्थात् निमित्त हैं; उसीप्रकार जो नवीनकर्म बँधता है, वह स्वयं से बँधता है; वहाँ जीव के विकारीभाव निमित्त हैं, विकारीभाव के कारण कर्मबन्ध की पर्याय नहीं हुई है। जब जीव को अनुकम्पा का भाव होता है, तब सातावेदनीय कर्म बँधता है। जब वह कर्म स्वयं अपनी योग्यता से बँधता है, तब उसमें जीव की अनुकम्पा के भाव को निमित्त कहा जाता है। निमित्त को अनुकूल एवं जो प्रकृति बँधती है, उसे अनुरूप कहते हैं – यह बात गाथा ८६ में भी आ गई है।

मिट्टी में से घड़ा बनता है, उसमें कुम्हार अनुकूल है तथा मिट्टी उसके अनुरूप है। घड़ा कुम्हार से बनता है – यह कहना मिथ्या है, क्योंकि ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। निमित्त को अनुकूल और नैमित्तिक पर्याय को अनुरूप कहा जाता है।

जीव में जो विकार होता है, वह स्वयं से स्वतंत्रपने उत्पन्न होता है। उसमें जड़कर्म निमित्त है, परन्तु कर्म के कारण विकार होता हो – ऐसा नहीं है। जीव में जो विकार होता है, वह अनुरूप एवं जड़कर्म अनुकूल निमित्त है। जीव को जो मिथ्यात्व का परिणाम होता है, वह अपने स्वयं के विपरीत पुरुषार्थ से होता है अपनी वीर्यशक्ति के उल्टे परिणमन से स्वतंत्रपने होता है, उसमें कर्म की अपेक्षा बिल्कुल नहीं है। कर्म निमित्त हो, परन्तु निमित्त से जीव को विकार नहीं होता।

ऐसी स्वतंत्रता की बात सुनकर कुछ लोग चौंकते हैं। परन्तु भाई! यह बात परमसत्य है। लोगों की अनादि से निमित्ताधीन दृष्टि है तथा अभ्यास भी उसी का है, इसकारण स्वतंत्रता की बात समझने में कठिनाई होती है; परन्तु इसके लिए कोई क्या करे? वे स्वयं स्वभाव की दृष्टि करें, तो सहज ही समझ में आ सकता है।

यहाँ कहते हैं कि पुद्गलद्रव्य में निराबाध परिणमनशक्ति है। अपने भाव से परिणमित पुद्गलद्रव्य को कोई परद्रव्य अन्यथा कर दे – यह त्रिकाल संभव नहीं है। जीव में जब विकार होता है, तब पुद्गलद्रव्य स्वत: ज्ञानावरणादि कर्मरूप से परिणम जाता है। उस कर्मबन्ध की पर्याय का निमित्त विकार है। विकार अनुकूल है; परन्तु विकार के कारण कर्मबन्धन नहीं होता। उस कर्मबन्ध की पर्याय का कर्त्ता पुद्गल परमाणु है, रागादिभाव उसका कर्त्ता नहीं है। पुद्गलद्रव्य स्वतंत्ररूप से अपने परिणमन का कर्त्ता है।

प्रत्येक द्रव्य में परिणमन स्वभाव है, उसका एक अवस्था से अवस्थान्तररूप बदलने का स्वभाव है अर्थात् अपने भाव का स्वयं ही कर्त्ता है। पुद्गलद्रव्य भी स्वतंत्रपने अपने भाव को स्वयं ही करता है और उसका पुद्गलद्रव्य स्वयं ही कर्त्ता होता है।

समयसार गाथा १२१ से १२५

जीवस्य परिणामित्वं साधयति–

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ॥१२१॥

अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२२॥

पोग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३॥

अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२४॥

कोहुवजुत्तो कोहो माणवजुत्तोय माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥

अब जीवका परिणामित्व सिद्ध करते हैं :–

नहिं बद्धकर्म, स्वयं नहीं जो क्रोधभावों परिणमे ।
तो जीव यह तुझ मतविषैं परिणमनहीन बने अरे ॥१२१॥

क्रोधादिभावों जो स्वयं नहिं जीव आप हि परिणमे ।
संसारका हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे ॥१२२॥

जो क्रोध पुद्गलकर्म-जीव को, परिणमावे क्रोध में ।
क्यों क्रोध उसको परिणमावे जो स्वयं नहिं परिणमे ॥१२३॥

अथवा स्वयं जीव क्रोधभावों परिणमे तुझ बुद्धि से ।
तो क्रोध जीव को परिणमावे क्रोध में मिथ्या बने ॥१२४॥

क्रोधोपयोगी क्रोध, जीव, मानोपयोगी मान है ।
मायोपयुत माया अवरु लोभोपयुत लोभ हि बने ॥१२५॥

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः ।
यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति ॥१२१॥

अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः ।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥१२२॥

पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वम् ।
तं स्वयमपरिणममानं कथं नु परिणामयति क्रोधः ॥१२३॥

अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा ते बुद्धिः ।
क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ॥१२४॥

क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा ।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः ॥१२५॥

गाथार्थ :—सांख्यमतानुयायी शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! [एषः] यह [जीवः] जीव [कर्मणि] कर्म में [स्वयं] स्वयं [बद्धः न] नहीं बँधा है और [क्रोधादिभिः] क्रोधादिभाव से [स्वयं] स्वयं [न परिणमते] नहीं परिणमता [यदि तव] यदि तेरा यह मत है [तदा] तो वह (जीव) [अपरिणामी] अपरिणामी [भवति] सिद्ध होता है; [जीवे] और जीव [स्वयं] स्वयं [क्रोधादिभिः भावैः] क्रोधादिभावरूप [अपरिणममाने] नहीं परिणमता होने से [संसारस्य] संसार का [अभावः] अभाव [प्रसजति] सिद्ध होता है [वा] अथवा [सांख्यसमयः] सांख्यमत का प्रसंग आता है ।

[पुद्गलकर्म क्रोधः] और पुद्गलकर्म जो क्रोध है वह [जीवं] जीव को [क्रोधत्वम्] क्रोधरूप [परिणामयति] परिणमन कराता है ऐसा तू माने तो, यह प्रश्न होता है कि [स्वयम् अपरिणममानं] स्वयं नहीं परिणमते हुए [तं] उस जीव को [क्रोधः] क्रोध [कथं नु] कैसे [परिणामयति [परिणमन करा सकता है ? [अथ] अथवा यदि [आत्मा] आत्मा [स्वयम्] अपने आप [क्रोधभावेन] क्रोधभाव से [परिणमते] परिणमता है [एषा ते बुद्धिः] ऐसी तेरी बुद्धि हो, तो [क्रोधः] क्रोध [जीवं] जीव को [क्रोधत्वम्] क्रोधरूप [परिणामयति] परिणमन कराता है [इति] यह कथन [मिथ्या] मिथ्या सिद्ध होता है ।

यदि कर्मणि स्वयमबद्धः सन् जीवः क्रोधादिभावेन स्वयमेव न परिणमेत् तदा स किलापरिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयति ततो न संसाराभाव इति तर्कः । किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयेत्? न तावत्स्वयमपरिणममानः परेण परिणमयितुं पार्येत; न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानस्तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत; न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । ततो जीवः परिणामस्वभावः स्वयमेवास्तु । तथा सति गरुडध्यानपरिणतः साधकः स्वयं गरुड इवाज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोप-

---

इसलिये यह सिद्धान्त है कि [क्रोधोपयुक्तः] क्रोध में उपयुक्त (अर्थात् जिसका उपयोग क्रोधाकार परिणमित हुआ है ऐसा) [आत्मा] आत्मा [क्रोधः] क्रोध ही है, [मानोपयुक्तः] मान में उपयुक्त आत्मा [मानः एव] मान ही है, [मायोपयुक्तः] माया में उपयुक्त आत्मा [माया] माया है [च] और [लोभोपयुक्तः] लोभ में उपयुक्त आत्मा [लोभः] लोभ [भवति] है।

टीकाः — यदि जीव कर्म में स्वयं न बँधता हुआ क्रोधादिभाव में स्वयमेव नहीं परिणमता हो, तो वह वास्तव में अपरिणामी ही सिद्ध होगा और ऐसा होने से संसार का अभाव होगा। यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि "पुद्गलकर्म जो क्रोधादिक हैं, वे जीव को क्रोधादि-भावरूप परिणमाते हैं, इसलिये संसार का अभाव नहीं होता," तो उसका निराकरण दो पक्ष लेकर इस प्रकार किया जाता है कि :— पुद्गलकर्म क्रोधादिक है, वह स्वयं अपरिणमते हुए जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुए को? प्रथम, स्वयं अपरिणमते हुए को पर के द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता; क्योंकि (वस्तुमें) जो शक्ति स्वतः न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता और स्वयं परिणमते हुए को तो अन्य परिणमानेवाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती। (इसप्रकार दोनों पक्ष असत्य हैं।) इसलिये जीव परिणमनस्वभाववाला स्वयमेव हो। ऐसा होने से, जैसे गरुड़ के ध्यानरूप परिणमित मंत्रसाधक स्वयं गरुड़ है, उसीप्रकार, अज्ञानस्वभाव-युक्त क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमित हुआ है ऐसा जीव ही स्वयं

योगः स एव स्वयं क्रोधादिः स्यात्। इति सिद्धं जीवस्य परिणामस्वभावत्वम्।

क्रोधादि है। इसप्रकार जीव का परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ।

भावार्थ :—जीव परिणामस्वभावी है। जब अपना उपयोग क्रोधादिरूप परिणमता है, तब स्वयं क्रोधादिरूप ही होता है ऐसा जानना।

गाथा १२१ से १२५ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

अब जीव का परिणामीपना सिद्ध करते हैं। देखो, ये गाथायें बहुत ऊँची हैं। यहाँ 'क्रोध' शब्द से सम्पूर्ण विकारीभाव ग्रहण कर लेना। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि के विकल्प जीव के कर्म या कार्य हैं। उन विकारीभावरूप यदि जीव स्वयं न परिणमे, तो वह वस्तुतः अपरिणामी कूटस्थ ठहरेगा।

जीव में जो विकार होता है, वह स्वयं से होता है, कर्म के कारण नहीं। अपने विपरीत पुरुषार्थ से विकार होता है तथा अपने सम्यक् पुरुषार्थ से विकार टलता है। निश्चयतः विकार अपने षट्कारक से होता है, उसमें परकारकों की अपेक्षा नहीं है।

पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में आता है कि विकार अपने षट्कारकों से होता है, कर्मों से नहीं। कर्म निमित्त है, अनुकूल है; परन्तु कर्म से विकार उत्पन्न नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि यदि जीव स्वयं विकाररूप परिणमित नहीं हो, तो वह अपरिणामी सिद्ध होगा तथा अपरिणामी सिद्ध होने पर उसके संसार का अभाव होगा। संसार का अर्थ स्त्री-पुत्रादि नहीं है, बल्कि मिथ्यात्व एवं राग-द्वेष के परिणाम है। मिथ्यात्वादि परिणामों को ही आगम में संसार कहा है।

यहाँ जो यह तर्क दिया जाता है कि पुद्गलरूप क्रोधादि द्रव्यकर्म जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमाते हैं, इसकारण उसके संसार का अभाव नहीं होगा। इस बात का निराकरण पूर्व पक्ष की ओर से दो प्रश्न

उठाकर करते हैं – पुद्गलरूप जो क्रोधादि द्रव्यकर्म हैं, वे स्वयं अपरिणमित रहनेवाले जीव को क्रोधादिरूप परिणमाते हैं या स्वयं परिणमित होने वाले जीव को क्रोधादिरूप परिणमाते हैं ?

उत्तर देते हुए आचार्य पहले प्रथम पक्ष को समझाते हैं कि यदि स्वयं अपरिणमित जीव को परिणमाते हैं – ऐसा कहोगे, तो यह तो संभव ही नहीं है, क्योंकि जो अपरिणामी है, उसे तो कोई अन्य द्रव्य परिणमा ही नहीं सकता। वस्तु में जो शक्ति स्वतः न हो, तो उसे कोई अन्य द्रव्य नहीं कर सकता।

दूसरे पक्ष के उत्तर में कहा है कि स्वयं परिणमित को अन्य के द्वारा परिणमाने की आवश्यकता ही कहाँ है ? क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं। जीव तो स्वयं ही परिणमन स्वभाववाला है। इस प्रकार दोनों ही पक्ष असत्यार्थ सिद्ध हुए।

भाई ! यह मकान, बाग, बंगला, धन, कुटुम्ब इत्यादि जो तेरी मान्यता में तेरे हैं, वे तेरे नहीं रहेंगे। क्षण भर में ये सब संयोग छूट जायेंगे। तू इन परपदार्थों को अपने मानता है – यह तेरा पागलपन है, मूढ़ता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में एक उदाहरण आता है कि एक पागल बैठा था। वहाँ राजा ने सेना सहित आकर पड़ाव डाला। हाथी, घोड़ा, राजकुमार, दास, दासी आदि सबको देखकर यह सोचने लगा कि ये सब मेरे हैं। जब राजा ने प्रयाण किया तो वह पागल सोचने लगा – अरे ! ये सब कहाँ चले ? ऐसे विचार से वह अत्यन्त खेदखिन्न हुआ। इसी तरह अज्ञानी जीव पुत्र धनादि का वर्तमान में संयोग होने पर ये सब मेरे हैं – ऐसा मानता है, वह मूर्ख पागल जैसा है। भाई ! ये सब तेरे नहीं हैं, तेरे कारण आये भी नहीं हैं, तेरे कारण ठहरे नहीं हैं। सब अपने-अपने कारण आये हैं, अपनी-अपनी योग्यता से ठहरे हैं और अपनी-अपनी योग्यता से सब चले जायेंगे। किसी के कारण कोई अन्य नहीं ठहरा है। इसी तरह जीव में जो विकार होता है, वह स्वयं से होता है, कर्म के कारण नहीं।

जीव को यदि स्वयं विकाररूप परिणमन करनेवाला नहीं मानेंगे तो वह कूटस्थ सिद्ध होगा और ऐसा होने पर उसके संसार (राग-द्वेष-मोह) का ही अभाव सिद्ध हो जायेगा, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।

यहाँ यह तर्क किया जाता है कि जीव स्वयं विकाररूप नहीं परिणमता, बल्कि जड़कर्म उसे विकाररूप परिणमन कराते हैं, इसकारण उसके संसार का अभाव नहीं होता। इसका निराकरण करते हुए आचार्यदेव कहते हैं :-

अरे भाई ! स्वयं अपरिणमते जीव को (जड़कर्म) क्रोधरूप या विकाररूप नहीं परिणमा सकता, क्योंकि वस्तु में जो शक्ति स्वतः नहीं होती, उसे कोई अन्य नहीं कर सकता। जो स्वयं नहीं परिणमता, उसे दूसरा कैसे परिणमा सकता है ? यदि वस्तु में परिणमन करने की शक्ति न हो, तो अन्य द्रव्य उसे त्रिकाल परिणमित नहीं करा सकता। अहो ! दिगम्बर संतों ने गजब का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

स्फटिक मणि में फूल के निमित्त से जो लाल-हरी झाँई पड़ती है, वह झाँईरूप से स्फटिक अपनी योग्यता से स्वयं परिणमित होता है, फूल के कारण नहीं। लकड़ी काष्ठ के पास जो लाल-हरा फूल रखे, तो उसमें झाँई नहीं पड़ती, क्योंकि लकड़ी में उसप्रकार की योग्यता नहीं है।

निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादन एवं क्रमबद्ध पर्याय इनकी मुख्यता से यहाँ वर्णन है। जिसको यह समझ में नहीं आता, वह तर्क-कुतर्क करता है; परन्तु दिगम्बर संतों ने सत्य का उद्‌घाटन कर दिया है।

समयसार के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में गाथा ३०८ से ३१२ की टीका में 'क्रमनियमित' शब्द आया है। वहाँ कहा है कि 'प्रथम तो जीव क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं, इसीतरह अजीव भी क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं।' देखो, अकेला 'क्रम' नहीं कहा, बल्कि क्रमनियमित है – ऐसा स्पष्ट कहा है। इसका अर्थ यह होता है कि जीव की व अजीव की जिस काल में जो पर्याय होनी हो, वह क्रमबद्ध स्वयं से होती है। कोई भी पर्याय आगे-पीछे नहीं होती। भाई ! क्रमबद्ध की यह बात इसी ग्रन्थ के आधार से है, कोई कल्पना की बात नहीं है। जैसे मोती के हार में जो मोती जहाँ है, वह वहीं है, आगे-पीछे नहीं। उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य में जो पर्याय जिस समय होना है, उसी समय वही पर्याय नियतपने से होती है, आगे-पीछे नहीं।

जब जीव अपने में विकार का परिणाम स्वतंत्रपने से करता है, तब कर्म को उसमें अनुकूल निमित्ति कहा जाता है। जीव में जब विकार होता

है, तब कर्म का उदय अनुकूल है। कर्म निमित्त है, इसकारण जीव में विकार हुआ हो – ऐसा नहीं है। अहाहा ! स्वयं अपरिणमि को अन्य कोई नहीं परिणमा सकता, क्योंकि वस्तु में जो शक्ति स्वतः न हो, तो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता, यह एक बात हुई।

अब दूसरी बात कहते हैं – स्वयं परिणमित होनेवाले को पर की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं। जीव में विकार स्वयं अपनी योग्यता से होता है; तो निमित्त से होता है – यह बात ही कहाँ रही ? जब जीव विकार करता है, उस काल में कर्म निमित्त है, कर्म उसमें अनुकूल है; परन्तु कर्म हैं, इस कारण जीव विकार-रूप से परिणमा है या कर्म के कारण जीव विकाररूप परिणमा है – ऐसा बिल्कुल नहीं है।

जब जीव को सम्यग्दर्शन होता है, तब उसके अनुकूल उसका व्यवहार होता है। वह व्यवहार भी जानने लायक है, परन्तु व्यवहार से निश्चय प्रगट हुआ – ऐसा नहीं है।

जहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ व्यवहार होता है। वह व्यवहार भी मात्र जानने लायक है; परन्तु व्यवहार से निश्चय प्रगट नहीं होता। व्यवहार है अवश्य, परन्तु उससे निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता। जिसप्रकार निमित्त से पर का कार्य नहीं होता, उसीतरह व्यवहार से निश्चय नहीं होता।

सर्वज्ञ भगवान ने एक समय में तीनों काल व तीनों लोक देखे हैं। तदनुसार जिससमय जो पर्याय होनी हो, उसीसमय वही पर्याय होती है, उसे आगे-पीछे करने में कोई समर्थ नहीं है। स्वामी कार्तिकेय अनुप्रेक्षा में आता है कि सर्वज्ञ भगवान ने जिसप्रकार जब जो होना देखा है, उसीप्रकार उसीसमय वही होता है, उसे पलटने में इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र कोई भी समर्थ नहीं है, जिसे 'पर्याय की स्वतन्त्रता का यथार्थ निर्णय नहीं है, उसे द्रव्यदृष्टि प्रगट नहीं होती। अहाहा....! समय-समय होनेवाली प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्रपने होती है – ऐसी जिसको श्रद्धा नहीं है, उसकी पर्यायरहित त्रिकाली शुद्ध द्रव्य की ओर दृष्टि नहीं जाती।

यहाँ कहते हैं कि स्वयं परिणमित होती हुई वस्तु को दूसरे द्रव्य की अपेक्षा नहीं है। अहाहा....! गजब बात है। 'प्रत्येक द्रव्य की प्रतिसमय जो

पर्याय होती है वह स्वयं अपने से होती है; उसमें दूसरी वस्तु निमित्त भले हो और उससमय जो पर्याय हुई, वह निमित्त के अनुरूप हो, तथापि निमित्ति से नैमित्तिक पर्याय कदापि नहीं होती । यदि निमित्त से उपादान की पर्याय हो, तो निमित्त उपादान हो जाय; परन्तु ऐसा वस्तु के स्वरूप में ही नहीं है ।

जैसे अन्य मतवाले ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं, उसीप्रकार जैनमतवाले कर्म को कर्त्ता माने, तो वे अन्यमती जैसे ही हैं । जो ऐसा मानता है कि कर्म हैरान करता है, उसकी दृष्टि उल्टी है; वह मिथ्यादृष्टि है । कर्म तो जड़ है, वह क्या करे ? पूजा की जयमाला में आता है कि —

कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई;
अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई ।

देखो जैसे अग्नि लोहे का संग करे, तो उसे घन खाने पड़ते हैं, उसी तरह जीव जब विकार का संग करता है, तो उसे दुःखी होना पड़ता है । कर्म या नोकर्म उसे राग कराता हो — ऐसा नहीं है । कर्म से राग नहीं होता । जीव स्वयं रागरूप परिणमता है, उसे पर की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वस्तु की शक्ति पर की अपेक्षा नहीं रखती । इसप्रकार दोनों ही पक्ष से अज्ञानी की बात झूठी सिद्ध होती है ।

इसप्रकार जीव स्वयं ही परिणमनस्वभाववाला है — यह बात सिद्ध हुई ।

अब कहते हैं कि ऐसा होने पर, जैसे गरुड़ के ध्यानरूप से परिणमित मंत्रसाधक स्वयं गरुड़ है; उसीप्रकार अज्ञानस्वभाववाले क्रोधादिरूप से जिसका उपयोग परिणमा है — ऐसा जीव स्वयं क्रोधादि है । इसप्रकार जीव का परिणामस्वभाव सिद्ध हुआ ।

क्रोध, मान, माया व लोभरूप भाव अज्ञानस्वभाववाले हैं । वे क्रोधादिभाव जड़कर्म से हुए हैं — ऐसा नहीं है तथा वे क्रोधादिभाव ज्ञानी के हैं ऐसा भी नहीं है । ये सब भाव अज्ञानस्वभाववाले हैं । जिसकाउपयोग इन अज्ञानस्वभाव से परिणत है — ऐसा अज्ञानी जीव ही स्वयं क्रोध है । इसप्रकार जीव का परिणामस्वभाव सिद्ध हुआ ।

गाथा १२१ से १२५ के भावार्थ पर प्रवचन

जीव अनादि से ध्रुवरूप रहकर परिणमता है । उसका परिणमन-स्वभाव अनादि का है । पर्याय में पलटना – वदलना द्रव्य का अपना स्वभाव है । जव अपना उपयोग क्रोध-मान-माया-लोभ में जाता है, तव उस-रूप स्वयं परिणमता है । कोई कर्म या अन्य वस्तु उसे क्रोधादिरूप नहीं परिणमाते । जव स्वयं का जानने-देखने रूप स्वभाव क्रोधादिरूप परिणमता है, तव स्वयं ही क्रोधादिरूप हो जाता है ।

जीव का परिणमनस्वभाव होने से वह विकाररूप परिणमता है । वह परिणाम उसका कार्य है तथा जीव उसका कर्त्ता है । जीव पर का कार्य तो किंचित् भी नहीं कर सकता । शरीर का हिलाना-डुलाना, खाना-पीना, वोलने आदि की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता । 'मैं शरीर का काम करूँ, देश की व समाज की सेवा करूँ, पर की दया पालूँ, पर की मदद करूँ' आदि अज्ञानी के विचार हैं, वही ऐसा मानता है, परन्तु वह उसका मिथ्या अभिमान है ।

मिथ्यादृष्टि जीव अपने परिणाम में जो क्रोध-मान-माया-लोभ तथा मिथ्यात्वभाव करता है, उस भाव का वह स्वयं कर्त्ता होता है । उसके उस भाव का कर्त्ता जड़कर्म नहीं है । अपने परिणाम के सिवाय शरीर, मन, वाणी, कुटुम्व-कवीला, धन्धा-व्यापार, उद्योग आदि पर्यायों को आत्मा त्रिकाल में कभी भी नहीं कर सकता, तथापि 'ये सव पर के कार्य मैं करता हूँ' – ऐसा अभिमान करके अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वादिभावों से परिणमता है । कोई दर्शनमोहनीयादि कर्म उसे मिथ्यात्वरूप से नहीं परिणमाते । वल्कि स्वयं ही क्रोधादिरूप से परिणमता हुआ क्रोधादिरूप हो जाता है ।

कलश ६५

अव इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(उपजाति)

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया
स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥६५॥

श्लोकार्थ :– [इति] इसप्रकार [जीवस्य] जीव की [स्वभावभूता परिणामशक्तिः] स्वभावभूत परिणमनशक्ति [निरन्तराया स्थिता]

निर्विघ्न सिद्ध हुई। [तस्यां स्थितायां] यह सिद्ध होने पर, [सः स्वस्य यं भावं करोति] जीव अपने जिस भाव को करता है [तस्य एव सः कर्ता भवेत्] उसका वह कर्त्ता होता है।

भावार्थ :– जीव भी परिणामी है; इसलिए जिस भावरूप परिणमता है, उसका कर्त्ता होता है।

कलश ६५ पर प्रवचन

जीव में स्वतः परिणमन होने की स्वभावभूत शक्ति है। जब कोई अन्य द्रव्य परिणमावे तब परिणमे – ऐसी जगत में एक भी वस्तु नहीं है। इसप्रकार वस्तु की स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई। जीव की परिणमनशक्ति किसी परद्रव्य से बाधित भी नहीं होती तथा किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा भी नहीं रखती। कोई विघ्न करे, तो परिणमन रुक जायेगा अथवा कोई सहायता करे, तभी परिणमन होगा, अन्यथा नहीं होगा, ऐसी वस्तुस्वरूप में कोई व्यवस्था नहीं है। आत्मा अकेला स्वयं अपनी स्वभावभूत शक्ति से ही सदैव निर्पेक्ष रहकर निर्विघ्नरूप से परिणमन करता है – यह बात सिद्ध हुई।

अब आचार्यदेव कहते हैं कि जीव अपने जिन भावों को करता है, उनका कर्त्ता वह स्वयं होता है। स्वयं परिणमन करता हुआ जीव अपने जिन परिणामों को करता है, उन परिणामों का कर्त्ता वह स्वयं होता है। चाहे वे परिणाम मिथ्यात्व व राग-द्वेष के हों या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के हों, उन परिणामों को जीव स्वयं करता है और स्वयं ही वह अपने परिणामों का कर्त्ता है। अपने परिणमन में कोई अन्य का हस्तक्षेप नहीं है और अन्य किसी के परिणाम को स्वयं करता भी नहीं है। अज्ञानी अज्ञान-भाव से राग-द्वेष का कर्त्ता होता है तथा ज्ञानी ज्ञानभाव से ज्ञान का कर्त्ता होता है। जड़ परमाणुओं का या जड़कर्मों का कर्त्ता ज्ञानी व अज्ञानी कोई नहीं है। जड़कर्म तो स्वयं अपनी सामर्थ्य से परिणमन करते हैं तथा जीव भी स्वयं अपनी सामर्थ्य से परिणमता है।

मिथ्यात्व के जो भाव होते हैं, वे स्वयं अपनी योग्यता से – अपने कारण होते हैं, किसी कुगुरु के कारण से नहीं। इसीतरह सम्यक्त्व के परिणाम भी स्वयं से सहज होते हैं। किसी सुगुरु के कारण नहीं। निमित्तादि पर कारणों से किसी में कोई भी कार्य कभी भी नहीं होता है।

अपनी परिणमनशक्ति से ही अपने में अपना कार्य होता है, पर से नहीं। भाई! यदि यह एक सिद्धान्त ही अच्छी तरह यथार्थ समझ में आ जाये, तो सर्व समाधान हो जायें। यह ऐसी अद्भुत बात है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। एक द्रव्य की पर्याय कोई अन्य द्रव्य नहीं कर सकता। जीव में स्वतः निर्विघ्न परिणमन शक्ति है। तात्पर्य यह है कि जीव की परिणमन-शक्ति किसी अन्य द्रव्य के आश्रित नहीं है। जब जीव निर्मल या मलिनभाव से परिणमित होता है, तब उसकी निर्मल या मलिन पर्याय स्वयं से होती है, पर से या कर्म से नहीं; उसीप्रकार जब कोई भी परमाणु पलटता है, तो वह भी अपनी परिणमनशक्ति से ही पलटता है, आत्मा से नहीं। प्रत्येक पदार्थ में अनादि-अनन्त परिणमनस्वभाव है, इसकारण प्रतिसमय वह स्वयं से परिणमता है, पर से नहीं – ऐसी ही वस्तुस्थिति है। यहाँ यह कह रहे हैं कि ये व्यापार-धन्धों के कार्य आत्मा नहीं कर सकता। सभी जीव सर्वत्र सदैव अपनी पर्याय की परिणति के ही कर्त्ता हैं, पर की परिणति के नहीं।

यह पैर चलता है न? तो यह भी अपनी परिणमनशक्ति से चलता है, जीव के कारण नहीं। जीव तो अपनी इच्छारूप परिणाम को करता है। जीव अपने परिणाम को करने में स्वतंत्र है और पैर अपने हिलनेरूप परिणाम को करने में स्वतन्त्र है। किसी एक द्रव्य का परिणमन अन्य द्रव्य के आश्रय से हो – ऐसा वस्तु का स्वभाव ही नहीं है। अहो! वीतराग परमात्मा द्वारा निरूपित तत्त्व सूक्ष्म है, परन्तु आत्म-हितकारी है। अतः सबका समझने योग्य है।

कलश ६५ के भावार्थ पर प्रवचन

परमाणु परिणामस्वभावी है – यह बात विगत गाथाओं में आ चुकी है। अब यहाँ यह कहते हैं कि जीव भी परिणामस्वभावी है। चाहे तो वह ज्ञानानन्दस्वभाव से परिणमे या रागादिभाव से परिणमे; स्वयं जिस भावरूप परिणमित होता है; उसी भाव का वह कर्त्ता होता है। जब जीव रागभाव से परिणत होता है, तब जो कर्मबन्ध होता है, उस कर्मबन्ध की पर्याय का कर्त्ता जीव नहीं है, बल्कि उस कर्मबन्ध की पर्याय के कर्त्ता वे कर्मपरमाणु स्वयं हैं। वे कर्म अपने परिणाम से बँधते हैं। आत्मा जो राग-द्वेष के भाव अपने में करता है, उनका वह स्वयं कर्त्ता होता है; परन्तु जड़कर्म की पर्यायों का कर्त्ता आत्मा नहीं है।

ज्ञानी ज्ञानभाव का कर्त्ता है, राग-द्वेष का नहीं; अज्ञानी राग-द्वेष का कर्त्ता है और परमाणु जड़कर्म के कर्त्ता हैं । ज्ञानी या अज्ञानी कोई जड़कर्म के कर्त्ता नहीं है । इसप्रकार जीव जिस भावरूप से स्वयं परिणमता है, उस भाव का कर्त्ता वह स्वयं होता है, यह सिद्ध हुआ ।

□□□□
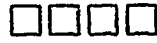
भरमसौं करमकौ करता कहायौ है

जैसे गजराज नाज घासके गरास करि,
जैसे मतवारौ नहि भिन्न रस लियो है ।
जैसे मतवारौ नहि जानै सिखरानि स्वाद,
जुंग में मगन कहै गऊ दूध पीयौ है ।।
तैसें मिथ्यादृष्टि जीव ग्यानरूपी है सदीव,
पग्यौ पाप पुन्नसौं सहज सुन्न हीयौ हैं ।
चेतन अचेतन दुहूंकौ मिश्र पिंड लखि,
एकमेक भानै न विवेक कछु कीयौ है ।। १३ ।।

जैसें महा धूपकी तपतिमैं तिसायो मृग,
भरमसौं मिथ्याजल पीवनकौं धायौ है ।
जैसे अंधकार मांहि जेवरी निरखि नर,
भरमसौं डरपि सरप मानि आयौ है ।।
अपनैं सुभाव जैसें सागर सुथिर सदा,
पवन-संजोगसौं उछरि अकुलायौ है ।
तैसै जीव जड़सौं अव्यापक सहज रूप,
भरमसौं करमकौ करता कहायौ है ।। १४ ।।

—समयसार नाटक, कर्त्ताकर्म क्रियाद्वार

समयसार गाथा १२६

तथा हि –

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स ।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ।।१२६।।

य करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य कर्मणः ।
ज्ञानिनः स ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ।।१२६।।

एवमयमात्मा स्वयमेव परिणामस्वभावोऽपि यमेव भावमात्मनः करोति तस्यैव कर्मतामापद्यमानस्य कर्तृत्वमापद्येत । स तु ज्ञानिनः सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वात् ज्ञानमय एव स्यात् ।

अब यह कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञानमय भाव का और अज्ञानी अज्ञानमय भाव का कर्त्ता है :–

जिस भाव को आत्मा करे, कर्ता बने उस कर्म का ।
वो ज्ञानमय है ज्ञानि का, अज्ञानमय अज्ञानि का ।।१२६ ।।

गाथार्थ:– [आत्मा] आत्मा [यं भावम्] जिस भाव को [करोति] करता है [तस्य कर्मणः] उस भावरूप कर्म का [सः] वह [कर्ता] कर्त्ता [भवति] होता है; [ज्ञानिनः] ज्ञानी को तो [सः] वह भाव [ज्ञानमयः] ज्ञानमय है और [अज्ञानिनः] अज्ञानी को [अज्ञानमयः] अज्ञानमय है ।

टीका – इसप्रकार यह आत्मा स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है तथापि अपने जिस भाव को करता है, उस भाव का ही – कर्मत्व को प्राप्त हुए का ही वह कर्त्ता होता है (अर्थात् वह भाव आत्मा का कर्म है और आत्मा उसका कर्त्ता है) । वह भाव ज्ञानी को ज्ञानमय ही है, क्योंकि उसे सम्यक्प्रकार से स्वपर के विवेक से (सर्व परद्रव्यभावों से) भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई है और वह भाव अज्ञानी को तो

अज्ञानिनः तु सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वादज्ञानमय एव स्यात् ।

अज्ञानमय ही है क्योंकि उसे सम्यक्प्रकार से स्वपर का विवेक न होने से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गई है ।

भावार्थ :– ज्ञानी को तो स्वपर का भेदज्ञान हुवा है, इसलिये उसके अपने ज्ञानमय भाव का ही कर्तृत्व है और अज्ञानी को स्वपर का भेदज्ञान नहीं है, इसलिये उसके अज्ञानमय भाव का ही कर्तृत्व है ।

गाथा १२६ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

यद्यपि निश्चय से प्रत्येक आत्मा स्वयमेव परिणामस्वभावी है, स्वयं बदलने के स्वभाववाला है, तथापि वह अपने जिस भाव को करता है, उसी भाव का कर्त्ता होता है । जिस भावरूप से स्वयं परिणमता है, उस भाव का वह कर्त्ता है और वह भाव उसका कर्म (कार्य) है । यहाँ कर्म का अर्थ जड़कर्म नहीं है । आत्मा जिस परिणाम को करता है, वह परिणाम उसका कर्म है और स्वयं आत्मा उस कर्म (कार्य) का कर्त्ता है । अहाहा .... ! भाषा तो बहुत सरल है; परन्तु भाव बहुत गंभीर है ।

यह मस्तक पर पहनी हुई आपकी टोपी है न ? यह अपनी इस अवस्थारूप अपने परमाणुओं के परिणमन करने से मस्तक पर है; किसी आत्मा-विशेष के कारण ये टोपी उसके माथे पर नहीं रहती । वह आत्मा तो टोपी लगाने के भावरूप परिणमन का कर्त्ता है, टोपी की अवस्था का नहीं ।

देखो ये वीतरागी-सर्वज्ञ परमात्मा की आज्ञा है । गणधर और इन्द्रों जैसे श्रेष्ठ श्रोताओं की सभा में परमात्मा दिव्यध्वनि द्वारा जो बात कहते थे, यह वही बात है । भगवान कुन्दकुन्दाचार्य महाविदेह में गये थे और सीमन्धर परमात्मा की वाणी उन्होंने साक्षात् सुनी थी । वहाँ से भरतक्षेत्र में आकर यह शास्त्र बनाया है । वे यहाँ कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा अपने जिस भाव को करता है, उस भाव का वही स्वयं कर्त्ता है और वह भाव उसका कर्म है, कार्य है ।

अब कहते हैं कि वह धर्मी – सम्यग्दृष्टि जीव, जिसको एक ज्ञायक भाव का अनुभव हुआ है अर्थात् 'मैं एक ज्ञायक भाव हूँ' – ऐसा जिसे अन्तरंग में अनुभव हुआ है; उसे जो परिणाम होता है, वह परिणाम

ज्ञानमय ही है। अहाहा ···· ! धर्मी को जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणाम होता है, वह ज्ञानमय ही है। ज्ञानी के वे परिणाम आत्मामय चैतन्यमय ही होते हैं और ज्ञानी उन्हीं परिणामों का कर्त्ता है। दया, दान, व्रत आदि राग के परिणामों का कर्त्ता ज्ञानी नहीं है।

भाई ! ये सब जो करोड़पति हैं; इनके पास जो ये पैसा (धन) आता है, वह सब परमाणु की पर्यायें हैं। आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है। ये धनादि इनके प्रयत्न से नहीं आते। कोई ऐसा माने कि 'मैं पैसा अर्जित करता हूँ – कमाता हूँ और अपनी इच्छानुसार इसे दानादि कार्यों में खर्च करता हूँ, तो ऐसा माननेवाले मूढ़ हैं, अज्ञानी हैं; क्योंकि पैसे के परिणमन के कर्त्ता पैसे के परमाणु हैं, ज्ञानी नहीं।

अरे इस हाथ को मैं हिलाता हूँ – ऐसा जो माने, वह भी मूढ है, मिथ्यादृष्टि है। परमाणु में स्वयं की परिणमनशक्ति है, इसकारण उसके परिणमन से वह हाथ हिलता है, उस जड़ के परिणमन का कर्त्ता आत्मा नहीं है।

जो स्वयं को पर का कर्त्ता मानते हैं, वे सब मूढ हैं – पागल हैं। कुन्दकुन्दाचार्य एवं अमृतचन्द्राचार्य केवली भगवान के आढ़तिया बनकर उनका भाव बताते हैं कि भाई ! ज्ञानी का भाव ज्ञानमय ही है। धर्मी जीव के श्रद्धा-ज्ञान व शान्तिस्वरूप वीतरागी परिणाम होते हैं और वे सब ज्ञानमय ही हैं। शरीर का जो परिणाम होता है, वह ज्ञानी का परिणाम नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति के शुभभाव भी ज्ञानी के परिणाम नहीं हैं। स्व व पर को जाननेरूप जो चैतन्य के जानने-देखने के परिणाम हैं, वे ज्ञानी के कार्य हैं और उन ज्ञानमय परिणामों का ज्ञानी कर्त्ता है। अहाहा ···· ! शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप भगवान आत्मा जिसकी दृष्टि में आ गया उस ज्ञानी के सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के परिणामों में रागादि अज्ञानमय परिणाम नहीं हैं।

मैं दूसरे की रक्षा करता हूँ, दूसरे का कार्य करता हूँ, ज्ञानी को ऐसे मिथ्या परिणाम नहीं होते। अपनी पर्याय में रागादिभाव होते हैं, उन्हें भी वह अपना कार्य (कर्त्तव्य) नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती को छह-खण्ड का राज्य एवं ९६ हजार रानियाँ होती हैं। वह उनके राग में रहता हुआ भी उन्हें व तत्सम्बंधी रागादि कार्यों का कर्त्ता स्वयं को नहीं मानता।

बात बहुत सूक्ष्म है । भाई ! ज्ञानी तो ऐसा मानता है कि मैं तो ज्ञानानन्द-स्वभावी हूँ, सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा हूँ । अहा ! शुद्ध चैतन्य के लक्ष्य से उत्पन्न हुए श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति-स्वच्छता-वीतरागतारूप धर्मी के परिणाम ज्ञानमय ही होते हैं ।

अहो ! चौरासी लाख योनियों में से एक-एक योनि में जीव अनन्त-अनन्त बार जन्म-मरण कर चुका है । अपने शुद्ध चिदानन्दमय भगवान को भूलकर पर को अपना माननेरूप मिथ्यात्व के कारण अनादिकाल से जीव महादु:खकारी भवभ्रमण कर रहा है ।

अरे भाई ! जो अपना नहीं है, उसे अपना मानना मिथ्यात्व है और उस मिथ्यात्व के फलस्वरूप ही तू अनादि से जन्म-मरणरूप संसार में भटक रहा है ।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी को तो ज्ञानमय परिणाम है । भगवान की भक्ति का जो परिणाम होता है या शास्त्र स्वाध्याय का, शास्त्र वाचने का या सुनने का जो विकल्प होता है, वह ज्ञानी का परिणाम नहीं है । प्रभु ! बात बहुत सूक्ष्म है । धर्मी के तो धर्म परिणाम ही होता है, वीतरागी शान्ति एवं अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द का परिणाम जो होता है, वह ज्ञानी का कार्य है तथा उसी परिणाम का ज्ञानी कर्त्ता है ।

शास्त्रों को लिखना, छपाना, उन्हें कम कीमत में घर-घर पहुँचाना आदि शुभ-कार्य सब जड़ की या पर की पर्यायें हैं । ये पर की पर्यायें तो जो जिस समय जिसरूप में जिससे होनी होती हैं, वे उसीसमय उसीरूप में उसी से होती हैं । ये पर के कार्य आत्मा नहीं करता; परन्तु ज्ञानी को तत्त्वप्रचार का और बाह्य प्रभावना का विकल्प आता है, उस विकल्प का भी वह कर्त्ता नहीं है; क्योंकि विकल्प – राग अज्ञानमय भाव है तथा ज्ञानी को तो ज्ञानमय भाव ही होता है ।

वस्तु का मूल सत्य-स्वरूप क्या है – इसकी लोगों को दरकार कहाँ है ? बस जो जिस सम्प्रदाय में जन्मा है, वह उसी सम्प्रदाय की बात को सच्चा मान बैठा है, परन्तु इसका फल बहुत दु:खरूप आयेगा, अत: यथार्थ निर्णय करना चाहिए ।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि धर्मी जीव पर की पर्याय का तो कर्त्ता है ही नहीं, परन्तु तत्सम्बन्धी राग का भी वह कर्त्ता नहीं है । भगवान आत्मा

सर्वज्ञस्वभावी वस्तु है, इसकारण वह सर्व को जाने – ऐसा उसका स्वरूप है, परन्तु वह सबको करे – ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। जिसे अपने सर्वज्ञ-स्वभावी शुद्धात्मा की दृष्टि हुई है – ऐसा धर्मीजीव स्व-परप्रकाशक ज्ञान की पर्याय का कर्त्ता है, परन्तु पर का और राग का कर्त्ता नहीं है, क्योंकि पर को व राग को करे – ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है।

परमाणु और आत्मा अनादि से जैसे ध्रुवस्वभावी हैं, उसीप्रकार उनमें परिणमन स्वभाव भी अनादि से है। वस्तु का परिणमनस्वभाव होने से ही उसमें अनादि से परिणमन हो रहा है। यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी का वर्तमान परिणमन (सम्यक्) ज्ञान और श्रद्धानरूप है और ज्ञानमय परिणमन है।

सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञानी को ऐसा निश्चय हुआ कि मैं अखण्ड एकरूप चिदानन्दघनस्वरूप ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा हूँ। अहाहा ....! त्रिकाली ध्रुव चैतन्य-स्वरूप के लक्ष्य से धर्मी को ज्ञानमय, श्रद्धामय, शान्तिमय, स्वच्छतामय, प्रभुतामय, वीतरागतामय परिणमन होता है। जैसा आत्मा स्वयं वीतरागीस्वरूप है, वैसा उसकी पर्याय में वीतरागता का परिणमन होता है और यही धर्मी का सच्चा परिणमन है।

प्रश्न :– क्या निश्चय सम्यग्दर्शन सराग सम्यग्दर्शन है ?

उत्तर :– नहीं, निश्चय सम्यग्दर्शन सराग नहीं है, शुद्ध आत्मा वीतरागस्वरूप या जिनस्वरूप ही है, इसकारण स्वरूप के लक्ष्य से या शुद्धात्मा के लक्ष्य से चौथे गुणस्थान में जो सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट होती है, वह भी वीतरागरूप ही होती है।

कहा है न कि: –

"घट - घट अन्तर जिन वसै, घट-घट अन्तर जैन।
मत-मदिरा के पान सौं, मतवाला समुझै न।।"

भगवान आत्मा जिनस्वरूप है। इसकारण उसके आश्रय से जो ज्ञान-श्रद्धान की पर्याय प्रगट होती है, वह भी जिनस्वरूप अर्थात् वीतरागरूप ही होती है। स्वरूप के श्रद्धानरूप चौथे गुणस्थान में जो सम्यग्दर्शन होता है, वह भी वीतरागी पर्याय है। 'सराग समकित' का जो कथन आता है, उसका तो यह अभिप्राय है कि रागसहित सम्यक्त्व अर्थात् चारित्र के

दोषरूप राग-परिणाम भी है, उसे बताने के लिए सम्यग्दर्शन को सराग-सम्यक्त्व कहा है, वस्तुतः सम्यग्दर्शन तो वीतरागी पर्याय ही है।

अरे भाई ! अनन्तकाल में यह दुर्लभ मनुष्यपर्याय मिली है। अधिक से अधिक आठ बार मनुष्यपर्याय मिलती है, बाद में नववें भव में या तो मोक्ष हो जाता है अन्यथा निगोद तो मुख्यालय है ही।

अरे भाई ! तुझे अपने हित की दरकार (चाह) नहीं है, अपनी दया भी नहीं है। सर्वज्ञ भगवान ने सब जीवों का जैसा सर्वज्ञस्वभाव अपने ज्ञान में देखा है, वैसा ही अपना सर्वज्ञस्वभाव सम्यग्दृष्टि के देखने-जानने में – प्रतीति में आता है, इससे सर्वज्ञ-वीतराग स्वभाव को देखनेवाली दृष्टि भी वीतरागी पर्याय होती है। ज्ञानी का ज्ञानमय परिणाम है, इसका अर्थ भी यही है कि ज्ञानी का वीतरागतामय परिणाम है। उसकी दृष्टि वीतरागी हुई है, ज्ञान वीतरागी हुआ है एवं आचरण भी वीतरागी हुआ है। ज्ञानी के सर्वभाव वीतरागी हैं, इसकारण ज्ञानी वीतरागभाव का ही कर्त्ता है और वीतरागभाव ही उसका कर्म है।

आजकल तो सब जगह धर्म के नाम पर बड़ी गड़बड़ी चलती है। व्यापारी वर्ग तो धंधा व्यापार में इतने उलझ गया है कि वस्तु को यथार्थ समझने की उन्हें फुरसत ही नहीं है। वे सत्य-असत्य की परीक्षा कब व कैसे करेंगे? बिचारों को इस बात की खबर ही नहीं है कि हम कमा-कमाकर करोड़पति हुए हैं, सो यह सब तो धूल-माटी है, अतः हम करोड़पति नहीं, धूलपति हैं।

आत्मा तो अनन्त-अनन्त गुणों का भण्डार है, भगवान है। ये सब गुण स्वभाव से वीतरागी हैं। अहो ! ज्ञानी का भाव ज्ञानमय ही है। ज्ञानी वीतराग भावों का कर्त्ता है, परन्तु जो व्यवहाररत्नत्रय का राग होता है, ज्ञानी उसका कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं। व्यवहार रत्नत्रय का जो राग होता है, उसे ज्ञानी मात्र जानता है, किन्तु यह राग ज्ञानी का कार्य नहीं है।

भाई ! यह कोई लौकिक वार्ता नहीं है। यह तो चैतन्य के नाथ भगवान आत्मा की कथा है। वीतराग-सर्वज्ञदेव अरहंत-परमात्मा की अकषाय करुणा से जो दिव्यध्वनि खिरी, उसकी यह बात है। उसे ही आचार्य – सन्तों ने जगत को जाहिर किया है। वे कहते हैं कि प्रभु तू !

वीतरागस्वभाव से रहनेवाला अनन्त-अनन्त निर्मल गुणों का एकरूप पिण्ड है। राग करने जैसा कोई गुण तुझ में अर्थात् तेरे स्वभाव में नहीं है। दया, दान, भक्ति, पूजा आदि राग को रचे – ऐसा कोई गुण तुझ में नहीं है। अहाहा ····! तू तो वह आत्मा है, जो जिनस्वरूप वीतरागरूप है, उसकी दृष्टि करने से जो वीतरागी पर्याय प्रगट होती है, वह ही तेरा कार्य है, और उसी का तू कर्त्ता है।

वीतरागस्वभावी आत्मा कर्त्ता और वीतरागी पर्याय उसका कार्य – ऐसा कहना व्यवहार है। वास्तव में तो वीतरागी पर्याय का कर्त्ता वीतरागी पर्याय स्वयं ही है।

भाई ! यह वीतराग का मार्ग बहुत गहन है। जिस वाणी को एक भवावतारी इन्द्र और गणधर भी कान देकर सुनते हैं, उस वाणी की गंभीरता की क्या बात करें ? धन्य है वह वाणी एवं धन्य वह श्रोता।

पहला सौधर्म स्वर्ग नामक देवलोक है। उसमें ३२ लाख विमान हैं। एक-एक विमान में करोड़ों अप्सरायें एवं असंख्य देव हैं। उन सबका स्वामी सौधर्म इन्द्र एक भव धारण करके मोक्ष जानेवाला है। इन्द्र व इन्द्राणी – दोनों क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं। वे ऐसा जानते हैं कि यह स्वर्ग का वैभव मेरी चीज नहीं है। जहाँ मैं हूँ, वहाँ ये वैभव नहीं है और जहाँ ये हैं वहाँ मैं नहीं हूँ। ये बत्तीस लाख विमान मेरे नहीं हैं। अरे ! और तो और, देव व गुरु भी मेरे नहीं हैं, क्योंकि ये सब परद्रव्य हैं। अहाहा····! मैं तो चैतन्य-स्वभावमय प्रभु हूँ और चैतन्य की प्रभुतारूप परिणमना मेरा कार्य है। देखो, ज्ञानी तो ज्ञानमय-भाव का कर्त्ता है।

धर्मी उसे कहते हैं, जिसका परिणाम धर्ममय हो, वीतरागमय हो। वीतरागी परिणाम धर्मी का कार्य है और ज्ञानी उस वीतरागी भाव का कर्त्ता है।

भाई ! जिसका महा पुण्योदय हो, उसे ही यह बात सुनने को मिलती है और यदि उस बात का अन्तर में परिणमन होकर ज्ञान जागृत हो जाय, तब तो कोई बात ही अलौकिक है, उसका तो कहना ही क्या है ?

ज्ञानी को जो चारित्र की कमजोरी के कारण राग आता है, ज्ञानी उसका ज्ञाता-दृष्टा रहकर स्वयं वीतराग भाव में रहता है, ऐसा ही वीतराग

का मार्ग है। इसके सिवाय अन्य सभी मार्ग उन्मार्ग हैं। अहाहा ···· ! जगत को राग की – संसार की होंस है, अर्थात् अज्ञानियों का उत्साह राग में, विकार में या पर में होता है, आता है; जब कि ज्ञानियों का उत्साह राग में व राग के कार्यों में किंचित् भी नहीं आता। ज्ञानी का उत्साह आत्मा में होता है, स्वरूप-सन्मुखता में होता है। आत्मा का स्वरूप तो वीतरागरूप है, इसलिए स्वरूपसन्मुख होने पर जो श्रद्धा-ज्ञान प्रगट हुआ, वह वीतरागी ही होता है। धर्मी को स्वरूप के लक्ष्य से जो आचरण प्रगट होता है, वह भी वीतरागी पर्याय है। इसप्रकार ज्ञानी के जो भाव हैं, वे ज्ञान-मय ही होते हैं; क्योंकि उन्हें सम्यक्प्रकार से स्व-पर के विवेक द्वारा पर से भिन्न निज आत्मा की प्रसिद्धि भली-भाँति हो चुकी है। ज्ञानी को सम्यक् प्रकार से अर्थात् स्वरूप के लक्ष्य से सच्चा विवेक प्रगट हो गया है। मात्र क्षयोपशमज्ञान के बल से धारणा हुई हो – ऐसा नहीं हुआ, बल्कि अन्तर में आत्मानुभूति हो गई है।

मैं सर्व परद्रव्यों से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वभावमय आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा हूँ। ऐसा स्व-पर की भिन्नता का सम्यक् प्रकार से विवेक प्रगट हो गया है। अहाहा ···· ! शरीर, मन, वाणी, कुटुम्ब आदि सब परद्रव्य हैं, यह बात तो ठीक, परन्तु ये दया, दान, भक्ति आदि के जो शुभभाव होते हैं, वे भी परद्रव्य हैं; इन सर्व से भिन्न मेरा चैतन्यस्वरूप कोई निराला ही तत्त्व है – इसप्रकार भिन्न आत्मा की ख्याति ज्ञानी के उदित हुई है। इस टीका का नाम भी आत्मख्याति है। धर्मी को आत्मख्याति – आत्मप्रसिद्धि प्रगट हुई है। इसकारण उसका जो भाव है, वह ज्ञानमय ही होता है।

अज्ञानी को समय-समय पर विकार की प्रसिद्धि होती है। सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मख्याति स्वयं के पुरुषार्थ से होती है, किसी के पास से कृपा या आशीर्वाद से नहीं मिलती। जब वह आत्मख्याति स्वयं द्वारा स्वरूपसन्मुखता के पुरुषार्थ से हो जाती है, तब गुरु की कृपा से प्रगट हुई – ऐसा निमित्त की मुख्यता से कहा जाता है।

भगवान त्रिलोकीनाथ समवशरण में विराजते हैं। उनकी जो दिव्य-ध्वनि खिरती है, वह इन्द्रिय है। भगवान की वाणी इन्द्रियों का विषय होने से इन्द्रिय है – यह बात ३१वीं गाथा में आ चुकी है। भाई ! इन इन्द्रियों के प्रति तेरा लक्ष्य जायेगा, तो राग की उत्पत्ति होगी।

अहाहा....! भगवान ऐसा कहते हैं कि हमारे प्रति या दिव्यध्वनि के प्रति तेरा लक्ष्य जायेगा, तो तुझे चैतन्य की गति न होने से दुर्गति अर्थात् राग होगा। निमित्त का लक्ष्य छोड़कर अन्तर स्वभाव में एकाग्र होने पर जो निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के परिणाम हुए हैं, वे ज्ञानी के कार्य हैं तथा ज्ञानी उनका कर्त्ता है।

ज्ञानी को देव-शास्त्र-गुरु सम्बन्धी राग आता है, परन्तु वह राग ज्ञानी का कार्य नहीं है। ज्ञानी तो उस राग का ज्ञाता मात्र है, कर्त्ता नहीं है।

धर्मी को भली प्रकार से भिन्न आत्मा का भान प्रगट हुआ है। मैं तो एक शुद्ध चैतन्य हूँ, आनन्द हूँ, शान्त हूँ, वीतराग हूँ, स्वच्छ हूँ – ऐसी आत्मख्याति उदित हुई है, इसकारण ज्ञानी के सर्वभाव ज्ञानमय ही हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय ही हैं, क्योंकि उसे सम्यक्प्रकार से स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है।

भगवान आत्मा राग से भिन्न है – यह विवेक अज्ञानी को नहीं है, इसकारण उसके भिन्न आत्मा की ख्याति अस्त ही है और इसीकारण अज्ञानी का भाव अज्ञानमय ही है। अज्ञानभाव का अर्थ रागमय, पुण्य-पाप-मय है। पर का कार्य तो अज्ञानी करता ही नहीं है, परन्तु कर्त्ता होकर अज्ञानी अज्ञानभाव – पुण्यपाप आदि शुभाशुभभाव – रागद्वेषमय भावों का कर्त्ता होता है और वे भाव अज्ञानी के कर्म (कार्य) हैं। पर का कर्त्ता तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी नहीं है। ज्ञानी ज्ञानमय भावों का कर्त्ता है और अज्ञानी अज्ञानमय भावों का अर्थात् राग-द्वेषादि भावों का कर्त्ता है।

इसप्रकार ज्ञानी व अज्ञानी के भावों में अत्यन्त भिन्नता है।

गाथा १२६ के भावार्थ पर प्रवचन

जिसको ऐसा भेदज्ञान हुआ कि 'राग और विकल्पों से मेरा त्रिकाली ध्रुव चैतन्यस्वभाव भिन्न है, उसे ज्ञानी कहते हैं।

ज्ञान और आनन्द आत्मा के स्वभाव हैं तथा पुण्य-पाप, दया-दान, व्रत-भक्ति के परिणाम राग हैं – विभाव हैं। जिसको इस स्वभाव-विभाव की भिन्नता का भान भलीप्रकार हुआ है, वह ज्ञानी है। वह ज्ञानी अपने ज्ञान, श्रद्धान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता जैसे निर्मल परिणामों का कर्त्ता है। उसके वे परिणाम ज्ञानमय अर्थात् वीतरागतामय हैं। उनमें राग

नहीं है। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि राग से भिन्न अपने शुद्धपरिणाम का कर्त्ता है।

प्रश्न :– ज्ञानी को यथापदवी राग तो आता है न ?

उत्तर :– हाँ, देव-गुरू-शास्त्र की भक्ति, पूजा, व्रत, दानादि का राग ज्ञानी को भी भूमिकानुसार आता है, परन्तु ज्ञानभाव से परिणमित ज्ञानी के ज्ञान परिणमन से वह राग भिन्न रह जाता है। 'अपना चैतन्यस्वरूप राग से भिन्न है' – ऐसा भेदज्ञान प्रगट हो जाने से ज्ञानी को जो शुभाशुभ राग आता है, वह उसका ज्ञाता रहता है, कर्त्ता नहीं बनता। ज्ञानी को राग की रूचि एवं उसका स्वामित्व नहीं है। राग के स्वामीपने से नहीं परिणमता ज्ञानी मात्र अपने शुद्ध परिणाम का ही कर्त्ता होता है। ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होते हैं, राग ज्ञानी का कर्तव्य (कार्य) नहीं है।

धर्मी उसे कहते हैं जिसे अपने निर्मल ज्ञान व आनन्द के ध्रुवधाम चिदानन्दस्वरूप आत्मा का ध्यान प्रगट हुआ है। अहाहा....! अपना शुद्ध चैतन्य ध्रुवधाम जिसकी दृष्टि में आया, अनुभूति में आया वह ज्ञानी है। ऐसे ज्ञानी का ज्ञान दया-दानादि के विकल्पों से भिन्न पड़ गया है, इसकारण ज्ञानी का परिणाम ज्ञानमय ही है तथा उसी ज्ञानमय परिणाम का ज्ञानी कर्त्ता है।

"भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन अनन्तगुणमय पवित्रधाम प्रभु स्वयं 'स्व' है और जो दया-दान, भक्ति आदि के विकल्प उठे, वे 'पर' हैं।" अज्ञानी को ऐसा निर्मल भेदज्ञान नहीं होता। स्वपर का भेदज्ञान नहीं होने से वह अज्ञानमय भावों का कर्त्ता होता है, अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के जो विकल्प उठते हैं, उनका वह कर्त्ता होता है।

इस प्रकार गाथा १२६ पूर्ण हुई।

समयसार गाथा १२७

किं ज्ञानमयभावात्किमज्ञानमयाद्भवतीत्याह –

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि ।।१२७।।

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि ।
ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ।।१२७।।

अज्ञानिनो हि सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्मादज्ञानमय एव भावः स्यात्, तस्मिंस्तु सति स्वपरयोरेकत्वाध्यासेन ज्ञानमात्रात्स्वस्मात्प्रभ्रष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां सममेकीभूय प्रवर्तिताहंकारः स्वयं किलैषोऽहं रज्ये रुष्यामीति रज्यते रुष्यति च,

---

अब यह कहते हैं कि ज्ञानमय भाव से क्या होता है और अज्ञानमय भाव से क्या होता है :–

अज्ञानमय अज्ञानि का, जिससे करे वो कर्म को।
पर ज्ञानमय है ज्ञानि का, जिससे करे नहिं कर्म वो ।।१२७।।

गाथार्थ :–[अज्ञानिनः] अज्ञानी के [अज्ञानमयः] अज्ञानमय [भावः] भाव है [तेन] इसलिये वह [कर्माणि] कर्मों को [करोति] करता है [ज्ञानिनः तु] और ज्ञानी के तो [ज्ञानमयः] ज्ञानमय (भाव) है [तस्मात् तु] इसलिये ज्ञानी [कर्माणि] कर्मों [न करोति] नहीं करता।

टीका :– अज्ञानी के सम्यक्प्रकार से स्वपर का विवेक न होने के कारण भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गई होने से अज्ञानमय भाव ही होता है और उसके होने से, स्वपर के एकत्व के अध्यास के कारण ज्ञानमात्र ऐसे निज में से (आत्मस्वरूप) भ्रष्ट हुआ, पर ऐसे रागद्वेष के साथ एक होकर जिसके अहंकार प्रवर्त्त रहा है, ऐसा स्वयं 'यह मैं वास्तव में रागी

तस्मादज्ञानमयभावादज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानं कुर्वन् करोति कर्माणि। ज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्माद् ज्ञानमय एव भावः स्यात्, तस्मिंस्तु सति स्वपरयोर्नानात्वविज्ञानेन ज्ञानमात्रे स्वस्मिन्सुनिविष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां पृथग्भूततया स्वरसत एव निवृत्ताहंकारः स्वयं किल केवलं जानात्येव न रज्यते न च रुष्यति, तस्माद् ज्ञानमयभावात् ज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानमकुर्वन्न करोति कर्माणि।

हूँ, द्वेषी हूँ, (अर्थात् यह मैं राग करता हूँ, द्वेष करता हूँ)' इसप्रकार (मानता हुआ) रागी और द्वेषी होता है, इसलिये अज्ञानमय भाव के कारण अज्ञानी अपने को पर ऐसे रागद्वेषरूप करता हुआ, कर्मों को करता है।

ज्ञानी के तो सम्यक्प्रकार से स्वपर विवेक के द्वारा भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई होने से ज्ञानमय भाव ही होता है और ऐसा होने पर, स्वपर के भिन्नत्व के विज्ञान के कारण ज्ञानमात्र ऐसे निज में सुनिविष्ट (सम्यक् प्रकार से स्थित) हुआ, पर ऐसे रागद्वेष से भिन्नत्व के कारण निजरस से ही जिसका अहंकार निवृत्त हुआ है ऐसा स्वयं वास्तव में मात्र जानता ही है, रागी और द्वेषी नहीं होता (अर्थात् रागद्वेष नहीं करता) इसलिये ज्ञानमय भाव के कारण ज्ञानी अपने को पर ऐसे रागद्वेषरूप न करता हुआ कर्मों को नहीं करता।

भावार्थ :– इस आत्मा के क्रोधादिक मोहनीय कर्म की प्रकृति का (अर्थात् रागद्वेष का) उदय आने पर, अपने उपयोग में उसका रागद्वेषरूप मलिन स्वाद आता है। अज्ञानी के स्वपर का भेदज्ञान न होने से वह यह मानता है कि "यह रागद्वेषरूप मलिन उपयोग ही मेरा स्वरूप है वही मैं हूँ।" इसप्रकार रागद्वेष में अहंबुद्धि करता हुआ अज्ञानी अपने को रागीद्वेषी करता है; इसलिये वह कर्मो को करता है। इसप्रकार अज्ञानमय भाव से कर्मबन्ध होता है।

ज्ञानी के भेदज्ञान होने से वह ऐसा जानता है कि "ज्ञानमात्र शुद्ध उपयोग है, वही मेरा स्वरूप है, वही मैं हूँ; रागद्वेष कर्मो का रस है, वह मेरा स्वरूप नहीं है।" इसप्रकार रागद्वेष में अहंबुद्धि न करता हुआ, ज्ञानी अपने को रागी-द्वेषी नहीं करता, केवल ज्ञाता ही रहता है; इसलिये वह कर्मो को नहीं करता। इसप्रकार ज्ञानमय भाव से कर्मबन्ध नहीं होता।

(आर्या)

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ।।६६।।

अब आगे की गाथा के अर्थ का सूचक काव्य कहते हैं :-

श्लोकार्थ :- [**ज्ञानिनः कुतः ज्ञानमयः एव भावः भवेत्**] यहाँ प्रश्न यह है कि ज्ञानी को ज्ञानमय भाव ही क्यों होता है [**पुनः**] और [**अन्यः न**] अन्य (अज्ञानमय भाव) क्यों नहीं होता ? [**अज्ञानिनः कुतः सर्वः अयम् अज्ञानमयः**] तथा अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय ही क्यों होते हैं तथा [**अन्यः न**] अन्य (ज्ञानमय भाव) क्यों नहीं होते ?

गाथा १२७ की उत्थानिका, गाथा, टीका एवं कलश ६६ पर प्रवचन

अब यहाँ यह कहते हैं कि ज्ञानमय भावों से क्या होता है एवं अज्ञानमय भावों से क्या होता है ?

बात बहुत सूक्ष्म है, तथापि समझने जैसी है। अनादि काल से अबतक इस जीव ने निर्मल भेदविज्ञान का अभ्यास नहीं किया और भेदविज्ञान के बिना सिद्धि सम्भव नहीं है। अतः सुखी होना हो, तो भेदविज्ञान करना ही होगा।

अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में भी यही कहा है :-

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।।

अर्थात् जितने भी जीव आज तक सिद्ध हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो आज तक संसार में रुल रहे हैं, वे सब एक मात्र भेदविज्ञान के अभाव से ही रुल रहे हैं। भाई ! चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा राग से भिन्न है – ऐसे भेदविज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है। स्वयं शुद्ध ज्ञायक भावरूप चिदानन्दमय आत्मा और मलिन दुःखरूप रागादि विभाव – इन दोनों की एकता बुद्धि से ही अज्ञानी बँधे हैं और चार गतिरूप संसार में भटक रहे हैं।

अज्ञानी को सम्यक्प्रकार से स्व-पर का विवेक नहीं है। नवतत्त्वों में निज आत्मतत्त्व भिन्न है और पुण्य, पाप, आस्रव, बंध तत्त्व भिन्न हैं। दया-

दान-व्रत-भक्ति के भाव बंध तत्त्व है और भगवान आत्मा शुद्धज्ञायक अबन्ध-तत्त्व है। दोनों भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु अज्ञानी को स्व-पर का, स्वभाव-विभाव का सम्यक्प्रकार से विवेक नहीं है, इसकारण दोनों में एकत्व स्थापित करता है।

प्रश्न :– सम्यक्प्रकार से ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर :– नवतत्त्वों को सुनकर या पढ़कर आत्मा राग से भिन्न है – ऐसा स्मृति और धारणा में तो अनेक वार लिया है, ग्यारह अंग तक पढ़ लिया। क्षयोपशमज्ञानरूप धारणा में तो आया कि आत्मा राग से भिन्न है। राग पुण्यतत्त्व है, बंधतत्त्व है और आत्मा इनसे भिन्न ज्ञायक तत्त्व है, परन्तु सम्यक्रूप से भेदज्ञान प्रगट नहीं किया, इसकारण आत्मानुभूति प्रगट नहीं हुई।

जैनदर्शन के सिवा यह बात दुनिया में अन्यत्र कहीं भी नहीं है, इसकारण अज्ञानी को भलीप्रकार स्वतत्त्व की भिन्नता का उपदेश ही नहीं मिला। कदाचित् मिला भी, तो इसने भलीप्रकार से स्वपर की भिन्नता का ज्ञान नहीं किया। भाई ! राग की क्रिया व स्वभाव की क्रिया – दोनों भिन्न-भिन्न हैं। शुद्धचैतन्य के लक्ष्य से राग से भिन्न होकर स्वपर का भेद-ज्ञान नहीं किया। स्वभाव-विभाव की भिन्नता का भान नहीं होने से स्वपर के विवेक के अभाव के कारण मिथ्यादृष्टि को अनादिकाल से आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गई है; शुद्ध चैतन्य आत्मा की प्रसिद्धि अत्यन्त ढक गई है अर्थात् अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मोहभाव के कारण अन्धा हो गया है।

देखो यह बहुत ही सारभूत बात है, देवाधिदेव जिनेश्वरदेव की वाणी है, और कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा हमें प्राप्त हो गई हैं। वे कहते हैं – "भगवान आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड साक्षात् परमात्मस्वरूप है, उसे भूलकर राग में अहंबुद्धि – एकताबुद्धि करने से अज्ञानी जीव को आत्मा की प्रसिद्धि अत्यन्त अस्त हो गई है। राग, पुण्य व पाप की रुचि – प्रसिद्धि होने से आत्मा की प्रसिद्धि करने का पुरुषार्थ अत्यन्त गौण हो गया है। वह राग अर्थात् पुण्य व पाप को देखता है, परन्तु अपने चैतन्यसूर्य को नहीं देखता। पुण्य के फल में पाँच-पच्चीस करोड़ की धूल जो मिल जाती है, अज्ञानी उसमें ही अटक जाता है, उसे ही देखता है, अपने शुद्ध ज्ञायक को नहीं देखता, इसकारण उसे रागादिरूप अज्ञानमय भाव ही होता है। रागादिभाव अज्ञानमय भाव है, क्योंकि उसमें आत्मा का ज्ञान और आनन्द नहीं है। चाहे वह भगवान की भक्ति का एवं शास्त्र श्रवण का ही क्यों न

हो. राग तो राग ही है और रागभाव तो अज्ञानमय भाव ही होता है; क्योंकि उसमें चैतन्य का प्रकाश नहीं है, ज्ञान की किरण नहीं है, ज्ञान का अंश नहीं है। अहो ! आचार्यदेव ने अद्भुत एवं अलौकिक वात कही है। परन्तु भाई ! भाग्यवानों को ही यह वात जँचती है, रुचती है। जिसे संसार का अन्त करना हो, उसके लिए ही यह वात अच्छी लगती है।

आचार्यदेव कहते हैं कि भगवान आत्मा पुण्य-पाप के भाव से भिन्न है। अज्ञानी को भिन्नता का भाव नहीं है, अनुभव नहीं है, इसकारण अंतरंग में आत्मा प्रगट प्रसिद्ध होते हुए भी वर्तमान पर्याय में उसकी प्रगट प्रसिद्धि नहीं है, उसमें इस समय केवल राग की ही प्रगट प्रसिद्धि है। अज्ञानी को पुण्य-पाप के भाव की ही प्रसिद्धि है, इसलिए उसको अज्ञान-मय भाव ही होता है।

महामुनि भावलिंगी दिगम्बर संत कुन्दकुन्दाचार्यदेव स्वानुभव की, अतीन्द्रिय आनन्द की मस्ती में झूल रहे थे। वे कहते हैं कि ज्ञानी को जो राग आता है, उसे वे अपने ज्ञानस्वरूप में रहकर, पररूप से जानते हैं, राग मेरा है – ऐसा नहीं मानते। अपनी वस्तु में और अपनी निर्मल परिणति में ज्ञानी राग को मिलाते नहीं हैं। इसकारण उन्हें ज्ञानमय भाव ही होता है। अज्ञानी पुण्य-पाप के भाव मेरे हैं – ऐसा मानते हैं। इसकारण उनके भेदज्ञान का अभाव होने से उनको आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती, वल्कि रागादिभाव की ही प्रसिद्धि रहती है। इसलिए अज्ञानी को अज्ञानमय भाव ही होता है। अज्ञानमय भाव का अर्थ अकेला मिथ्यात्व नहीं है। रागादि-भाव में चैतन्य का – ज्ञान का अंश नहीं है, इससे पुण्य-पापमय रागादिभाव को भी अज्ञानमय भाव कहा जाता है।

अव कहते हैं कि अज्ञानी अज्ञानमयभाव के कारण स्व-पर की एकता के अध्यास से अपने ज्ञानमात्र निजस्वरूप से भ्रष्ट हुआ है। आत्मा स्वयं तो ज्ञान व आनन्दस्वरूप है तथा अज्ञान और राग आकुलतारूप होने से दुःख स्वरूप है। अज्ञानी को इन दोनों की एकता का अध्यास है। उसे दोनों की एकता की टेव पड़ गई है। उसने अनादि से स्व-पर की एकता की वात ही सुनी है, उसी का उसे परिचय है और उसी का अनुभव है। वह अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप से भ्रष्ट हो गया है।

देखो, यह किसी के घर की वात नहीं है, यह तो भगवान की कही हुई वात है, जिसे भगवान कुन्दकुन्दाचार्य व अमृतचन्द्राचार्यदेव ने जगतजन के हितार्थ सवके समक्ष जाहिर कर दिया है।

भगवान-आत्मा जानने-देखने के स्वभावरूप ज्ञाता-दृष्टा प्रभु है। अहाहा....! वह अनादि सामान्य ज्ञानस्वभाव, अनादि सामान्य दर्शनस्वभाव, अनादि सामान्य आनन्दस्वभाव, और अनादि सामान्य पुरुषार्थस्वभाव आदि अनादि सामान्य-अनन्तगुणस्वभावमय वस्तु है तथा रागादिभाव इससे भिन्न हैं; परन्तु स्व-पर के एकत्व के अध्यास के कारण अज्ञानी अपने इस अनन्त गुणमय सामान्य स्वभाव से भ्रष्ट है।

अज्ञानी को ऐसी मिथ्या श्रद्धा है कि दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा करने से आत्मा का कल्याण हो जायेगा और जगत में अधिकांश इसी तरह का विपरीत उपदेश भी मिल जाता है। परन्तु भाई! राग से धर्म होता है – यह कथन वीतरागता का या जैनपरमेश्वर का नहीं है। यह तो रागियों का या अज्ञानियों का उपदेश है। आत्मा तो जिनस्वरूप वीतरागस्वरूप है, वह राग से भिन्न है। अज्ञानी को अपने वीतरागस्वभाव व राग की एकता का अध्यास हो गया है। इसप्रकार भिन्न पदार्थ में एकत्व के अध्यास के कारण ज्ञानमात्र निजस्वरूप से वह भ्रष्ट हो गया है। अज्ञानी आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द व शान्ति से भ्रष्ट हो गया है।

अब कहते हैं कि अज्ञानी जीव पररूप राग के साथ एकत्व स्थापित करके अहंकाररूप प्रवर्तन करता है। 'मैं वस्तुतः रागी हूँ' – ऐसा मानता हुआ स्वयं रागी व द्वेषी हो जाता है। इसप्रकार अज्ञानमय भाव के कारण स्वयं को पर – रागद्वेषरूप करता हुआ कर्मों को करता है।

अहाहा! मैं रागी हूँ, राग का कर्त्ता हूँ – इसतरह इसको राग में 'अहं' आ गया है। मैं राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप हूँ – ऐसा भेदज्ञान नहीं है। भाई! सूक्ष्म बात है। और तो सब कुछ किया है, परन्तु अनन्त काल में एक मात्र यह भेदज्ञान नहीं किया, इसकारण दुःखी हो रहा है।

दौलतराम जी ने छहढाला में कहा है :–

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।।

अर्थात् मुनिव्रत धारण करके महाव्रतों का पालन किया, अट्ठाइस मूलगुण पालन किये, नग्न दिगम्बर हुआ, परन्तु ये सब तो राग की क्रियायें हैं। इन सब से पृथक् आत्मा की पहिचान करके अन्तर में सम्यक् पुरुषार्थ नहीं किया, तो काललब्धि क्या करे? काललब्धि भी तो पुरुषार्थ

होने पर ही पकती है। भाई ! क्रमबद्ध में तो अकर्त्तापन का अनंत पुरुषार्थ है। काललब्धि अर्थात् जिस समय जो कार्य होना हो वही होता है, परन्तु इसका निर्णय करनेवाले को ज्ञाता-दृष्टारूप रहने का सम्यक् पुरुषार्थ होता है। ऐसा होने पर उसका क्रमबद्धपरिणमन भी निर्मल दशारूप ही होता है।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में आया है कि समय-समय में होनेवाली पर्याय क्रमबद्ध होती हैं; परन्तु क्रमबद्ध का यथार्थ निर्णय उसे ही होता है, जिसको अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का भान हुआ है, उसी की परिणमन धारा भी क्रमबद्ध सम्यक् है।

अज्ञानी को क्रमबद्ध का निर्णय ही कहाँ है ? उसका तो राग-द्वेष के साथ एकत्व होकर राग में अहंपना प्रवर्तता है। अज्ञानी अपने को रागी-द्वेषी मानता है। दया, दान, पूजा आदि राग का कर्त्ता भी स्वयं को मानता है। 'मैं त्रिकाली निर्मलानन्द प्रभु हूँ' – ऐसा न जानता हुआ तथा अपने को रागी-द्वेषी मानता हुआ, वह राग-द्वेष का कर्त्ता होता है। वह जानता है कि मैं आत्मा हूँ ही नहीं, मैं तो रागी-द्वेषी हूँ – ऐसा अनुभव करता हुआ, पर में अहंकार करता हुआ प्रवर्तन करता है।

इस अज्ञानमय भाव के कारण स्वयं को पर – राग-द्वेषरूप करता हुआ, वह अज्ञानी कर्मों का कर्त्ता होता है, राग-द्वेषमय भावों का कर्त्ता होता है। यहाँ कर्म का अर्थ जड़कर्म नहीं है, बल्कि यहाँ कर्मों का अर्थ शुभाशुभभावरूप राग-द्वेष परिणाम है। इन रागादि को करता हुआ, अज्ञानी इनका कर्त्ता होता है। यहाँ थोड़े में ही बहुत गंभीर भाव भर दिया है।

अब धर्मी जीव कैसे होते हैं, उनकी बात करते हैं। धर्मी को स्व-पर के विवेक द्वारा आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा एवं दुःखरूप राग-द्वेष भाव – इन दोनों की भिन्नता का भलीप्रकार भान हो गया है। भलीप्रकार अर्थात् स्व-पर के लक्ष्य से यथार्थरूप से भेदज्ञान प्रगट हो गया है। अहाहा ···· ! ज्ञानी को सम्यक्प्रकार से स्व-पर का भेदज्ञान प्रगट होने पर भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदय को प्राप्त हो गई है। मैं तो आनन्द हूँ, शान्त हूँ, वीतरागस्वभाव हूँ, अकषायस्वरूप हूँ – ऐसी ज्ञानी को राग से भिन्न आत्मा की प्रसिद्धि हो गई है। भाषा बहुत संक्षिप्त है, परन्तु भाव खूब गहन भर दिया है।

आत्मा की ख्याति उदित होने से ज्ञानी को ज्ञानमय भाव ही होता है। धर्मी को ज्ञानमय – आत्मामय – वीतरागमय भाव ही होता है। अहाहा ···· ! शुद्ध चैतन्यस्वरूप वीतरागस्वभावी आत्मा की जिसे दृष्टि हुई है, उस ज्ञानी को ज्ञानमय भाव ही होता है।

अब कहते हैं कि स्व-पर के भेदज्ञान के कारण ज्ञानी अपने चैतन्य स्वभाव में स्थित है। वह राग में स्थित नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि पुण्य-पाप के भाव पर हैं, मुझ से भिन्न हैं। जब धर्मी जीव अपने चिदानन्द रस में, शान्त रस में स्थित होने से 'राग मेरा है' – ऐसे अहंकार से भी निवृत्त हो गया है, छूट गया है, तो फिर स्त्री, पुत्र, मकान, धन धान्यादि के ममत्व का तो प्रश्न ही कहाँ रहा ? यहाँ तो यह कह रहे हैं कि ज्ञानी को दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभ भावों का भी अहंकार-ममकार नहीं होता। उसे अपने शुद्ध चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा में अहं स्थापित होने से राग मेरा है – ऐसा अहंकार छूट गया है।

भले ही ज्ञानी के वर्तमान जीवन में राग की प्रवृत्ति न छूटी हो, तथापि श्रद्धा में से राग का अहंकार छूट जाता है। दैनिक व्यवहार में राग की प्रवृत्ति का परिणाम ज्ञानी को भी होता है; परन्तु यह व्यवहार का राग मेरा है – ऐसा अहंकार ज्ञानी को नहीं है। पर और पर्याय से से ज्ञानी का अनुराग छूट गया है, टूट गया है – यह वस्तुस्थिति है।

कतिपय जगज्जनों को ऐसा लगता है कि हम व्यवहार का लोप करते हैं, परन्तु भाई ! यही वात परमसत्य है। यदि कोई व्यवहार धर्म की – शुभराग की क्रियाओं को अपनी (आत्मा की) क्रिया माने, तो उसकी यह मान्यता महामिथ्यात्व है, अज्ञान है। शरीर मेरा है या शरीर की क्रिया मेरी है – ऐसा मानना तो मिथ्यात्व है ही, पर दया, दान व्रत, भक्ति, पूजा आदि शुभराग की क्रिया मेरी है, इसे मैं करता हूँ, ये मेरा कार्य है – यह मानना भी मिथ्यात्व है।

प्रश्न :– अनासक्ति भाव से कर्म करने में तो कोई दोष नहीं है न ?

उत्तर :– अरे भाई ! एक ज्ञायकता के सिवाय अन्य कर्म करने का अभिप्राय ही आसक्तपना और मिथ्यात्व भाव है। कर्म करना और अनासक्त भाव से करना – यह मान्यता ही विपरीत है। कर्म के कर्तृत्व के अभिप्राय के साथ अनासक्तता का भाव संभव ही नहीं है।

ज्ञानी को अस्थिरता के कारण राग विद्यमान है, परन्तु उस राग के प्रति एकत्व व ममत्व परिणाम नहीं है। 'यह राग मेरा है' – ऐसे अहंकार

व ममकार की निवृत्ति हो गई है। ज्ञानी ऐसा नहीं मानता कि राग मेरा कर्त्तव्य है। ज्ञानी को राग का स्वामित्व छूट गया है। वह तो ऐसा मानता है कि मैं तो शुद्ध चैतन्यमय आनन्द प्रभु हूँ, ऐसे चैतन्यमय स्वरूप के लक्ष्य से जो वीतरागी पर्याय प्रगट होती है, वह मेरा कर्त्तव्य है। ऐसे ज्ञान व श्रद्धान के कारण ज्ञानी राग से सर्वथा भिन्न हो गया है। जो बाहर से छह खण्ड के राज्य को साधते देखा जाता है, वह वस्तुतः अन्तरंग में अपने अखण्ड स्वभाव को ही साधता है। अभिप्राय में उसे राग का एकत्व छूट गया है। जो रागादिभाव होते हैं, ज्ञानी उन्हें केवल जानता ही है, उनका कर्त्ता नहीं होता। भाई! बात बहुत सूक्ष्म है, परन्तु समझ में न आ सके ऐसी नहीं है, चित्त को एकाग्र करके सुनें, समझें तो अवश्य ही समझ में आयेगी।

इस मनुष्य पर्याय का एक-एक समय (क्षण) कोस्तुभ मणि से भी अधिक कीमती है और यह भेदज्ञान की बात तो उससे भी अधिक मूल्यवान एवं दुर्लभ है। यदि इस अवसर में भेदज्ञान प्रगट नहीं हुआ, तो जन्म-मरण करते-करते मिथ्या श्रद्धान के फलस्वरूप निगोद में चला जायेगा। फिर अनन्त काल तक त्रस पर्याय भी नहीं मिलेगी। इस मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, जिनवाणी का श्रवण, एवं इसके योग्य ऐसा क्षयोपशमज्ञान, कषाय की मन्दता आदि की तो बात ही क्या कहें? भाई! यह श्रद्धान करें कि शुभराग से धर्म मानना मिथ्या श्रद्धान है, और ऐसे मिथ्याश्रद्धान का अंतिम फल निगोद है।

यहाँ कहते हैं कि शुद्ध चैतन्यस्वरूप के लक्ष्य से जिसे भेदज्ञान प्रगट हुआ है, वह ज्ञानी राग-द्वेष का कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी चैतन्यमय, आनन्दमय और वीतरागतामय भाव के कारण स्वयं को पररूप या राग-द्वेषरूप नहीं करता हुआ, राग-द्वेषादि कार्य का कर्त्ता नहीं होता। यहाँ कर्म का अर्थ जड़कर्म नहीं है, क्योंकि यहाँ जड़कर्मों की बात ही नहीं है। जड़कर्मों का कर्त्ता तो अज्ञानी भी नहीं है। जड़कर्म की पर्याय तो स्वतंत्ररूप से जड़ से ही होती है। यहाँ तो यह कहना है कि ज्ञानी राग-द्वेषरूप भावकर्मों का भी कर्त्ता नहीं है, मात्र उनका ज्ञाता-दृष्टा ही है। ज्ञानी अभिप्राय में राग का कर्त्ता नहीं है, अज्ञानी अभिप्राय के राग का कर्त्ता होकर मिथ्यात्व भाव से परिणमन करता है। जो राग का कर्त्ता न होकर केवल उनका ज्ञाता-दृष्टा रहकर राग को केवल जानता ही है, उसे ही धर्मी तथा ज्ञानी कहते हैं।

गाथा १२७ के भावार्थ पर प्रवचन

क्रोध व मान ये द्वेष के भेद हैं, माया व लोभ ये राग के भेद हैं। इन सब को सामान्य शब्द से मोह कहा जाता है। मोहकर्म की प्रकृति का उदय आने पर अपने उपयोग में उसका राग-द्वेषरूप मलिन स्वाद आता है। जिस अनुपात में उदय आता है, उसी अनुपात में राग होवे – ऐसा नियम नहीं है। यहाँ तो यह सिद्ध किया है कि उदय के काल में राग-द्वेष होता है। राग-द्वेष तो स्वतन्त्रपने अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही होता है, कर्म के उदयानुसार नहीं। यदि कर्मोदय के अनुसार राग-द्वेष होवे, तो कभी भी मुक्ति का प्रसंग प्राप्त नहीं हो सकेगा। जो राग-द्वेष होते हैं, उनका स्वाद मलिन है।

अज्ञानी को भेदज्ञान नहीं है, उसे राग-द्वेष एवं अपने उपयोग की भिन्नता का ज्ञान नहीं है; इस कारण वह राग-द्वेष व उपयोग को एक करके ऐसा मानता है कि यह राग-द्वेष रूप जो मलिन उपयोग है, वही मैं हूँ। इसप्रकार राग-द्वेष में अहंबुद्धि करता हुआ, अज्ञानी अपने को रागी-द्वेषी करता है; इसकारण वह कर्मों का कर्त्ता होता है। इस-प्रकार अज्ञानमय भाव से कर्मबन्ध होता है।

जो राग-द्वेष होता है, वह तो उसकी स्वयं की अपनी योग्यता से होता है। वह राग-द्वेष मेरा भाव नहीं है – ऐसा ज्ञानी जानता है।

ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) को स्वपर का भेदज्ञान वर्तता है, परन्तु उसकी दृष्टि एक शुद्ध ज्ञायक पर ही है। वह जानता है कि मैं एक शुद्ध ज्ञायक चैतन्य – उपयोगमय हूँ, इस कारण उसे जो राग आता है, उसका वह ज्ञाता रहता है, कर्त्ता नहीं होता। धर्मी जानते हैं कि ज्ञानमात्र शुद्ध उपयोग ही मेरा स्वरूप है। राग-द्वेष का भाव तो कर्म का रस (फल) है, पुद्गल का विपाक है। राग-द्वेष मेरा स्वरूप नहीं है – इसप्रकार राग-द्वेष में एकत्व स्थापित न करता हुआ, ज्ञानी स्वयं को रागी-द्वेषी नहीं करता, केवल उनका ज्ञाता ही रहता है। इसीकारण वह कर्मों का भी कर्त्ता नहीं बनता। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानमयभावों से कर्मबन्ध नहीं होता

समयसार गाथा १२८-१२९ एवं कलश ६७

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ।। १२८ ।।

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अण्णाणिस्स ।। १२९ ।।

ज्ञानमयाद्भावाद् ज्ञानमयश्चैव जायते भावः ।
यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ।। १२८ ।।

अज्ञानमयाद्भावादज्ञानश्चैव जायते भावः ।
यस्मात्तस्माद्भावा अज्ञानमया अज्ञानिनः ।। १२९ ।।

इसी प्रश्न के उत्तररूप गाथा कहते हैं :–

ज्यों ज्ञानमय को भाव से ज्ञानभाव हि उपजते ।
यों नियत ज्ञानी जीव के सब भाव ज्ञानमयी बनें ।। १२८ ।।

अज्ञानमय को भाव से, अज्ञानभाव हि ऊपजे ।
इस हेतु से अज्ञानि के, अज्ञानमय भाव हि बने ।। १२९ ।।

गाथार्थ : – [यस्मात्] क्योंकि [ज्ञानमयात् भावात् च] ज्ञानमय भाव में से [ज्ञानमयः एव] ज्ञानमय ही [भावः] भाव [जायते] उत्पन्न होता है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानिनः] ज्ञानियों के [सर्वे भावाः] समस्त भाव [खलु] वास्तव में [ज्ञानमयाः] ज्ञानमय ही होते हैं [च] और [यस्मात्] क्योंकि [अज्ञानमयात् भावात्] अज्ञानमय भाव में से [अज्ञानः एव] अज्ञानमय ही [भावः] भाव [जायते] उत्पन्न होता है [तस्मात्] इसलिये [अज्ञानिनः] अज्ञानियों के [भावाः] भाव [अज्ञानमयाः] अज्ञानमय ही होते हैं ।

यतो ह्यज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोप्यज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानोऽज्ञानमय एव स्यात्, ततः सर्वं एवाज्ञानमया अज्ञानिनो भावाः। यतश्च ज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोऽपि ज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानो ज्ञानमय एव स्यात्, ततः सर्वे एव ज्ञानमया ज्ञानिनो भावाः।

(अनुष्टुभ्)

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥ ६७ ॥

टीका :– वास्तव में अज्ञानमय भाव में से जो कोई भी भाव होता है, वह सब ही अज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ, अज्ञानमय ही होता है, इसलिये अज्ञानियों के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं और ज्ञानमय भाव में से जो कोई भी भाव होता है, वह सब ही ज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ, ज्ञानमय ही होता है, इसलिये ज्ञानियों के सब ही भाव ज्ञानमय होते हैं।

भावार्थ :– ज्ञानी का परिणमन अज्ञानी के परिणमन से भिन्न ही प्रकार का है। अज्ञानी का परिणमन अज्ञानमय और ज्ञानी का ज्ञानमय है; इसलिये अज्ञानी के क्रोध, मान, व्रत, तप इत्यादि समस्त भाव अज्ञानजाति का उल्लंघन न करने से अज्ञानमय ही हैं और ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानजातिका उल्लंघन न करने से ज्ञानमय ही हैं।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [सर्वे भावाः] समस्त भाव [ज्ञान निर्वृत्ताः हि] ज्ञान से रचित [भवन्ति] होते हैं [तु] और अज्ञानी के [सर्वे अपि ते] समस्त भाव [अज्ञाननिर्वृत्ताः] अज्ञान से रचित [भवन्ति] होते हैं।

गाथा १२८–१२९, उसकी उत्थानिका, टीका एवं कलश ६७ पर प्रवचन

अज्ञानी को शुभाशुभ भावों में एकत्व बुद्धि है, इसकारण उसके व्रत, तपादि के भाव भी अज्ञानमय ही हैं, जबकि ज्ञानी को राग से भिन्न

निर्मलानंदस्वरूप अपने चैतन्यमय भगवान आत्मा का भान हो गया है। अतः उसे जो रागादिभाव होते हैं, उन्हें वह मात्र जानता ही है, उनका कर्त्ता नहीं बनता। ज्ञानी उस राग संबंधी ज्ञान का कर्त्ता तो है, परन्तु उस रागभाव का कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी के सभी भाव ज्ञान की जाति का उल्लंघन नहीं करते, अतः उसके सभी भाव ज्ञानमय ही हैं; परन्तु अज्ञानी जो व्रत, तपादि के भाव करता है, वह उन भावों का उल्लंघन नहीं कर पाने से उसके सभी भाव अज्ञानमय होते हैं। 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' अर्थात् अज्ञानी की दृष्टि राग पर है, इसकारण उसके रागमय परिणाम की सृष्टि होती है। धर्मीजीव की राग से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि है, अतः उसके ज्ञानमय परिणाम की सृष्टि होती है।

अज्ञानी को व्रत, तप, संयम, उपवास, ब्रह्मचर्य आदि के जो भाव होते हैं, वे रागमय हैं, क्योंकि उसे उन में एकत्वबुद्धि है। इसकारण अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय हैं। इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के परिणमन में जमीन-आसमान का अन्तर है।

धर्मी उसे कहते हैं, जिसको विकल्प से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान व अनुभव हुआ है। मैं राग से भिन्न शुद्ध चिदानन्दघनस्वरूप परमात्मद्रव्य हूँ – ऐसा भेदज्ञान जिसको प्रगट हुआ है, वह ज्ञानी है। उसके सर्वभाव ज्ञान से निर्मित हुए हैं। जानना-देखना, स्वरूप में ठहरना, शान्तिस्वरूप होना आदि ज्ञानी के परिणाम हैं। दया, दान, व्रत आदि के राग अथवा पुण्य-पाप के शुभाशुभ विकल्प ज्ञानी के कर्त्तव्यरूप से नहीं होते। ज्ञानी विकारीभावों का ज्ञायक (ज्ञाता-दृष्टा) रहता है, कर्त्ता नहीं वनता, क्योंकि ज्ञानी को विकार का स्वामित्व नहीं रहता। इस कारण ज्ञानी के सर्वभाव ज्ञानमय ही होते हैं।

कभी-कभी अस्थिरता के कारण हिंसादिरूप अल्प राग-द्वेष के परिणाम हो जाते हैं, तथापि ज्ञानी उनका ज्ञाता ही रहता है, क्योंकि उसकी दृष्टि निजस्वभाव पर है। त्रिकाली स्वभाव पर दृष्टि होने से ज्ञानी का प्रत्येक परिणाम ज्ञानमय, आनन्दमय, शान्तिमय, धर्ममय ही होता है। ज्ञानी के सर्वभाव ज्ञान से उत्पन्न हुए ज्ञानमय ही होते हैं।

जिसे अपने शुद्ध चैतन्य-स्वभावमय आत्मा का भान नही है और जिसने राग के साथ एकत्व मान रखा है, उसके सर्वभाव अज्ञान से उत्पन्न हुए या रचे हुए हैं। अज्ञानी को जो व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प हैं, वे अज्ञान से रचे हुए होने से अज्ञानमय ही हैं।

हजारों रानियों को छोड़कर नग्न दिगम्बर मुनिदशा धारण करे, जंगल में रहे, महाव्रतादि का पालन करे, तथापि राग के साथ एकत्वपने से परिणमित होने के कारण वह भाव अज्ञानमय है – ऐसा कहते हैं। पंच महाव्रत के परिणाम, शास्त्र का परलक्ष्यी ज्ञान तथा नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा आदि सब रागभाव हैं और अज्ञानी इन सब राग भावों का कर्त्ता होता है। इसकारण उसके ये सभी भाव अज्ञानमय ही हैं। कोई बाल-ब्रह्मचारी हो तथा महीना-महीना के उपवास करे, परन्तु यदि इस बाह्य ब्रह्मचर्य व अन्न के त्यागरूप उपवास से लाभ माने, धर्म हुआ माने, तो उसका वह भाव अज्ञानमय ही है। अज्ञानी के सभी भाव अज्ञान से उत्पन्न होने से अज्ञानमय ही हैं।

दया-दान-पूजादिक विषय-कषायादिक,
दोऊ कर्मबंध पै दुहूकौ एक खेतु है।
ग्यानी मूढ़ करम करत दीसैं एक से पै,
परिनामभेद न्यारौ न्यारौ फल देत है॥

ग्यानवंत करनी करै पै उदासीन रूप,
ममता न धरै तातैं निर्जराकौ हेतु है।
वहै करतूति मूढ़ करै पै मगनरूप,
अंध भयौ ममतासौं बंध-फल हेत है॥ २३॥

—समयसार नाटक, कर्त्ता-कर्म-क्रिया द्वार

अथैतदेव दृष्टान्तेन समर्थयते–

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादओ भावा ।
अयमयया भावादो जह जायंते दु कडयादी ।। १३० ।।

अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते ।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वेभावा तहा होंति ।। १३१ ।।

कनकमयाद्भावाज्जायंते कुंडलादयो भावाः ।
अयोमयकाद्भावाद्यथा जायंते तु कटकादयः ।। १३० ।।

अज्ञानमया भावा अज्ञानिनो बहुविधा अपि जायंते ।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयाः सर्वे भावास्तथा भवंति ।। १३१ ।।

अब इसी अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं :–

ज्यों कनकमय को भाव में से, कुंडलादिक ऊपजे ।
पर लोहमय को भाव से, कटकादि भावो नीपजे ।। १३० ।।

त्यों भाव बहुविध ऊपजे, अज्ञानमय अज्ञानि के ।
पर ज्ञानि के तो सर्व भावहि, ज्ञानमय निश्चय बने ।। १३१ ।।

गाथार्थ :–[यथा] जैसे [कनकमयात् भावात्] स्वर्णमय भाव में से [कुण्डलादयः भावाः] स्वर्णमय कुण्डल इत्यादि भाव [जायन्ते] होते हैं [तु] और [अयोमयकात् भावात्] लोहमय भाव में से [कटकादयः] लोहमय कड़ा इत्यादि भाव [जायन्ते] होते हैं, [तथा] उसीप्रकार [अज्ञानिनः] अज्ञानियों के (अज्ञानमय भाव में से) [बहुविधाः अपि] अनेक प्रकार के [अज्ञानमयाः भावाः] अज्ञानमय भाव [जायन्ते] होते हैं [तु] और [ज्ञानिनः] ज्ञानियों के (ज्ञानमय भाव में से) [सर्वे] सभी [ज्ञानमयाः भावाः] ज्ञानमय भाव [भवन्ति] होते हैं ।

यथा खलु पुद्गलस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वात्कार्याणां जांबूनदमयाद्भावाज्जांबूनदजातिमनतिवर्तमाना जांबूनदकुण्डलादय एव भावा भवेयुः, न पुनः कालायसवलयादयः कालायसमयाद्भावाच्च कालायसजातिमनतिवर्तमानाः कालायसवलयादय एव भवेयुः न पुनर्जांबूनदकुण्डलादयः। तथा जीवस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वादेव कार्याणां अज्ञानिनः स्वयमज्ञानमयाद्भावादज्ञानजातिमनतिवर्तमाना विविधा अप्यज्ञानमया एव भावा भवेयुः, न पुनर्ज्ञानमयः, ज्ञानिनश्च स्वयं ज्ञानमयाद्भावाज्ज्ञानजातिमनतिवर्तमानाः सर्वे ज्ञानमया एव भावा भवेयुः, न पुनरज्ञानमयाः।

टीका :—जैसे पुद्गल स्वयं परिणामस्वभावी है, तथापि कारण जैसे कार्य होते हैं, इसलिये सुवर्णमय भाव में से सुवर्णजाति का उल्लंघन न करते हुए सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव ही होते हैं, किन्तु लौहमय कड़ा इत्यादि भाव नहीं होते और लौहमय भाव में से, लौहजाति को उल्लंघन न करते हुये लौहमय कड़ा इत्यादि भाव ही होते हैं; किन्तु सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव नहीं होते; इसी प्रकार जीव स्वयं परिणामस्वभावी होने पर भी, कारण जैसे ही कार्य होने से, अज्ञानी के, जो कि स्वयं अज्ञानमय भाव हैं उसके – अज्ञानमय भावों में से, अज्ञानजाति का उल्लंघन न करते हुए अनेक प्रकार के अज्ञानमय भाव ही होते हैं; किन्तु ज्ञानमय भाव नहीं होते, तथा ज्ञानी के – जो कि स्वयं ज्ञानमय भाव हैं, उसके ज्ञानमय भावों में से ज्ञान की जाति का उल्लंघन न करते हुए समस्त ज्ञानमय भाव ही होते हैं; किन्तु अज्ञानमय भाव नहीं होते।

भावार्थ :—'जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है' इस न्याय से जैसे लोहे में से लौहमय कड़ा इत्यादि वस्तुएँ होती हैं और सुवर्ण में से सुवर्णमय आभूषण होते हैं, इसीप्रकार अज्ञानी स्वयं अज्ञानमय भाव होने से उसके (अज्ञानमय भाव में से) अज्ञानमय भाव ही होते हैं और ज्ञानी स्वयं ज्ञानमय भाव होने से उसके (ज्ञानमय भाव में से) ज्ञानमय भाव ही होते हैं। अज्ञानी के शुभाशुभ भावों में आत्मबुद्धि होने से उसके समस्त भाव अज्ञानमय ही हैं।

अविरत सम्यक्दृष्टि (-ज्ञानी) के यद्यपि चारित्रमोह के उदय होने पर क्रोधादिक भाव प्रवर्तते हैं तथापि उसके उन भावों में आत्मबुद्धि नहीं है, वह उन्हें पर के निमित्त उत्पन्न उपाधि मानता है। उसके क्रोधादिक कर्म

उदय में आकर खिर जाते हैं – वह भविष्य का ऐसा बन्ध नहीं करता कि जिससे संसार परिभ्रमण बढ़े; क्योंकि (ज्ञानी) स्वयं उद्यमी होकर क्रोधादिभावरूप परिणमता नहीं है। यद्यपि* उदयकी बलवत्ता से परिणमता है तथापि ज्ञातृत्वका उल्लंघन करके परिणमता नहीं है; ज्ञानी का स्वामित्व निरन्तर ज्ञानमें ही वर्तता है, इसलिये वह क्रोधादिभावोंका अन्य ज्ञेयोंकी भाँति ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं। इसप्रकार ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानमय ही हैं।

गाथा १३०-१३१ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

पुद्गल द्रव्य स्वयं परिणामस्वभाववाला है। शरीर, मन, वाणी, आहार, पानी आदि सबमें स्वयं परिणामस्वभाव है।

यद्यपि पुद्गल द्रव्य का बदलने का सहजस्वभाव है; तथापि कारण जैसा कार्य होता है, क्योंकि कारण और कार्य की जाति एक होती है। स्वर्ण के पुद्गलों में स्वयं बदलने का स्वभाव है, तो भी स्वर्ण स्वर्णजाति का उल्लंघन नहीं करता हुआ स्वर्णमय पुद्गलादि भावरूप ही होता है। स्वर्ण लोहे के कड़ा आदि भाव से नहीं परिणमता तथा लोहा भी चाहे जैसा बदले, तो भी उसमें से लोहापने का उल्लंघन नहीं होता, उससे लोहामय कड़ा आदि भाव ही उत्पन्न होते हैं, स्वर्णमय कुण्डलादिरूप नहीं होते।

जैसे सोने में से लोहा नहीं होता और लोहे में से सोना नहीं होता, उसीप्रकार यद्यपि जीव का स्वयं परिणमन करने का स्वभाव है, बदलने का स्वभाव है तथापि कारण जैसा ही कार्य होता है। गाथा ६८ की टीका में

---

* सम्यग्दृष्टि की रुचि सर्वदा शुद्धात्मद्रव्य के प्रति ही होती है; उनको कभी रागद्वेषादि भावों की रुचि नहीं होती, उनको जो रागद्वेषादि भाव होते हैं वे भाव, यद्यपि उनकी स्वयं की निर्बलता से ही एवं उसके स्वयं के अपराध से ही होते हैं, फिर भी वे रुचिपूर्वक नहीं होते इस कारण उन भावों को 'कर्म की बलवत्ता से होने वाले भाव' कहने में आता है, इससे ऐसा नहीं समझना कि 'जड़ द्रव्यकर्म आत्मा के ऊपर लेशमात्र भी जोर कर सकता है' परन्तु ऐसा समझना कि, 'विकारी भावों के होने पर भी सम्यग्दृष्टि महात्मा की शुद्धात्मद्रव्यरुचि में किंचित् भी कमी नहीं है, मात्र चारित्रादि सम्बन्धी निर्बलता है – ऐसा आशय बतलाने के लिये ऐसा कहा है।' जहाँ-जहाँ 'कर्म की बलवत्ता,' 'कर्म की जबरदस्ती,' 'कर्म का जोर' इत्यादि कथन होवे वहाँ-वहाँ ऐसा आशय समझना।

एक उदाहरण आया है कि जौ पूर्वक जौ ही होता है अर्थात् जौ नामक अनाज से जौ ही उत्पन्न होता है। जौ से गेहूँ की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि कारण व कार्य एक जाति के ही होते हैं।

अज्ञानी को अपने शुद्ध चैतन्यस्वभावमय आत्मा की दृष्टि नहीं है। उसकी दृष्टि शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय, राग आदि पर रहती है, इसकारण अज्ञानी को स्वयं अज्ञानमय भाव होता है। उसे पर व राग की जो एकता-बुद्धि है, वह स्वयं अज्ञानमय भाव है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव मेरे हैं, इनसे मुझे लाभ (धर्म) होता है, ये मेरे कर्तव्य हैं और मैं इन भावों का कर्त्ता हूँ – ऐसी अज्ञानी की दृष्टि अज्ञानमय भाव है और इस अज्ञानमय भाव में से अज्ञान जाति का उल्लंघन नहीं होता, वल्कि उसमें से अनेक प्रकार के अज्ञानमय भाव ही होते हैं, वैसे ही राग की एकता बुद्धि से अज्ञानमय भावों में से अज्ञानी को अज्ञानमय – रागमय – विकारमय भाव ही उत्पन्न होते हैं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव जंगल में वसनेवाले निर्ग्रन्थ मुनिराज थे। निर्ग्रन्थ उसे कहते हैं कि जिसकी राग के साथ की एकतावुद्धिरूप मिथ्यात्व की गाँठ छूट गई हो, खुल गई हो। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि परिणाम शुभरागरूप आस्रव हैं, उनसे भिन्न पड़कर अर्थात् भेदज्ञान करके त्रिकाली शुद्ध ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा का जिसे अनुभव हुआ है, वह निर्ग्रन्थ है। ऐसे परम निर्ग्रन्थ अतीन्द्रिय-आनन्द के नाथ आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी के ये वचन हैं कि 'सभी आत्मायें भगवान स्वरूप हैं, पर्याय में जो भूल थी, हमने स्वरूप के लक्ष्य से उसका अभाव किया है।'

इसीतरह यहाँ कहते हैं कि सर्व जीव ज्ञानमय हैं, जो अपने उस ज्ञानमय स्वभाव को जानेगा – समझेगा, वह स्वयं परमात्मा वन जायेगा।

अहाहा....! प्रभु आत्मा चैतन्यप्रकाश के नूर का पूर है। उसमें दया, दान, भक्ति के, व्यवहार रत्नत्रय के, नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा के राग का सदाकाल अभाव है; परन्तु अज्ञानी शुभ राग को अपना स्वरूप मानता है, इसकारण वह स्वयं रागमय हुआ है, अज्ञानमय हुआ है; इससे अज्ञानी को अज्ञानमय भाव में से रागादिमय अज्ञानभाव ही उत्पन्न होता है। प्रभु ! वात वहुत सूक्ष्म है।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि अज्ञानी को अपने ज्ञानमय सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा का भान नहीं है। अतः जो राग होता है, उसे ही वह अपना

स्वरूप मानता है। राग से लाभ होता है, व्यवहार से निश्चय प्रगट होता है – ऐसी मिथ्या मान्यता से मिथ्यादर्शन के भाव से मिथ्यात्व का ही भाव उत्पन्न होता है, क्योंकि अज्ञानमय भावों से अज्ञानमय भाव ही होते हैं! अज्ञानी चाहे जैसी पलटा-पलटी करे, किन्तु जबतक श्रद्धा नहीं पलटती, तबतक अज्ञान में से ज्ञानभाव नहीं होता।

अज्ञानी के जो अज्ञानमय भाव होते हैं, वे भी स्वयं के कारण होते हैं, जड़-कर्मों के कारण नहीं। कर्म तो जड़ हैं – अचेतन हैं, वे क्या करें? वह स्वयं ही अपने अज्ञान से अज्ञानभावरूप परिणमता है। कर्म का उदय उसको अज्ञानभाव से नहीं परिणमता। कर्म का उदय आया, इसलिए उसे अज्ञानरूप परिणमन करना पड़ा हो – ऐसा नहीं है। जिसकी दृष्टि निमित्ताधीन है, वह चाहे जैसा माने, परन्तु वस्तुतः बात यह है कि जो रागमय – अज्ञानमय भाव होता है, वह स्वयं अपने कारण से ही होता है, कर्म के कारण नहीं होता।

इस सम्बन्ध में पण्डित बनारसीदासजी ने निमित्तउपादान दोहों में खूब सरस बात कही है—

"उपादान निजगुण जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय" तथा
"उपादान बल जहँ तहाँ, नहिं निमित्त को दाव।"

अहाहा....! इन दोहों में तो कवि ने गजब ही कर दिया है। परद्रव्य का कार्य तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है और स्वतन्त्ररूप से ही परिणमन करता है। क्या पर्याय बिना या कार्य बिना भी कोई द्रव्य कभी रह सकता है? प्रति समय द्रव्य स्वयं अपनी पर्याय के परिणमनरूप कार्य को करता है। वहाँ अन्य द्रव्य का क्या काम? अन्य द्रव्य वहाँ क्या कर सकता है? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य करता है – यह मानना तो स्थूल भूल है, मिथ्यादर्शन है।

परमात्मा कहते हैं कि पर का कर्त्ता तो कोई है ही नहीं, रागभाव का कर्त्ता भी अज्ञानी ही है, ज्ञानी तो रागादि का भी कर्त्ता नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी के अज्ञानमय भावों से उत्पन्न हुए सर्वभाव अज्ञानमय होते हैं, क्योंकि वे अज्ञानमयता का उल्लंघन नहीं करते। अज्ञानी यदि दो+दो=चार कहे, तथापि उसका कथन असत्यार्थ है; क्योंकि उसके कारण-कार्य के स्वरूप की समझ में भूल है। मोक्षमार्ग प्रकाशक के चतुर्थ अधिकार में आता है कि अज्ञानी को कारणविपरीतता, स्वरूपविपरीतता

और भेदाभेदविपरीतता होती है। अहो! गृहस्थाश्रम में रहकर भी पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने कैसा गजब का काम किया है?

अरे भाई! यदि किसी को यह वीतरागता की बात, तत्त्व की बात न बैठे और जैसा मन में आवे वैसा कहे; तो इसका क्या उपाय है?

भाई! किसी के प्रति द्वेष रखना या किसी का विरोध करना तो वीतरागता का मार्ग ही नहीं है। ज्ञानी को तो सर्वजीवों के प्रति मैत्रीभाव ही होता है। यदि किसी को तत्त्व की बात बैठती है, जचती है, तो भी वह स्वतन्त्र है और नहीं बैठती या नहीं जचती है, तो भी वह स्वतन्त्र है।

योगसार ग्रन्थ में लिखा है कि पाप को तो सारा जगत पाप कहता ही है, परन्तु पुण्य भी वस्तुतः पाप ही है – ऐसा कोई विरले ज्ञानी, अनुभवी पुरुष ही कहते हैं –

पाप तत्त्व को पाप तो कहे जग में सब कोय।
पुण्य तत्त्व भी पाप है, जाने बिरला लोय ॥३०१॥

अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि शुभराग मेरा है, परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि पुण्यभाव भी पाप है। दया, दान, व्रतादिरूप शुभराग के भाव भी शुद्ध चैतन्य से पतित करते हैं। जो भी पतित करे, वह पाप है, इस अपेक्षा से वे भी पाप हैं। जो अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप से पतित करता है, गिराता है, वह पाप नहीं तो और क्या है? जो पतित करे, वह पाप और जो पवित्र करे, वह पुण्य – इस अपेक्षा सम्पूर्ण शुभाशुभभाव पाप हैं और शुद्धभाव ही वस्तुतः पुण्य है या धर्म है। कहा भी है –

"यः पातयति स पापं तथा यः पुनाति सः पुण्यं।"

अज्ञानी को पवित्रतारूप पुण्य नहीं चाहिये। उसे तो शुभभावरूप पुण्य चाहिए, जिससे भोगसामग्री या लौकिक अनुकूलतायें प्राप्त हों, क्योंकि उसे अनादि से इसी पुण्य की मिठास है, इसीकारण पुण्यबन्ध के कारणरूप शुभराग में मिठास लगती है। जब कोई ऐसे पुण्यबन्धतत्त्व को पाप कहता है, तो उसे यह बात कड़वी लगती है, सुहाती नहीं है; परन्तु भाई! तुझे जो शुभराग की मिठास है, वह अज्ञानमय भाव है तथा वह उस अज्ञानमय भाव का उल्लंघन नहीं कर पाने से अज्ञानमय भाव को ही उत्पन्न करता है। उसके ज्ञानमय भाव उत्पन्न नहीं होता।

अरे भाई ! यह अज्ञानमय मिठास तुझे कहाँ ले जायेगी ? जन्म-मरणरूप संसार में अनन्तानन्त निगोद जाना पड़ेगा, क्योंकि मिथ्यात्व का अन्तिम परिणाम निगोद ही है ।

अब कहते हैं कि जिसे पर द्रव्य के भावों से रहित, निर्मलानन्द के नाथ, चित्चमत्कारमात्र भगवान आत्मा की दृष्टि एवं अनुभव हुआ है, वह ज्ञानी है ।

वह ज्ञानी ऐसा जानता है कि बस केवल जानना-देखना ही एकमात्र मेरा कार्य है । ज्ञानी को ऐसा दृढ़ श्रद्धान एवं अटल निश्चय है कि मेरी वस्तु तो ज्ञानानन्दस्वभावी है । उसकी दृष्टि (श्रद्धा) अपने चैतन्यस्वभाव से कभी हटती नहीं है, खिसकती नहीं है । इसीकारण उसे ज्ञानमय भाव है । ज्ञानी अपने ज्ञानमय भाव में से ज्ञान की जाति का कभी भी उल्लंघन नहीं करता, इसकारण उसके सर्वभाव ज्ञानमय ही उत्पन्न होते हैं – ऐसा कहा है । उसके अज्ञानमय भाव उत्पन्न नहीं होते ।

प्रश्न :– तो क्या ज्ञानी को राग उत्पन्न नहीं होता ?

उत्तर :– हाँ, यद्यपि ज्ञानी को यथापदवी – भूमिकानुसार राग उत्पन्न होता है, तथापि वह उस राग का ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं । जो अल्प राग आता है, उसे वह परज्ञेयरूप से जानता है । ज्ञानी को राग का स्वामित्व नहीं होता, इसकारण ज्ञानी के सर्व भाव ज्ञानमय ही होते हैं, अज्ञानमय नहीं होते ।

जब भगवान ऋषभदेव परमात्मा ने अष्टापद पर्वत पर से निर्वाण प्राप्त किया, तब भगवान का विरह होते ही भरतचक्रवर्ती के हृदय में भारी दु:ख हुआ, आँखों में आँसू आ गये । कहने लगे, 'अरे ! भारतवर्ष का देदीप्यमान सूर्य अस्त हो गया ।' ऐसे विरह के विचार से बहुत दु:खी होने लगे । तब इन्द्र ने कहा, 'भरतजी ! आपकी यह अन्तिम देह है । हमें तो अभी एक भव बाद मोक्ष होगा । वियोग के दु:ख से आप की आँखों में आँसू शोभा नहीं देते ।' तब भरत महाराज ने कहा, 'यह तो कमजोरी-अस्थिरता का राग आ गया है, मैं तो इन आँसूओं का भी ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ । मैं इन आँसुओं का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं हूँ ।' देखो ! यह है ज्ञानियों की स्वभावदृष्टि ।

'जैसी दृष्टि, तैसी सृष्टि' । अज्ञानी की दृष्टि राग पर है, इसकारण अज्ञानी को मिथ्यात्वादि रागमय – अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होते हैं; जब

कि ज्ञानी की ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि है, इसकारण उसको ज्ञानमय भावों की ही सृष्टि होती है। जो अल्प अस्थिरता का राग समय-समय पर हो जाता है, ज्ञानी उसे अपने ज्ञान में परज्ञेयरूप से जानते हैं। ज्ञानी को ऐसे राग का स्वामित्व नहीं है। वह तो राग का मात्र ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं।

लौकिकजनों को व्यवहार की क्रिया का प्रेम है, परन्तु क्रिया का विकल्प तो राग है। दया, दान, व्रत आदि क्रिया के शुभ विकल्प राग हैं और राग वस्तुतः हिंसा है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के ४४वें छन्द में आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी ने कहा है कि निश्चय से रागादिभावों का प्रगट न होना ही अहिंसा है और रागादिभावों का प्रगट होना हिंसा है, यही जैन सिद्धांत का सार है।

भाई! सोलहकारण भावनाओं का राग भी धर्म नहीं है। उसके निमित्त से तीर्थंकर प्रकृति बँधती है तथा सम्यग्दृष्टि को ही ऐसा शुभ राग आता है, तथापि वह धर्म नहीं है, राग है न? ज्ञानी उस राग का कर्त्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता है। जिसको राग का प्रेम है, उसमें उपादेय बुद्धि है — ऐसे अज्ञानियों को उनकी भूमिका में इस जाति का राग नहीं आता और उनको तीर्थंकर प्रकृति नहीं बँधती।

राजा श्रेणिक भविष्य की चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर होंगे। जब वे माता के गर्भ में आवेंगे, तब इन्द्र और देवगण मिलकर महोत्सव मनायेंगे। वे माता के गर्भ में सवा नौ महीना रहेंगे, वहाँ भी वे सम्यग्दृष्टि होने से राग के ज्ञाता-दृष्टा ही रहेंगे, कर्त्ता नहीं। अहाहा ....! जिसके कारण जन्म-मरण का अन्त आता है, वह सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक वस्तु है। भाई! जिनका आत्मा जागृत हो गया है, वे धर्मी जीव निरंतर ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से — ज्ञानभाव से परिणमन करते हैं, रागभाव से नहीं; ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

कलशटीकाकार ने समयसार कलश के ६७ वें कलश में कहा है कि सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि जीव की क्रिया तो एक जैसी है, क्रियासम्बन्धी विषय-कषाय भी एक जैसे हैं, परन्तु द्रव्य का परिणमन भेद है। सम्यग्दृष्टि का द्रव्य शुद्धत्वरूप परिणमा है, इसकारण जो भी परिणाम बुद्धिपूर्वक अनुभवरूप हैं अथवा विचाररूप हैं अथवा व्रत-क्रियारूप हैं अथवा भोग-अभिलाषारूप हैं अथवा चारित्रमोह के उदय क्रोध-मान-माया-लोभरूप हैं — वे सभी परिणाम ज्ञान की जाति में घटित होते हैं, क्योंकि

वे सभी परिणाम संवर-निर्जरा के कारण हैं। द्रव्यपरिणमन की ऐसी ही विशेषता है।

मिथ्यादृष्टि का द्रव्य अशुद्धरूप परिणमा है, इसकारण सभी मिथ्यादृष्टियों के परिणाम अनुभवरूप नहीं होते है। वे सूत्र-सिद्धान्त के पाठरूप हैं, अथवा व्रत-तपश्चरणरूप हैं अथवा दानरूप हैं, दया-पूजा-शीलरूप हैं, अथवा भोग-विलासरूप हैं अथवा क्रोध-मान-माया-लोभरूप हैं – वे सब परिणाम अज्ञान जाति के हैं; अतः बन्ध के कारण हैं, संवर-निर्जरा के कारण नहीं हैं। द्रव्य का ऐसा ही परिणमन विशेष है।

इसप्रकार ज्ञानी के सर्व भाव ज्ञानमय और अज्ञानी के सर्व भाव अज्ञानमय ही हैं।

गाथा १३०-१३१ के भावार्थ पर प्रवचन

'जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है।' लोहखण्ड में से लोहखण्डमय वस्तुयें ही बनती हैं और स्वर्ण में से स्वर्णमय आभूषण ही बनते हैं; उसीप्रकार अज्ञानी स्वयं अज्ञानमय भाववाला होने से उसके अज्ञानमय भावों में से अज्ञानमय भाव ही होते हैं, और ज्ञानी स्वयं ज्ञानमय भाववाला है, अतः उसके ज्ञानमय भावों से ज्ञानमय भाव ही होते हैं।

अज्ञानी के शुभाशुभ भावों में अपनापन होने से उसके सर्वभाव अज्ञानमय ही हैं। अज्ञानी को शुभाशुभ भावों में ऐसी आत्मबुद्धि है कि ये शुभाशुभभाव मेरे हैं, तथा वह शुभभाव से अपना लाभ मानता है और इन्हें अपना कर्तव्य समझता है – इसकारण अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय ही हैं और बन्ध के कारण हैं।

ज्ञानी को भी क्रोध, मान आदि भाव उत्पन्न होते हैं, तथापि उसे उनकी रुचि नहीं है, फिर भी कमजोरी या अस्थिरता के कारण होते तो हैं ही, परन्तु ज्ञानी को उनमें ऐसी एकत्वबुद्धि नहीं है कि ये भाव मेरे हैं, इनसे मुझे लाभ होता है। कर्म के उदय से हुए इन भावों को ज्ञानी उपाधि मानता है, अतः उसके क्रोधादिकर्म उदय में आकर खिर जाते हैं। वह आगे का ऐसा बन्ध नहीं करता है कि जिससे संसार-भ्रमण बढ़े। यद्यपि ज्ञानी भी कर्मोदय में कुछ-कुछ जुड़ता तो है, तथापि उसका वह राग क्षय हो जाता है; क्योंकि उसके प्रति उसका स्वामित्व नहीं है। ज्ञानी स्वयं उद्यमवंत होकर क्रोधादिभावरूप नहीं परिणमता। जो कुछ थोड़ा-बहुत उदय की बलजोरी से परिणमता है, तो वहाँ भी वह अपने ज्ञातापने के

स्वभाव को नहीं छोड़ता – इसकारण उसके अनन्त संसार के भ्रमणरूप बंध नहीं होता।

ज्ञानी विकारी होने योग्य विपरीत पुरुषार्थरूप नहीं परिणमता। यद्यपि कर्म के उदय में वह अपनी कमजोरी से जुड़ता है, तथापि वह अपने ज्ञातापने से चूककर, उसे भूलकर रागभाव से नहीं परिणमता। धर्मी को दया, दान, भक्ति, पूजा आदि के शुभभाव तो आते हैं, परन्तु उनमें आत्म-बुद्धि नहीं होती। ज्ञानी का स्वामित्व निरन्तर ज्ञान में ही वर्तता है, उसकी दृष्टि ज्ञानस्वभाव पर ही सतत रहती है; इसकारण क्रोधादि भावों का भी अन्य ज्ञेयों की भाँति ही ज्ञाता रहता है, कर्त्ता नहीं होता। इसप्रकार ज्ञानी के सर्व भाव ज्ञानमय ही होते हैं।

ज्ञानी ज्ञानस्वरूप से परिणमता है, ज्ञानी ज्ञान का उल्लंघन करके नहीं परिणमता। ज्ञानी का स्वामित्व निरन्तर ज्ञान में ही वर्तता है। ज्ञानी को रागादि में स्वामीपना नहीं है। अशुभराग भी कदाचित् ज्ञानी को होता है, परन्तु उसे उसका भी स्वामित्व नहीं है।

ज्ञानी क्रोधादि विकारी भावों का भी ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं है। शरीर, मन, वाणी आदि पर पदार्थ जैसे ज्ञेय हैं, जाननेलायक हैं; उसी प्रकार चारित्र मोहादिजनित अस्थिरतारूप कमजोरी से रागादि होने पर भी वे सब ज्ञानी के ज्ञेय हैं, वह उनका कर्त्ता नहीं होता; रागादिरूप परिणमन है, इस अपेक्षा से कर्त्ता कहा जाता है – यह बात जुदी है।

सम्यग्दृष्टि के अन्तरङ्ग का सामान्यजनों को पता नहीं होता। वे तो धर्मबुद्धि से बाह्यक्रिया में ही अटक कर रह जाते हैं और उसी में धर्म मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं, परन्तु इसमें किञ्चित् भी धर्म नहीं होता। ज्ञानी इन बाह्यक्रियाओं को अपने ज्ञान में परज्ञेयरूप से जान लेता है। इसप्रकार ज्ञानी व अज्ञानी के अभिप्राय में बड़ा भारी अन्तर है। जैसे धाय बालक का पालन-पोषण मातृतुल्य ही करती है, परन्तु उस बालक को अपना निजी बेटा नहीं मानती, उसीप्रकार धर्मी जीव को राग आता है, परन्तु वह राग को अपना नहीं मानता। ज्ञानी की दृष्टि स्वज्ञेयरूप शुद्धात्मा से नहीं खिसकती। अपना ज्ञान व आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा ही एक स्वज्ञेय है, इसी पर उसकी दृष्टि सतत रहती है; इसकारण उसके सर्वभाव ज्ञानमय ही होते हैं।

सम्यग्दृष्टि की रुचि शुद्ध आत्मद्रव्य में है। अन्दर परिपूर्ण शुद्ध चैतन्य, अकेला, उज्ज्वल, पवित्र, अनंत गुणों का पिण्ड प्रभु आत्मा विराज

रहा है, ज्ञानी को उसकी ही निरन्तर रूचि है, उसे रागादि भावों की रूचि नहीं है । जैसे कोई नौकर सेठ का काम करता हो, तो ऐसा बोलता है कि मुझे माल लेना है, माल बेचना है; परन्तु अन्दर ऐसा जानता है कि मुझे स्वयं नहीं लेना-बेचना है, बल्कि सेठ के लिए लेना-बेचना है, उसीप्रकार ज्ञानी को जो रागादिभाव आते हैं, ज्ञानी उनके विषय में अन्तर्मन में ऐसा जानता है कि ये रागादिभाव मेरे नहीं हैं, ये तो कर्मोपाधिजनित विकार हैं । मेरा तो मात्र एक चिदानन्दमय शुद्ध ज्ञायकभाव है; राग मेरा कर्त्तव्य नहीं है, राग का तो मैं मात्र ज्ञाता ही हूँ, कर्त्ता नहीं ।

एक सेठ को सदैव चूरमा (लाडू) खाने की आदत थी, वही उसे रूचिकर था और स्वास्थ्य के अनुकूल भी था । एक दिन जब उसके युवा पुत्र का आकस्मिक निधन हो गया, वह शोकमग्न हो गया । उसके सारे राग-रंग के रस फीके पड़ गए । अब उसे चूरमा खाने में कोई रुचि नहीं रही । चूरमा तो फिर भी खाया, क्योंकि उसके लिए एवं सब के लिए वह चूरमा बना था; परन्तु शोकाकुल होने से चूरमा खाने पर भी जिसप्रकार उसे चूरमा का बिल्कुल स्वाद नहीं आया, रूचिकर भी नहीं लगा; उसीप्रकार ज्ञानी को भोगभाव रूचिकर नहीं लगते, क्योंकि धर्मी जीवों की राग की रूचि समाप्त हो गई है ।

प्रश्न :- ज्ञानी को उदय की बलवत्ता से राग आता है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :- यह कथन निमित्त की मुख्यता से है । इसका अर्थ यह है कि ज्ञानी को पुरुषार्थ की कमजोरी है । जो राग आता है, वह अपने अपराध से आता है, जड़कर्म के कारण राग हो अथवा जड़कर्म का उदय राग कराता हो – ऐसा नहीं है, कर्म तो जड़ है, वह क्या राग करायेगा ? कहा भी है –

"कर्म विचार कौन, भूल मेरी अधिकाई ।"

जहाँ-जहाँ ऐसा कथन आता है कि कर्म के उदय के कारण या बलजोरी से राग होता है, वहाँ-वहाँ ऐसा समझना कि राग अपनी कमजोरी से अपने कारण होता है, और कर्म का उदय उसमें निमित्त मात्र है । जब पुरुषार्थ कमजोर होता है, तो कर्म बलवान है – ऐसा कहने में आता है । जनसामान्य का ऐसा ही मनोविज्ञान है और व्यवहार वचन जनता की भाषा के अनुकूल होते हैं, इसकारण ऐसा कहने में आता है, उसका यथार्थ भाव समझना चाहिये ।

कलश ६८

(अनुष्टुप्)

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम् ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ।।६८।।

अब आगे की गाथा का सूचक अर्थरूप श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [अज्ञानी] अज्ञानी [अज्ञानमयभावानाम् भूमिकाम्] (अपने) अज्ञानमय भावों की भूमिका में [व्याप्य] व्याप्त होकर [द्रव्य-कर्मनिमित्तानां भावानाम्] (आगामी) द्रव्यकर्म के निमित्त (अज्ञानादि) भावों के [हेतुताम् एति] हेतुत्व को प्राप्त होता है (अर्थात् द्रव्यकर्म के निमित्तरूप भावों का हेतु बनता है) ।

कलश ६८ पर प्रवचन

अज्ञानी अपने अज्ञानमय भावों की भूमिका में अर्थात् राग की रुचि में पड़ा रहता है । अपना जो त्रिकाली शुद्ध चैतन्य स्वभाव है, या वीतराग स्वभाव है, उसे छोड़कर राग की रुचि में जुड़ा रहता है । अज्ञानमय भावों की भूमिका में व्याप्त होकर द्रव्यकर्म के निमित्त जो अज्ञानादिक भाव हैं, उसके हेतुपने को प्राप्त होता है अर्थात् द्रव्यकर्म के निमित्तरूप भावों का हेतु बनता है ।

पुराने कर्म के उदय का लक्ष्य करके नवीन कर्मबंध के कारणरूप जो अज्ञानभाव हैं, उनके हेतुपने को प्राप्त होता है । यह बात अज्ञानी की है, ज्ञानी की नहीं ।

ज्यौं माटी मैं कलस होनकी, सकति रहे ध्रुव ।
दंड चक्र चीवर कुलाल, बाहजि निमित्त हुव ।।
त्यौं पुदगल परवांनु, पुंज वरगना भेस धरि ।
ग्यानावरनादिक स्वरूप, विचरंत विविध परि ।।
बाहजि निमित्त बहिरातमा, गहि संसै अग्यानमति ।
जगमांहि अहंकृत भावसौं, करमरूप ह्वै परिनमति ।। २४ ।।

— समयसार नाटक, कर्त्ता-कर्म-क्रिया द्वार

समयसार गाथा १३२ से १३६

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥१३२॥

उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥१३३॥

तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥

एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागदं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१३५॥

तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागदं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१३६॥

इसी अर्थ को पाँच गाथाओं द्वारा कहते हैं :–

जो तत्वका अज्ञान जीव के, उदय वो अज्ञान का।
अप्रतीत तत्त्व की जीव के जो, उदय वो मिथ्यात्व का ॥१३२॥

जीव का जु अविरतभाव है, वो उदय अनसंयम हि का।
जीव का कलुष उपयोग जो, वो उदय जान कषाय का ॥१३३॥

शुभ अशुभ वर्तन या निवर्तन रूप जो चेष्टा हि का।
उत्साह करते जीव के वो उदय जानो योग का ॥१३४॥

जब होय हेतूभूत ये तब स्कन्ध जो कार्माण के।
वे अष्टविध ज्ञानावरण इत्यादिभावों परिणमे ॥१३५॥

कार्मणवरगणारूप वे जब, बन्ध पावें जीव में।
आत्मा हि जीव परिणाम भावों का तभी हेतू बने ॥१३६॥

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः ।
मिथ्यात्वस्य तूदयो जीवस्याश्रद्धानत्वम् ।।१३२।।

उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवेदविरमणम् ।
यस्तु कलुषोपयोगो जीवानां स कषायोदयः ।।१३३।।

तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः ।
शोभनोऽशोभनो वा कर्त्तव्यो विरतिभावो वा ।।१३४।।

एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत्तु ।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः ।।१३५।।

तत्खलु जीवनिबद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा ।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानाम् ।।१३६।।

गाथार्थ :–[जीवानाम्] जीवों के [या] जो [अतत्त्वोपलब्धिः] तत्त्व का अज्ञान है (–वस्तुस्वरूप से अयथार्थ विपरीतज्ञान) [सः] वह [अज्ञानस्य] अज्ञानका [उदयः] उदय है [तु] और [जीवस्य] जीव के [अश्रद्धानत्वम्] जो (तत्त्वका) अश्रद्धान है, वह [मिथ्यात्वस्य] मिथ्यात्व का [उदयः] उदय है [तु] और [जीवानां] जीवों के [यद्] जो [अविरमणम्] अविरमण अर्थात् अत्यागभाव है, वह [असंयमस्य] असंयम का [उदयः] उदय [भवेत्] है [तु] और [जीवानां] जीवों के [यः] जो [कलुषोपयोगः] मलिन (ज्ञातृत्व की स्वच्छता से रहित) उपयोग है [सः] वह [कषायोदयः] कषाय का उदय है [तु] तथा [जीवानां] जीवों के [यः] जो [शोभनः अशोभनः वा] शुभ या अशुभ [कर्त्तव्यः विरतिभावः वा] प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप [चेष्टोत्साहः] (मनवचनकायआश्रित) चेष्टा का उत्साह है [तं] उसे [योगोदयं] योग का उदय [जानीहि] जानो ।

[एतेषु] इन को (उदयों को) [हेतुभूतेषु] हेतुभूत होनेपर [यद् तु] जो [कार्मणवर्गणागतं] कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य [ज्ञानावरणादिभावैः अष्टविधं] ज्ञानावरणादिभावरूप से आठ प्रकार [परिणमते] परिणमता है, [तद् कार्मणवर्गणागतं] वह कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य [यदा] जब [खलु] वास्तव में [जीवनिबद्धं] जीव में बंधता

अतत्त्वोपलब्धिरूपेण ज्ञाने स्वदमानो अज्ञानोदयः। मिथ्यात्वासंयमकषाययोगोदयाः कर्महेतवस्तन्मयाश्चत्वारो भावा। तत्त्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानो मिथ्यात्वोदयः, अविरमणरूपेण ज्ञाने स्वदमानोऽसंयमोदयः, कलुषोपयोगरूपेण ज्ञाने स्वदमानः कषायोदयः, शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापाररूपेण ज्ञाने स्वदमानो योगोदयः। अथैतेषु पौद्गलिकेषु मिथ्यात्वाद्युदयेषु हेतुभूतेषु यत्पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणागतं ज्ञानावरणादिभावैरष्टधा स्वयमेव परिणमते तत्खलु कर्मवर्गणागतं जीवनिबद्धं यदा स्यात्तदा जीवः स्वयमेवाज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेनाज्ञानमयानां तत्त्वाश्रद्धानादीनां स्वस्य परिणामभावानां हेतुर्भवति।

है [तदा तु] तब [जीवः] जीव [परिणामभावानाम्] (अपने अज्ञानमय) परिणामभावों का [हेतुः] हेतु [भवति] होता है।

टीका :— तत्त्व के अज्ञानरूप से (वस्तुस्वरूपकी अन्यथा उपलब्धिरूप से) ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ अज्ञान का उदय है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के उदय — जो कि (नवीन) कर्मों के हेतु हैं वे अज्ञानमय चार भाव हैं। तत्त्व के अश्रद्धानरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ मिथ्यात्वका उदय है; अविरमणरूप से (अत्यागभावरूपसे) ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ असंयम का उदय है; कलुष (मलिन) उपयोगरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ कषाय का उदय है; शुभाशुभ प्रवृत्ति या निवृत्ति के व्यापाररूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ योग का उदय है। यह पौद्गलिक मिथ्यात्वादि के उदय हेतुभूत होने पर जो कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादिभाव से आठ प्रकार से स्वयमेव परिणमता है, वह कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीव में निबद्ध होवे, तब जीव स्वयमेव अज्ञान से स्वपर के एकत्व के अध्यास के कारण तत्त्व अश्रद्धान आदि अपने अज्ञानमय परिणामभावों का हेतु होता है।

भावार्थ :— अज्ञानभाव के भेदरूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के उदय पुद्गल के परिणाम हैं और उनका स्वाद अतत्त्वश्रद्धानादिरूप से ज्ञान में आता है। वे उदय निमित्तभूत होने पर कार्मणवर्गणारूप नवीन पुद्गल स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमते हैं और जीव के साथ बँधते हैं और उससमय जीव भी स्वयमेव अपने अज्ञानभाव से अतत्त्वश्रद्धानादि भावरूप परिणमता है और इसप्रकार अपने अज्ञानमय भावों का कारण स्वयं ही होता है।

मिथ्यात्वादि का उदय होना, नवीन पुद्गलों का कर्मरूप परिणमना तथा बँधना, और जीव का अपने अतत्त्वश्रद्धानादि भावरूप परिणमना – यह तीनों ही एक समय में ही होते हैं; सब स्वतन्त्रतया अपने आप ही परिणमते हैं, कोई किसी का परिणमन नहीं कराता ।

गाथा १३२ से १३६ एवं उनकी टीका पर प्रवचन

देखो, आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वभावी परमपवित्र प्रभु है । उसका भान नहीं होने से यह जीव वर्तमान पर्याय में अज्ञानरूप परिणमन कर रहा है । जड़कर्म उदय में आने पर ज्ञान में जो अज्ञानरूप, विपरीत ज्ञानरूप स्वाद आता है, वह जड़ पुद्गल का स्वाद है, आत्मा का शुद्ध चैतन्य का नहीं ।

यहाँ अज्ञानमय भाव के चार भेद कहे हैं – (१) मिथ्यात्व (२) असंयम (३) कषाय (४) योग । अज्ञानभाव में ये चारों ही शामिल हैं । ज्ञानी को (दृष्टि की अपेक्षा से) उक्त चारों ही भाव नहीं हैं । इन चारों का स्वरूप इस प्रकार है –

(१) शुद्ध चैतन्यस्वभाव में अहंबुद्धि नहीं करके पर में अहंबुद्धि करना मिथ्यात्व है । (२) शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा में स्थिर होने के बदले पर में आसक्तिभाव से रमना अविरति है । (३) निर्मल स्वभाव में न रुककर मलिन उपयोग में रुकना कषाय है तथा (४) निश्चल निष्कम्प स्वभाव में न रुककर कम्पन में रुकना योग है । ये चारों ही अज्ञानमय भाव हैं ।

अब कहते हैं कि जिसको आत्मा का सम्यक्भान हुआ, उसका मिथ्यात्व गया, आंशिक स्थिरता हुई, मिथ्यात्व सम्बन्धी कषाय गई और मिथ्यात्व सम्बन्धी योगप्रवृत्ति भी चली गई । अहाहा....! जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ चारों ही अज्ञानमय भाव यथायोग्य टल गए । सम्यग्दृष्टि की स्वभाव पर दृष्टि है, अतः उसकी स्वभावदृष्टि में उक्त चारों ही भाव टल गये हैं ।

वस्तु में या द्रव्यस्वभाव में अज्ञान नहीं है, मिथ्यात्व नहीं है, अविरति नहीं है, कषाय नहीं है और योग नहीं हैं । इसकारण जिसको द्रव्यदृष्टि हुई है – ऐसे समकिती की दृष्टि में भी चारों ही भाव नहीं हैं । सम्यग्दृष्टि को सदा ज्ञानभाव है तथा ज्ञानभाव में अज्ञानमय भावों का कर्त्ता-कर्मपना नहीं होता । समकिती को अल्प विकार के परिणाम होते

अवश्य हैं, परन्तु वह उनका स्वामी नहीं है, कर्त्ता नहीं है, वह तो मात्र उनका ज्ञाता ही है । अज्ञानी आत्मा के भान विना उक्त चारों ही भावों से युक्त है ।

यही बात यहाँ कही गई है कि तत्त्वों के अज्ञान के कारण अज्ञान-रूप से ज्ञान में स्वाद आता हुआ अज्ञान का उदय है । मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग का उदय होता है अथवा उक्त चारों में जैसे (नवीन) कर्म के उदय का हेतुपना होता है, उसीप्रकार का अज्ञानमय भाव अज्ञानी को होता है ।

आत्मा तो शुद्ध चिदानन्द वस्तु है । उसकी प्रतीति के विना ज्ञान में तत्त्व की भ्रान्तिरूप जो स्वाद आता है, वह कलुषित है, आकुलतामय है तथा उसमें मिथ्यात्व के उदय का निमित्त है । उसीप्रकार विषयों में आसक्तिरूप असंयम का मलिन उपयोगरूप कषाय का एवं शुभाशुभ प्रवृत्ति या निवृत्ति के व्यापाररूप योग का जो ज्ञान में स्वाद आता है, वह भी कलुषित है, आकुलतामय दु:खरूप है और उसमें अविरति आदि पूर्व कर्म के उदय की निमित्तता है ।

अब यहाँ पर सिद्ध करना है कि पुराना कर्म का उदय नवीन कर्म के वन्ध का कारण होता है । मिथ्यात्व, अविरति आदि जो पूर्ववद्ध कर्म हैं, उनका उदय नवीन वन्ध के कारण हैं; परन्तु जो जीव स्वयं मिथ्यात्व, अविरति आदि अज्ञानभावरूप से परिणमित होते हैं, उनको ही पूर्व कर्म का उदय निमित्त कहा जाता है । भाई ! वात थोड़ी सूक्ष्म है, वीतराग-सर्वज्ञ का मार्ग अलौकिक है । लोगों को यह सुनने को नहीं मिला, इसकारण कठिन पड़ता है; परन्तु सुनते-सुनते सव सुलभ हो जाता है ।

आचार्य यहाँ कहते हैं कि जो पुराने कर्म का उदय अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग का उदय है, वह नवीन कर्मवन्ध का कारण है; परन्तु जो स्वयं अज्ञानभाव से परिणमता है, उसे ही उक्त चारों प्रकार का पुराना कर्मोदय कारण कहा जाता है । ज्ञानी को पुराने कर्म का उदय नवीन कर्मवन्ध में कारण नहीं होता, क्योंकि वह स्वामीपने उदय में नहीं जुड़ता, इसकारण उसका पुराना कर्म तो उदय में आकर खिर जाता है और नवीन वँधता नहीं है ।

कलशटीका में भी यही वात कही है कि मात्र उदय वन्धन का कारण नहीं है । मात्र उदय से यदि वन्ध हो, तो फिर कभी मोक्ष हो ही नहीं सकेगा ।

यहाँ इतना विशेष जानना कि एक समय में तीन बातें होती हैं –

(१) दर्शनमोहादि कर्मों का उदय,

(२) उसी समय नवीन कर्मों का बन्ध,

(३) और उसी समय अज्ञानी जीव का स्वयं मिथ्यात्वादि भावरूप से परिणमना।

अज्ञानी के पुराने कर्म का उदय नवीन बन्ध में निमित्त कहा जाता है तथा जो मिथ्यात्व का भाव न करे, उसे उस समय जो पुराना कर्म का उदय हुआ, वह नवीन बन्ध किये बिना ही खिर जाता है।

अब कहते हैं कि देखो, पौद्गलिक मिथ्यत्वादि के उदयकाल में जो नवीन कर्म बँधते हैं, वे स्वयमेव परिणमते हैं। नवीन कर्म स्वतन्त्रपने से परिणमता है, पुराने कर्म का उदय उसे नहीं परिणमता। सब अपने-अपने परिणमन में पूर्ण स्वतंत्र हैं।

(१) पूर्व कर्म का उदय स्वतन्त्र,

(२) उसके उदयकाल में जो नया कर्म बँधा, वह भी स्वतन्त्र तथा

(३) उस समय जीव जो मिथ्या श्रद्धानरूप परिणमता है, वह भी स्वतंत्र।

जब अज्ञानी जीव ऐसा मिथ्याश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव करता है कि राग मेरी चीज है, मेरा कर्त्तव्य है, तब उसका वह भाव नवीन कर्मबन्ध में निमित्त होता है, उस पुराने कर्म को नवीन कर्मबन्ध का निमित्त कहा जाता है। बात थोड़ी सूक्ष्म है।

आचार्य यहाँ कहते हैं कि पुराना कर्म भी स्वतन्त्र, नवीन बंध भी स्वतन्त्र और दोनों के बीच राग-द्वेष व अज्ञानभाव से परिणमन करता हुआ जीव का परिणाम भी स्वतंत्र।

देखो, कर्म का उदय आया, इसकारण जीव मिथ्यात्वादिरूप परिणमा हो – ऐसा नहीं है। बल्कि ऐसा है कि जीव मिथ्यात्वादि भावों को अपनी वर्तमान योग्यता से स्वतन्त्रपने करता है और उसी समय नवीन कर्म भी अपनी योग्यता से स्वतंत्रपने बँधते हैं। इसप्रकार पुराना कर्म का उदय भी स्वतंत्र है। उसके उदय के काल में जीव अपने शुद्ध चैतन्य

स्वरूप की दृष्टि करे, तो आया हुआ उदय छूट जाता है, नवीन बन्धन में हेतु नहीं होता।

अहो! समयसार!! खूब गंभीर बात है भाई! पंचमकाल में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने तीर्थंकरतुल्य काम किया है और आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने गणधर तुल्य। श्री कुन्दकुन्ददेव को नमस्कार करते हुए श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है– "हे कुन्दकुन्दादि आचार्य! आपके वचन आत्मस्वरूप के अनुसंधान में हेतुभूत हुए हैं– इसकारण आपको भक्तिभाव से नमस्कार हो।"

आत्मा शुद्ध पवित्र ज्ञान व आनन्द का पिण्ड प्रभु है। अहाहा····! रागरहित वीतरागस्वभावी निर्विकल्पस्वरूप निज आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का जो अनुभव करते हैं, उनके पुराने कर्म का उदय नवीन कर्मबन्धन में कारण नहीं होता; परन्तु जो जीव पुराने कर्मोदय में जुड़कर मिथ्यात्व व राग-द्वेष का भाव करते हैं, उनको पुराने कर्म का उदय नवीन कर्मबन्ध का कारण होता है।

भाई! यह वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञ बादशाह का अलौकिक मार्ग है। अहा! दिगम्बर मुनिवर भी धर्म के अचल स्तंभ हैं। उन्हें किसी की परवाह नहीं है, अत्यन्त निर्भयता से वस्तु के यथार्थस्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। बाहर में तो नग्न (अपरिग्रही) हैं ही, अंतरंग में भी विकारों से सर्वथा नग्न (रहित) हैं। उन्हें बड़े-बड़े बादशाहों की परवाह नहीं है।

अहाहा····! जङ्गल में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की उर्मियों में मग्न रहते-रहते जरा-सा विकल्प आया कि यह (समयसार) शास्त्र बन गया। उन्हें तो इस शास्त्र को संभालने की भी परवाह नहीं थी। जब विकल्प आया, तो जंगल में पड़े सूखे ताड़पत्रों पर कठोर-पैनी लकड़ी आदि की सलाई से शास्त्र लिख दिया और विहार का विकल्प आया, तो शुद्धि और संयम के उपकरण पीछी-कमण्डल को उठाकर अन्यत्र चले गये। वहाँ के वासी किसी गृहस्थ ने एकत्रित कर अध्ययन-अध्यापन के प्रयोजन से किसी मन्दिर में विराजमान कर दिया। यह समयसार इसी प्रकार लिखा गया शास्त्र है, जो हमारे महान सद्भाग्य से सातिशय अखंड पुण्योदय से सम्पूर्ण – अखण्डरूप से हमें मिल गया है।

मुनिराज प्रमत्त-अप्रमत्त (छठवें-सातवें) गुणस्थान में झूलते हैं। शास्त्र लिखते-लिखते भी अतीन्द्रिय आनन्द की दशा आ जाती है। विहार

में चलते-चलते भी निर्विकल्प स्वरूप में मग्न हो जाते हैं। अल्प निद्रा होती है और तुरन्त जागृत हो जाते हैं एवं आनन्द में मग्न हो जाते हैं। अहो! मुनिदशा ऐसी अद्भुत्-अलौकिक होती है। पंचपरमेष्ठी में उनका स्थान है। सिद्धान्त में – शास्त्रों में उन्हें सर्वज्ञ का नन्दन (पुत्र) कहा है। गौतम गणधर सर्वज्ञ के पुत्र हैं – ऐसा शास्त्रों में कथन है, क्योंकि वह सर्वज्ञ पद के उत्तराधिकारी हैं। सर्वज्ञपद प्राप्त करने की उनकी तैयारी हो गई है। अहा! वे आन्तरिक आनन्द में जम गये हैं। उनकी वह अलौकिक दशा धन्य है।

यहाँ कहते हैं कि पुराना कर्म का उदय इन मुनिवरों को नवीन कर्मबन्धन का हेतु नहीं है; परन्तु कर्मोदय के निमित्त से स्वयं राग द्वेष-मोह भाव से परिणमित हुए अज्ञानी को पुराने कर्म का उदय नवीन कर्मबन्धन का कारण होता है।

पौद्गलिक मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्म का उदय निमित्तभूत होने पर रागादिभाव स्वयमेव अपनी योग्यता से होते हैं तथा रागादिभावों का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणाओं के आने से पुद्गलद्रव्य स्वयमेव कर्मभाव से परिणमित होता है और जीव के साथ निवद्ध हो जाता है अर्थात् जब द्रव्यकर्म का उदय आता है, तब जीव तत्समय की अपनी योग्यता से स्वयमेव अपने अज्ञानमय भावों का हेतु होता है। कर्म के उदय के कारण जीव को विकारी भाव हुआ हो – ऐसा नहीं है। जीव स्वयं ही अज्ञान से स्व-पर के एकत्व के अध्यास से मिथ्यात्वादि भावों का हेतु होता है।

शुद्ध ज्ञायक आत्मा तो स्व है और राग पर है – अज्ञानी को अनादि से इन दोनों के एकत्व का अध्यास है। इस सन्दर्भ में यहाँ यह कहते हैं कि पुराने कर्म के उदयकाल में जव नवीन कर्म जीव में बँधता है, तब स्व-पर के एकत्व के अध्यास के कारण जीव स्वयमेव तत्त्व-अश्रद्धान आदि अपने अज्ञानमय भावरूप से परिणमता है और उन भावों का स्वयं ही हेतु होता है। नये कर्मबन्ध में जीव हेतु नहीं है।

पुराने कर्म का जो उदय आया, वह नवीन कर्मवन्धन में हेतु है; क्योंकि अज्ञानी जीव जब त्रिकाली शुद्ध चैतन्य के साथ क्षणिक राग के भाव को एक मानकर परिणमता है, तव उसे पुराने द्रव्यकर्म का उदय निमित्त होता है और उस रागादि से नवीन कर्मवन्ध होता है। इसप्रकार पुराना कर्म नवीन कर्मबन्ध का कारण होता है। विकार का परिणाम जीव

का स्वभाव नहीं है, इसलिए यह कहा है कि पुराना कर्म का उदय नवीन कर्मवन्ध का हेतु है; परन्तु जो अपने चैतन्यस्वभाव को भूलकर विभावरूप से परिणमते हैं – ऐसे मिथ्यादृष्टियों को ही पुराना कर्म का उदय नवीन कर्मवन्ध का हेतु वनता है।

गाथा १३२ से १३६ तक के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, कर्म का उदय आता है, इसकारण जीव को विकार करना ही पड़ता है – यह सत्य नहीं है। कर्म नष्ट हो, तो धर्म हो – यह बात भी यथार्थ नहीं है। विकाररूप से जोव स्वयं परिणमता है तथा धर्म का परिणाम भी स्वयं अपनी योग्यता से प्रगट होता है। कर्म का निमित्त भले हो; परन्तु जीव का परिणाम स्वयं अपने से होता है। जीव स्वयमेव अपने अज्ञानभाव से विकारीभावरूप मिथ्यात्वादि राग-द्वेष-मोहरूप से परिणमता है और इसप्रकार अपने अज्ञानमय भावों का कारण स्वयं ही होता है।

जो पुराने कर्म का उदय आता है, वह स्वतंत्रपने आता है, उस समय पुद्गलों का जो नवीन कर्मरूप परिणाम होता है और बंध होता है, वह भी स्वतंत्र है। तीनों एक ही समय में होते हैं, परन्तु सब अपनी-अपनी योग्यता से परिणमते हैं; कोई किसी के कारण नहीं परिणमत

.... करमकौ साखी है

जगमें अनादिकौ अग्यानी कहै मेरौ कर्म,
करता मैं याकौ किरियाकौ प्रतिपाखी है।

अंतर सुमति भासी जोगसौं भयौ उदासी,
ममता मिटाइ परजाइ बुद्धि नाखी है॥

निरभै सुभाव लीनौ अनुभौ के रस भीनौ,
कीनौ विवहारद्रष्टि निहचैमें राखी है।

भरमकी डोरी तोरी धरमकौ भयौ धोरी,
परमसौं प्रीत जोरी करमकौ साखी है॥४॥

—समयसार नाटक, कर्त्ता-कर्म-क्रिया द्वार

समयसार गाथा १३७-१३८

जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः :—

जइ जीवेण सह च्चिय पोग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो ।
एवं पोग्गलजीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ।। १३७ ।।

एकस्सदु परिणामो पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ।। १३८ ।।

यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः ।
एवं पुद्गलजीवौ खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ।। १३७ ।।

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि पुद्गलद्रव्य का परिणाम जीव से भिन्न ही है :—

जो कर्मरूप परिणाम, जीव के साथ पुद्गल का बने ।
तो जीव अरु पुद्गल उभय ही, कर्मपन पावे अरे ! ।। १३७ ।।

पर कर्मभावों परिणमन है, एक पुद्गलद्रव्य के ।
जीवभावहेतू से अलग, तब कर्म के परिणाम हैं ।। १३८ ।।

गाथार्थ :— [**यदि**] यदि [**पुद्गलद्रव्यस्य**] पुद्गलद्रव्य का [**जीवेन सह चैव**] जीव के साथ ही [**कर्मपरिणामः**] कर्मरूप परिणाम होता है (अर्थात् दोनों मिलकर कर्मरूप से परिणमित होते हैं) — ऐसा माना जाये तो [**एवं**] इसप्रकार [**पुद्गलजीवौ द्वौ अपि**] पुद्गल और जीव दोनों ही [**खलु**] वास्तव में [**कर्मत्वम् आपन्नौ**] कर्मत्व को प्राप्त हो जायें। [**तु**] परन्तु [**कर्मभावेन**] कर्मभाव से [**परिणामः**] परिणाम तो [**पुद्गलद्रव्यस्य एकस्य**] पुद्गलद्रव्य के एक के ही होता है [**तत्**] इसलिये [**जीवभावहेतुभिः विना**] जीवभावरूप निमित्त से रहित ही अर्थात् भिन्न ही [**कर्मणः**] कर्म का [**परिणामः**] परिणाम है ।

एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन ।
तज्जीवभावहेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥ १३८ ॥

यदि पुद्गलद्रव्यस्य तन्निमित्तभूतरागाद्यज्ञानपरिणतजीवेन सहैव कर्मपरिणामो भवतीति वितर्कः, तदा पुद्गलद्रव्यजीवयोः सहभूतहरिद्रासुधयोरिव द्वयोरपि कर्मपरिणामापत्तिः । अथ चैकस्यैव पुद्गलद्रव्यस्य भवति कर्मत्वपरिणामः, ततो रागादिजीवाज्ञानपरिणामाद्धेतोः पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणामः ।

टीका :- यदि पुद्गलद्रव्य के कर्मपरिणाम के निमित्तभूत ऐसे रागादि अज्ञानपरिणाम से परिणत जीव के साथ ही (अर्थात् दोनों मिलकर ही) कर्मरूप परिणाम होता है, ऐसा तर्क उपस्थित किया जावे तो, जैसे मिली हुई फिटकरी और हल्दी का – दोनों का लाल रंगरूप परिणाम होता है, उसीप्रकार पुद्गल और जीवद्रव्य – दोनों के कर्मरूप परिणाम की आपत्ति आ जावे; परन्तु एक पुद्गलद्रव्य के ही कर्मत्वरूप परिणाम होता है, इसलिये जीव का रागादि अज्ञानपरिणाम जो कि कर्म का निमित्त है, उससे भिन्न ही पुद्गलकर्म का परिणाम है ।

भावार्थ :- यदि यह माना जाये कि पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य दोनों मिलकर कर्मरूप परिणमते हैं, तो दोनों के कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो; परन्तु जीव तो कभी भी जड़ कर्मरूप नहीं परिणम सकता; इसलिये जीव का अज्ञानपरिणाम जो कि कर्म का निमित्त है, उससे अलग ही पुद्गलद्रव्य का कर्मपरिणाम है ।

गाथा १३७-१३८ की उत्थानिका, गाथा, टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ आचार्यदेव यह कह रहे हैं कि जीव के राग-द्वेष के कारण कर्मों का वन्ध नहीं होता, वल्कि जव जीव स्वयं स्वतः राग का परिणाम स्वतंत्रपने करता है, तव उसी समय जड़कर्मों का वन्ध भी स्वतः स्वयं स्वतंत्रपने होता है । जीव व पुद्गल मिलकर कर्म का बन्ध नहीं होता ।

जव पुद्गल द्रव्य स्वयं स्वतः नवीन कर्मरूप से परिणमन करता है, तव उसमें जीव के रागादि परिणाम निमित्त होते हैं । यद्यपि जव जीव राग-

द्वेष करता है, उसीसमय नवीन कर्म का बन्ध होता है; तथापि जीव के परिणाम व पुद्गलकर्म की पर्यायों के मिलने से कर्मबन्ध नहीं होता। दोनों का परिणमन स्वतंत्र है। अज्ञानी जो राग-द्वेष के परिणाम करता है, वे परिणाम नवीन कर्मबन्ध में निमित्त होते हैं, परन्तु उन दोनों के मिलने से एक जड़कर्म का परिणाम नहीं होता, पुद्गलद्रव्य व जीव के रागादि परिणाम दोनों मिलकर कर्मरूप परिणाम उत्पन्न करते हैं – यह मानना मिथ्या है, क्योंकि यदि ऐसा माना जायेगा, तो जैसे हल्दी और फिटकरी (पीला व सफेद) मिलकर एक लालरंग हो जाता है, उसीप्रकार पुद्गलद्रव्य व जीवद्रव्य दोनों को ही कर्मरूप होना पड़ेगा, जीव जीवरूप नहीं रह सकेगा ?

देखो, यह जो अंगुली हिलती है, यह पुद्गल की पर्याय है, उससमय तत्सम्बन्धी जो विकल्प हुआ – वह विकल्प जीव की पर्याय है। दोनों मिलकर अंगुली हिलाने की क्रिया नहीं करते। पुद्गल की पर्याय पुद्गल से स्वतंत्रपने हुई एवं जीव की पर्याय जीव से स्वतंत्ररूप से हुई है, फिर भी अज्ञानी ने ऐसा मान लिया है कि विकल्प तो मैं ही करता हूँ, अंगुली की अवस्था भी मैं ही करता हूँ। यही उसका अज्ञान है, क्योंकि किसी अन्य द्रव्य के परिणाम को कोई अन्य द्रव्य कर ही नहीं सकता। समय-समय में प्रत्येक द्रव्य के परिणाम स्वयं स्वतंत्ररूप से अपने-अपने कारण से होते हैं।

पुद्गलद्रव्य व जीवद्रव्य मिलकर कर्मरूप परिणमन करते हैं, यदि ऐसा माना जाये, तो दोनों कर्मरूप हो जायेंगे, जीव जीवरूप नहीं रह सकेगा। कर्मरूप परिणाम अकेले पुद्गलद्रव्य का ही है। जीव का कर्मपने से परिणमन नहीं होता, क्योंकि जीव कभी भी जड़रूप से परिणमन नहीं कर सकता। अतः नवीन कर्म का जो बन्ध होता है, वह पुद्गलद्रव्य का ही परिणाम है, दोनों का मिश्रित परिणाम नहीं है।

तात्पर्य यह है कि पुद्गलद्रव्य व जीवद्रव्य मिलकर कर्मरूप परिणमते हैं – यदि ऐसा माना जायेगा, तो दोनों को कर्मरूप होने का प्रसंग प्राप्त होगा, जो संभव नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रत्येक द्रव्य का परिणाम स्वतंत्र है, परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होते हुए भी एक दूसरे के साथ कर्त्ता-कर्मपना नहीं है।

समयसार गाथा १३९-१४०

पुद्गलद्रव्यात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणाम :-

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी ।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा ।। १३९ ।।

एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ।। १४० ।।

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवंति रागादयः ।
एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने ।। १३९ ।।

एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः ।
तत्कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः ।। १४० ।।

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि जीव का परिणाम पुद्गलद्रव्य से भिन्न ही है :-

जीव के करम के साथ ही, जो भाव रागादिक बने ।
तो कर्म अरु जीव उभय ही, रागादिपन पावें अरे ।। १३९ ।।

पर परिणमन रागादिरूप तो, होत है जीव एक के ।
इस से हि कर्मोदयनिमित से, अलग जीव परिणाम है ।। १४० ।।

गाथार्थ :- [जीवस्य तु] यदि जीव के [कर्मणा च सह] कर्म के साथ ही [रागादयः परिणामाः] रागादि परिणाम [खलु भवन्ति] होते हैं (अर्थात् दोनों मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं) ऐसा माना जाये [एवं] तो इसप्रकार [जीवः कर्म च] जीव और कर्म [द्वे अपि] दोनों [रागादित्वम् आपन्ने] रागादिभाव को प्राप्त हो जायें [तु] परन्तु [रागादिभिः परिणामः] रागादिभाव से परिणाम तो [जीवस्य एकस्य] जीव के एक के ही [जायते] होता है [तत्] इसलिये [कर्मोदयहेतुभिः विना] कर्मोदयरूप निमित्त से रहित ही अर्थात् भिन्न ही [जीवस्य] जीव का [परिणामः] परिणाम है ।

यदि जीवस्य तन्निमित्तभूतविपच्यमानपुद्गलकर्मणा सहैव रागाद्यज्ञानपरिणामो भवतीति वितर्कः, तदा जीवपुद्गलकर्मणोः सहभूतसुधाहरिद्रयोरिव द्वयोरपि रागाद्यज्ञानपरिणामापत्तिः । अथ चैकस्यैव जीवस्य भवति रागाद्यज्ञानपरिणामः, ततः पुद्गलकर्मविपाकाद्धेतोः पृथग्भूतो एव जीवस्य परिणामः ।

टीका :– यदि जीव के, रागादि अज्ञानपरिणाम के निमित्तभूत उदयागत पुद्गलकर्म के साथ ही (दोनों एकत्रित होकर ही) रागादि अज्ञानपरिणाम होता है – ऐसा तर्क उपस्थित किया जाये, तो जैसे मिली हुई फिटकरी और हल्दी का – दोनों का लाल रंगरूप परिणाम होता है, उसीप्रकार जीव और पुद्गलकर्म दोनों के रागादि अज्ञानपरिणाम की आपत्ति आ जावे, परन्तु एक जीव के ही रागादि अज्ञानपरिणाम तो होता है; इसलिये पुद्गलकर्म का उदय जो कि जीव के रागादि अज्ञानपरिणाम का निमित्त है, उससे भिन्न ही जीव का परिणाम है ।

भावार्थ :– यदि यह माना जाये कि जीव और पुद्गलकर्म मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं, तो दोनों के रागादिरूप परिणाम सिद्ध हों; किन्तु पुद्गलकर्म तो रागादिरूप (जीवरागादिरूप) कभी नहीं परिणम सकता; इसलिये पुदगलकर्म का उदय जो कि रागादिपरिणाम का निमित्त है, उससे भिन्न ही जीव का परिणाम है ।

गाथा १३९-१४० की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

यद्यपि जीव को जो रागादिरूप अज्ञान परिणाम होते हैं, उनमें पूर्वबद्ध कर्म का उदय निमित्त होता है; परन्तु यहाँ यह बात नहीं है । यहाँ तो यह कह रहे हैं कि जीव को जो राग-द्वेष परिणाम होते हैं, वे जीव व पूर्व के कर्मो से मिलकर नहीं होते । फिर भी यदि कोई ऐसा मानेगा, तो उसकी मान्यता में जीव व कर्म को हल्दी, चूने से मिलकर बने हुए लाल रंग की तरह दोनों को रागी हो जाना पड़ेगा और कर्म कर्मरूप नहीं रहेगा । जड़ पुद्गल को भी रागी-द्वेषी होने का प्रसंग प्राप्त होगा; परन्तु वस्तुस्वरूप में ऐसा नहीं है ।

राग-द्वेष के परिणाम जीव स्वतंत्रपने करता है और उससमय नवीन कर्म भी स्वतंत्ररूप से बँधते हैं तथा पूर्वबद्ध कर्मोदयरूप पुद्गल की पर्याय भी स्वतंत्रपने से होती है । जब जीव स्वयं राग-द्वेषरूप से परिणमता

है, तब पूर्वबद्ध कर्म का उदय निमित्त होता है; परन्तु दोनों मिलकर राग-द्वेष के परिणाम नहीं करते। जीव स्वयं भी राग-द्वेष के परिणाम करे ऐसा कैसे हो सकता है? अरे भाई! जीव के परिणाम भिन्न हैं और तत्समय उदय में आये जड़कर्म के परिणाम भिन्न हैं। विकारी परिणाम अपने षट्कारकरूप परिणमन से स्वतंत्र होते हैं। उन्हें अन्य की कोई अपेक्षा नहीं है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि कर्म का उदय राग-द्वेष कराता है। ऐसा मानने से अज्ञानी स्वच्छन्दरूप से विषय-कषाय का सेवन करता है, क्योंकि वह इस पापप्रवृत्ति में अपना दोष नहीं देखता, अपना दोष कर्म के माथे मढ़ देता है। ऐसी मान्यता को तोड़ने के लिए आचार्य यहाँ कहते हैं कि भाई! कर्म का उदय तुझे राग-द्वेष नहीं कराता, तू स्वयं ही अपने अज्ञान से उसरूप परिणमन करता है। अपने विपरीत पुरुषार्थ से तू स्वयं ही अज्ञान के कारण विषय-कषायरूप परिणमता है, उसका परिणाम तुझे ही भोगना पड़ेगा।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि जीव व पुद्गल कर्म – दोनों के मिलने से जीवों को विकार नहीं होता। जीव अकेला ही राग-द्वेषरूप से परिणमता है, इसमें कर्म क्या करे? कर्म तो जड़ है, वह जीव को रागादिरूप कैसे परिणमा सकता है? कहा भी है –

"कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।"

जगत का प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य-गुण-पर्यायरूप परिणमन करने में पूर्ण स्वतंत्र है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि कर्म का उदय आवे, तो जीव को विकार करना ही पड़ेगा और जीव के विकारी परिणाम हुये हैं, इसकारण कर्मों को बंधना ही पड़ेगा – ऐसा भी नहीं है।

जैसे सफेद फिटकरी और पीली हल्दी के मिलने से लाल रंग होता है, वैसे ही यदि जीव और कर्म मिलकर जीव के राग-द्वेष को करने लगें, तो दोनों का ही राग-द्वेषरूप परिणमन हो जायेगा; परन्तु अकेले जीव को ही राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, कर्म को राग-द्वेष नहीं होते। कर्म का उदय तो जड़ – पुद्गल की पर्याय है और राग-द्वेष जीव की विकारी पर्याय है, इसकारण कर्म के उदय से जीव को राग-द्वेष का परिणाम होता है – यह बात यथार्थ नहीं है। अपने अज्ञान से जीव स्वयं ही राग-द्वेषरूप से परिणमता है और उसमें कर्म का उदय मात्र निमित्त होता है। कर्मोदय जीव के विकारी होने में निमित्त होता है, परन्तु उनसे जीव का परिणाम भिन्न ही है। यहाँ दो बातें सिद्ध की है।

(१) जब जीव स्वयं में स्वयं से स्वतन्त्ररूप से राग-द्वेष करता है, तब जो नवीन पुद्‌गल कर्मरूप से परिणमता है, उन्हें जीव व पुद्‌गल मिलकर नहीं परिणमाते। जीव स्वयं ही विकारीभाव करता है, कर्म उसमें कारण नहीं हैं तथा पुद्‌गल भी कर्मरूप स्वयं ही परिणमते हैं। कर्मरूप परिणाम को जीव के राग-द्वेष एवं पुद्‌गल – दोनों मिलकर परिणमाते हों – ऐसा नहीं है।

(२) जब जीव स्वयं राग-द्वेष के परिणामरूप परिणमता है, तब कर्म का उदय उसमें निमित्त अवश्य होता है; परन्तु निमित्त उस परिणाम के कर्त्ता नहीं है। निमित्त कभी भी किसी कार्य का कर्त्ता नहीं होता है।

अहाहा ····! कितनी स्पष्ट बात है। देखो! यह लकड़ी जो ऊँची हुई है, यह एक क्रिया है, जो कि लकड़ी के परमाणुओं में स्वतंत्रपने हुई है। यह क्रिया लकड़ी व अंगुली से मिलकर हुई हो – ऐसी बात नहीं है और यह क्रिया लकड़ी व जीव से मिलकर भी नहीं हुई है। भाई! बात बहुत गम्भीर है, परन्तु वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि वस्तु की एक-एक समय की पर्याय स्वतंत्र स्वयं से होती है, अन्य से नहीं।

सेठों को ऐसी बातें सुनने की फ़ुरसत कहाँ है? जैसे छप्पर की बल्ली में अनेक कीलें ठोकी (लगाई) जाती हैं, उसीप्रकार बाहर के बड़प्पन में अटके हुए विचारे सेठियों को भी ममता के अनेक कीले (शल्यें) लगी हैं, ये तत्त्वों का निर्णय कब और कैसे करें?

यहाँ कहते हैं कि कर्म अजीव तत्त्व हैं, रागादिभाव आस्रव तत्त्व हैं, दोनों तत्त्व भिन्न हैं। अजीव व आस्रव मिलकर जीव के आस्रव परिणाम करते हों – ऐसा नहीं है। यहाँ नवतत्त्व की भिन्नता समझाई है। अरे भाई! एक तत्त्व का एक अंश भी दूसरे तत्त्व में मिलाने से नवतत्त्वों का ही नाश हो जायेगा, नवतत्त्व भिन्न-भिन्न नहीं रहेंगे। जड़ का अंश जीव को विकार कराये या जीव का अंश जड़ का कुछ करे – ऐसा तीन काल में कभी संभव नहीं है।

जिसे वर्तमान में भिन्न-भिन्न तत्त्वों का ज्ञान नहीं है, उसको अपने शुद्ध ज्ञायकभाव की दृष्टि कहाँ से हो सकेगी? अहा ····! पर्याय की स्वतंत्रता का जिसको ज्ञान नहीं है, उसे पर्याय के आधारभूत सम्पूर्ण त्रिकाली ध्रुवतत्त्व भगवान आत्मा जो चैतन्यस्वरूप से रह रहा है, उसकी प्रतीति कहाँ से हो, कैसे हो? नवतत्त्व की भिन्नता समझकर एक शुद्ध ज्ञायक की प्रतीति – अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है।

गाथा १३९-१४० के भावार्थ पर प्रवचन

यद्यपि पुद्गल कर्म का उदय जीव के रागपरिणाम की उत्पत्ति में निमित्त होता है, तथापि उसके कारण राग-द्वेष के परिणाम नहीं होते; क्योंकि निमित्त से राग-द्वेष नहीं होते। दूसरा पदार्थ उस कार्य के परिणमन में निमित्त होता तो है, पर निमित्त कर्त्ता नहीं होता। निमित्त तो उस समय स्वयं अपनी पर्याय का कर्त्ता होता है। पर की पर्याय में निमित्त का कोई अधिकार या हस्तक्षेप नहीं चलता।

जगत में अनन्त आत्मायें हैं और अनन्तानन्त पुद्गल हैं। उन एक-एक द्रव्य में भी अनन्त-अनन्त गुण हैं। उन एक-एक गुण की एक-एक समय की एक-एक पर्याय स्वयं से स्वतंत्रपने होती है। एक गुण की पर्याय दूसरे गुण की पर्याय के कारण नहीं होती। जब ऐसी बात है, तो फिर जड़कर्म के उदय के कारण जीव में विकार होता है – यह बात ही कहाँ रहती है ?

पूर्वबद्ध कर्म का उदय जड़ पुद्गल की पर्याय है और आत्मा में जो विकार होता है, वह चैतन्य की विकारी पर्याय है। यदि कर्म का उदय और जीव – दोनों के मिलने से जीव के राग-द्वेष का परिणाम होता है – ऐसा माने तो, जीव व पुद्गल कर्म दोनों को राग-द्वेष के परिणाम होंगे, परन्तु ऐसा तो तभी संभव होगा जबकि पुद्गल स्वयं जीव हो जावे; परन्तु पुद्गल कभी भी जीवत्व को प्राप्त नहीं होता, इसलिए यह मान्यता ठीक नहीं है कि कर्म का उदय जीव को विकार कराता है। जब जीव स्वयं विकाररूप परिणमता है, तब उसीसमय कर्म का उदय निमित्तरूप होता तो है, परन्तु वह जीव में विकार नहीं कराता।

जैसे किन्हीं दो व्यक्तियों के बीच में झगड़ा हो जाय, तो दोनों को ही दुःख होता है। उसीप्रकार यहाँ भी जीव व पुद्गल – दोनों के मिलने से राग-द्वेष का परिणाम होता है ऐसा कोई कहे, तो यह सर्वथा असत्य है। कार्माणवर्गणागत पुद्गल स्वयं नवीन कर्मरूप से बँध को प्राप्त होते हैं और उसमें जीव के राग-द्वेष के परिणाम निमित्त होते हैं तथा जीव स्वयं राग-द्वेषरूप से परिणमता है, उसमें पूर्वबद्ध कर्म का उदय निमित्त होता है। बस इतना ही दोनों का सम्बन्ध है। कर्म का उदय व जीव दोनों मिलकर जीव को परिणमाते हैं – ऐसा यदि कोई माने, तो उसकी मान्यता झूठी है।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि पुद्गल कर्म से जीव का परिणाम भिन्न ही है।

समयसार गाथा १४१

किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति नयविभागेनाह –

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं ।। १४१ ।।

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितम् ।
शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म ।। १४१ ।।

जीवपुद्गलकर्मणोरेकबंधपर्यायत्वेन तदात्वे व्यतिरेकाभावाज्जीवे बद्धस्पृष्टं कर्मेति व्यवहारनयपक्षः जीवपुद्गलकर्मणोरनेकद्रव्यत्वेनात्यंतव्यतिरेकाज्जीवेऽबद्धस्पृष्टं कर्मेति निश्चयनयपक्षः ।

अब यहाँ नयविभाग से यह कहते हैं कि 'आत्मा में कर्म बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट है' –

है कर्म जीव में बद्धस्पृष्ट – जु कथन यह व्यवहारका ।
पर बद्धस्पृष्ट न कर्म जीव में – कथन है नय शुद्धका ।। १४१ ।।

गाथार्थ :– [जीवे] जीव में [कर्म] कर्म [बद्धं] (उसके प्रदेशों के साथ) बँधा हुआ है [च] तथा [स्पृष्टं] स्पर्शित है [इति] ऐसा [व्यवहारनयभणितम्] व्यवहारनयका कथन है [तु] और [जीवे] जीव में [कर्म] कर्म [अबद्धस्पृष्टं] अबद्ध और अस्पर्शित [भवति] है, ऐसा [शुद्धनयस्य] शुद्धनय का कथन है ।

टीका :– जीव को और पुद्गलकर्म को एकबन्धपर्यायपने से देखने पर उनमें उस काल में भिन्नता का अभाव है, इसलिये जीव में कर्म बद्धस्पृष्ट है, ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है । जीव को तथा पुद्गलकर्म को अनेकद्रव्यपने से देखने पर उनमें अत्यन्त भिन्नता है, इसलिये जीव में कर्म अबद्धस्पृष्ट है, यह निश्चयनय का पक्ष है ।

गाथा १४१ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

देखो, यहाँ बताते हैं कि वास्तविक तत्त्व को प्राप्त करने की रीति क्या है ? इस संदर्भ में व्यवहार व निश्चयनय के दो पक्षों का उल्लेख

करते हुए पहले व्यवहारनय के पक्ष का कथन करते हैं। ज्ञानस्वरूपी चैतन्यमय प्रभु आत्मा एवं जड़ पुद्गलकर्म – इन दोनों को एक बन्धपर्याय-रूप से देखने पर अथवा दोनों को निमित्त के सम्बन्धवाली बंधपर्याय से देखने पर, उस काल में उसमें भिन्नता का अभाव है। परस्पर निमित्तरूप सम्बन्ध से देखने पर जीव एवं कर्म का सम्बन्ध न हो – ऐसी बात नहीं है। वर्तमान पर्याय से देखने पर तो दोनों के सम्बन्ध हैं ही। भगवान चैतन्यसूर्य और जड़कर्म – इन दोनों को निमित्तरूप बन्ध अवस्था से देखने पर व्यवहारनय से उससमय उसमें भिन्नता का अभाव है, इसकारण जीव में कर्म बद्धस्पृष्ट है – ऐसा व्यवहारनय का एक पक्ष है।

अब दूसरे निश्चय के पक्ष का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि जीव-द्रव्य और पुद्गलकर्म – इन दोनों को निश्चय से अनेक द्रव्यपना अर्थात् भिन्न द्रव्यपना है। शुद्ध चैतन्यस्वभावमय आत्मा और जड़स्वभाववाला पुद्गलकर्म – ये दोनों ही भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। आत्मा भिन्न है और पुद्गल भिन्न है – ऐसे भिन्न द्रव्यरूप से देखने पर दोनों में अत्यन्त भिन्नता है, दोनों एक नहीं हैं। दोनों में अत्यन्त भिन्नता होने से जीव में कर्म अबद्धस्पृष्ट है। अतः भगवान आत्मा कर्म के सम्बन्ध से रहित है – ऐसा निश्चयनय का दूसरा पक्ष है।

अहाहा ····! यहाँ कहते हैं कि आत्मा कर्म से अबद्धस्पृष्ट है – ऐसा निश्चयनय का पक्ष भी विकल्प है। कोई कहेगा कि व्यवहारनय का तो निषेध करते ही थे। अब निश्चयनय के पक्ष का भी निषेध कर रहे हैं; परन्तु निश्चयनय का पक्ष भी विकल्प है, राग है – ऐसा दर्शाने के लिए उसका भी निषेध करने की यहाँ बात की है।

प्रश्न :– यह तो ठीक, परन्तु "निश्चयनयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की" – इसका क्या अर्थ है?

उत्तर :– हाँ, २७२वीं गाथा में यह कहा है, परन्तु यह बात जुदी है और वहाँ कही गई बात जुदी है। वहाँ तो यह कहा है कि शुद्ध चैतन्यघन स्वरूप अखण्ड एक अभेद आत्मा के निर्विकल्प आश्रय से ही मुक्ति होती है और यहाँ पर जो बात कही है, वह व्यवहार और निश्चयनय के पक्षरूप विकल्पों के निषेध की बात है।

प्रारंभिक भूमिका में विचार करनेवाले आत्मार्थी पुरुष को ऐसा विकल्प आता है कि भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दघन प्रभु है, ज्ञान व आनन्द के दलस्वरूप वस्तु है और पुद्गलकर्म जड़ अचेतन अजीव वस्तु

है। दोनों में भिन्नता है, दोनों एक नहीं हैं। इसकारण भगवान आत्मा कर्म से अबद्धस्पृष्ट है – ऐसे निश्चयनय के पक्ष का विचार आता है; परन्तु ये विकल्प है, राग है और जो इस विकल्प का भी कर्त्ता बनता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

प्रभु ! बात बहुत सूक्ष्म है, जरा विचार तो कर ! निश्चयनय का, शुद्धनय का, अभेदनय का यह जो एक पक्ष है कि 'आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप प्रभु अबद्धस्पृष्ट है' यह भी एक विकल्प है। ऐसे विकल्प से साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं होती। हे भगवान ! तू यहाँ तक आया, परन्तु इससे भी क्या लाभ हुआ ? अर्थात् यहाँ भी विकल्प में ही अटक गया, निर्विकल्प आत्मा की अनुभूति नहीं हुई।

आत्मा कर्म के सम्बन्ध सहित है – ऐसे व्यवहारनय के पक्ष का, विकल्प का तो तू निषेध करता आया, परन्तु यहाँ तो इसके आगे निश्चयनय के पक्ष के निषेध की बात कही गई है। भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञानघनस्वरूप प्रभु अमृत का सागर है। ऐसे आत्मा को द्रव्यस्वभाव से देखें, तो इसके कर्म के निमित्त के सम्बन्ध का अभाव है। प्रारम्भिक भूमिका में निश्चयनय के पक्ष का विकल्प उठता है। अतः यहाँ कहते हैं कि ऐसा जो विकल्प होता है, उससे भी क्या ? ऐसे विकल्पों के साथ ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा तन्मय नहीं है, एकरूप नहीं है। प्रभु ! मैं अबद्धस्पृष्ट हूँ – ऐसी अन्तर में जो सूक्ष्म वृत्ति उठती है, वह राग का कण है और उस राग के कण के साथ भगवान आत्मा तन्मय नहीं है, तद्रूप नहीं है। वह विकल्प भी एक पक्ष है। अतः आचार्य कहते हैं कि 'तत्किम्' अर्थात् उससे क्या ? ऐसे विकल्प से आत्मा को क्या लाभ ? क्योंकि ऐसे विकल्पों से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि व्यवहार करते-करते निश्चय हो जायेगा, उन्हें इस कथन की ओर ध्यान देना चाहिए। आचार्य देव यहाँ कहते हैं कि भगवान ! तुझे हमारी बात सुनकर अच्छा नहीं लगता, परन्तु हम क्या करें ? वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। तू विचारता है कि व्यवहार करते-करते निश्चय हो जायेगा; परन्तु वस्तु का स्वरूप ही ऐसा नहीं है। आत्मार्थी की प्रारंभिक भूमिका में जो ऐसे विकल्प उठते हैं कि भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु कर्म के सम्बन्ध से रहित है, निमित्त के सम्बन्ध से रहित है, एक शुद्ध ज्ञायकभावस्वरूप है – ऐसे विकल्पों से भी आत्मा की उपलब्धि नहीं होती। ऐसे सूक्ष्म विकल्पों तक भी तू अनेक बार

आया; परन्तु इन विकल्पों में सम्यग्दर्शन कहाँ है ? यह अबद्धस्पृष्ट का जो पक्ष है, वह भी राग है, कषाय का कण है, दु:खरूप भाव है। इस कषायकण को अपना कर्तव्य माने, इससे निश्चय प्रगट होगा – ऐसा माने, तो यह भी मिथ्यादर्शन ही है। भाई ! वीतराग का मार्ग बहुत गंभीर है, थोड़ा उपयोग को स्थिर करके समझना पड़ेगा।

व्यवहारनय के पक्ष की बात का तो प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि आत्मा को पर्याय से देखने पर बद्धस्पृष्ट है – ऐसा व्यवहारनय का पक्ष तो यहाँ निषिद्ध ही है। यहाँ तो यह भी कहा जा रहा है कि विचारधारा में या चिन्तन में जो यह वृत्ति चलती है कि मैं अखण्ड आनन्दघन प्रभु अबद्धस्पृष्ट वस्तु हूँ – वह भी निषिद्ध है, क्योंकि वह भी निश्चयनय का पक्षरूप राग है। इस विकल्प के साथ चैतन्यस्वभाव तन्मय नहीं है। जबतक इस विकल्प में रुका रहेगा और इसे ही अपना कर्त्तव्य मानता रहेगा, तबतक मिथ्यादर्शन ही है।

समयसार की गाथा १४ और १५ में जो अबद्धस्पृष्ट की बात की है, वहाँ विकल्परहित निर्विकल्प आत्मा की बात है। जो भगवान आत्मा को अन्तर में अबद्धस्पृष्ट अर्थात् राग व कर्म के सम्बन्ध से रहित अकेला अबंध स्वरूप देखता है, वह जैनशासन है – ऐसा कहा है। वहाँ निर्विकल्प परिणमन की बात है और यहाँ तो अबद्धस्पृष्ट के विकल्प में जो अटका है – उसकी बात की है।

भाई ! यह त्रिलोकीनाथ जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि में आई हुई बात है। गणधर व इन्द्रों की सभा में भगवान ने जो बात कही है, वही बात यहाँ कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कही है।

आत्मा का स्वभाव ऐसा नहीं है कि जिससे ८४ लाख योनियों में जाना पड़े। उसका तो जन्म-मरणरहित अबन्ध स्वभाव है। "मैं ऐसा अबन्ध स्वभावी आत्मा हूँ" – ऐसा जो विकल्प उत्पन्न होता है, वह राग है। यद्यपि यह निश्चयनय का पक्ष है, तथापि इससे क्या ? इस विकल्प से भी आत्मा का कोई लाभ नहीं है।

जैसे राजा होने के पहले 'मुझे राजा बनना है, गद्दी पर बैठना है' – ऐसा विकल्प आता है, परन्तु जबतक ऐसा विकल्प है, तबतक वह राजा कहाँ है ? और जब राजा बन गया, तब वह विकल्प कहाँ रहा ? उसीप्रकार मैं कर्म के निमित्त के सम्बन्ध से रहित अबद्धस्पृष्टस्वरूप शुद्ध

चैतन्यमय भगवान हूँ – ऐसे सूक्ष्म विकल्प से आंगन तक आ गया; परन्तु इससे क्या ? जबतक ऐसा विकल्प रहता है, तबतक अन्तर में निजगृह में प्रवेश नहीं होता। वस्तु का निर्विकल्प अनुभव नहीं होता, क्योंकि विकल्प के साथ भगवान आत्मा तन्मय नहीं है।

प्रश्न :– क्या इसतरह कथन करने से सम्पूर्ण व्यवहार का लोप नहीं हो जायेगा ?

उत्तर :– अरे भाई ! व्यवहार का निषेध कैसे हो जायेगा ? व्यवहार व्यवहार की जगह बराबर है, उसका निषेध कौन कर सकता है ? परन्तु यहाँ बात ही अन्य है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि आत्मा का स्वरूप व्यवहार से रहित है तथा व्यवहार का लक्ष्य छोड़कर उसके पक्ष का विकल्प तोड़कर अन्तर स्वभाव का अनुभव करने पर ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

मैं दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि व्यवहार के रागसहित हूँ – ऐसा व्यवहारनय का या अभूतार्थनय का एक पक्ष है और मैं राग के सम्बन्ध से रहित हूँ, अबद्धस्पृष्ट हूँ – ऐसा भूतार्थनय का दूसरा पक्ष है। शुद्धनय कहो, निश्चयनय कहो या भूतार्थनय कहो – सब एक ही बात है। अहाहा ···· ! मैं अबद्धस्पृष्ट हूँ यह भी निश्चयनय का पक्ष या विकल्प है। ऐसे विकल्प की जो सूक्ष्म वृत्ति उठती है, वह भी बंध का कारण है। आचार्यदेव कहते हैं कि भाई ! तू यहाँ तक तो अनेक बार आया, फिर भी इससे क्या सिद्धि हुई ? इस विकल्प के होने से भगवान आत्मस्वभाव से तो तेरी भेंट हुई नहीं। अहाहा ···· ! जो आत्मा उन दोनों नयपक्षों का उल्लंघन करके स्वरूप में समाया है, वही समयसार है। यही इस सम्पूर्ण कथन का सार है।

आत्मा अन्तरंग में अबद्धस्पृष्ट है – यह तो सत्य है, यह कोई अन्य वस्तु नहीं है; परन्तु उस सम्बन्धी जो विकल्प पक्ष है, वह खोटा है, यह बात यहाँ कहना चाहते हैं। यहाँ निश्चयनय का पक्ष भी छुड़ाया है, क्योंकि वह भी विकल्प है। विकल्प से आत्मलाभ नहीं होता, बल्कि विकल्प के मिटने पर ही आत्मलाभ होता है। नयपक्षातिक्रान्त शुद्ध आत्मा ही समयसार है, उस समयसारस्वरूप आत्मा की प्राप्ति सबको होवे।

समयसार गाथा १४२

ततः किम् –

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ।। १४२ ।।

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षम् ।
पक्षातिक्रांतः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ।। १४२ ।।

यः किल जीवे बद्धं कर्मेति यश्च जीवोऽबद्धं कर्मेति विकल्पः स द्वितयोऽपि हि नयपक्षः । य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रांतः स्वयं निर्विकल्पैक विज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः संभवति । तत्र यस्तावज्जीवे बद्धं कर्मेति विकल्पयति स जीवेऽबद्धं कर्मेति एकं

किन्तु इससे क्या ? जो आत्मा उन दोनों नयपक्षों को पार कर चुका है, वही समयसार है – यह अब गाथा द्वारा कहते हैं –

हैं कर्म जीवमें बद्ध वा अनबद्ध ये नयपक्ष है ।
पर पक्षसे अतिक्रांत भाषित, वो समयका सार है ।। १४२ ।।

गाथार्थ :– [**जीवे**] जीव में [**कर्म**] कर्म [**बद्धम्**] बद्ध है अथवा [**अबद्धं**] अबद्ध है – [**एवं तु**] इसप्रकार तो [**नयपक्षम्**] नयपक्ष [**जानीहि**] जानो; [**पुनः**] किन्तु [**यः**] जो [**पक्षातिक्रांतः**] पक्षातिक्रांत (पक्ष को उल्लंघन करने वाला) [**भण्यते**] कहलाता है [**सः**] वह [**समयसारः**] समयसार (अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्व) है ।

टीका :– 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसा जो विकल्प तथा 'जीव में कर्म अबद्ध है,' ऐसा जो विकल्प वे दोनों नयपक्ष हैं । जो उस नयपक्ष का अतिक्रम करता है (– उसे उल्लंघन कर देता है), वही समस्त विकल्पों का अतिक्रम करके स्वयं निर्विकल्प, एक विज्ञानघनस्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार होता है । यहाँ (विशेष समझाया जाता है कि) – जो 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसा विकल्प करता है वह 'जीव में कर्म अबद्ध है'

पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति । यस्तु जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पयति सोऽपि जीवे बद्धं कर्मेत्येकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति; यः पुनर्जीवे बद्धमबद्धं च कर्मेतिविकल्पयति स तु तं द्वितयमपि पक्षमनतिक्रामन् न विकल्पमतिक्रामति । ततो य एव समस्तनयपक्षमतिक्रामति स एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति । य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति स एव समयसारं विंदति ।

ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता, और जो 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसा विकल्प करता है वह भी 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता; और जो यह विकल्प करता है कि 'जीव में कर्म बद्ध है और अबद्ध भी है' वह दोनों पक्ष का अतिक्रम न करता हुआ, विकल्प का अतिक्रम नहीं करता । इसलिये जो समस्त नयपक्ष का अतिक्रम करता है, वही समस्त विकल्प का अतिक्रम करता है; जो समस्त विकल्प का अतिक्रम करता है, वही समयसार को प्राप्त करता है – उसका अनुभव करता है ।

भावार्थ :– जीव कर्म से 'बँधा हुआ है' 'तथा नहीं बंधा हुआ है' – यह दोनों नयपक्ष हैं । उनमें से किसी ने बन्धपक्ष ग्रहण किया, उसने विकल्प ही ग्रहण किया; किसी ने अबन्धपक्ष लिया, तो उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया और किसी ने दोनों पक्ष लिये, तो उसने भी पक्षरूप विकल्प का ही ग्रहण किया, परन्तु ऐसे विकल्पों को छोड़कर जो कोई भी पक्ष को ग्रहण नहीं करता, वही शुद्धपदार्थ का स्वरूप जानकर उसरूप समयसार को – शुद्धात्मा को प्राप्त करता है । नयपक्ष को ग्रहण करना राग है, इसलिये समस्त नयपक्ष को छोड़ने से वीतराग समयसार हुआ जाता है ।

गाथा १४२ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

यहाँ इस गाथा में आचार्य कहते हैं कि 'जीव में कर्म बद्ध हैं' तथा जीव में कर्म अबद्ध हैं' – ऐसे दोनों ही विकल्प नयपक्ष हैं । जो इस नय पक्ष का अतिक्रम करता है, उल्लंघन करता है, छोड़ देता है, वही समस्त विकल्पों का अतिक्रम करके स्वयं निर्विकल्प एक विज्ञानघन स्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार हो जाता है ।

तात्पर्य यह है कि वस्तुस्वरूप तो पक्षातिक्रान्त है । जो इन नयपक्षों में उलझा है, वह निजस्वरूप में नहीं पहुँचा है, अतः उसे निजस्वरूप का अनुभव नहीं है ।

जो नयपक्ष का अतिक्रम करता है अर्थात् नयपक्ष के सर्व विकल्पों के राग का त्याग करता है, वह सर्व विकल्पों को छोड़ता हुआ, स्वयं निर्विकल्प एक विज्ञानघनस्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार हो जाता है। भगवान आत्मा स्वयं निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभावमय वस्तु है। जो नयपक्ष के विकल्प से हटकर अन्तर्सन्मुख होते हैं, उन्हें साक्षात् भगवान समयसार प्राप्त होता है।

जिसप्रकार शीतकाल में घी ऐसा ठोस जम जाता है कि उसमें अंगुली डालें, तो अगुली ही टेढ़ी हो जाती है; परन्तु घी में अन्दर नहीं जाती। उसीप्रकार आत्मा ठोस ज्ञान का घन पिण्ड है, विज्ञानघनस्वरूप है। उसमें दया, दान आदि स्थूल राग का तो क्या? मैं अबद्धस्वरूप आत्मा हूँ – ऐसे सूक्ष्म विकल्प का भी प्रवेश नहीं होता। आत्मा विज्ञानघन है अर्थात् पर्याय के भी प्रवेश से रहित एकरूप त्रिकाली द्रव्य है। यहाँ कहते हैं कि जो नयपक्ष को छोड़कर त्रिकाली द्रव्य में दृष्टि करते हैं, वे एक विज्ञानघनस्वभावरूप होकर ज्ञान-ज्ञानरूप से ठोस जमकर साक्षात् समयसार हो जाते हैं अर्थात् आत्मा स्वभाव से जैसा है, उन्हें वैसा ही उपलब्ध हो जाता है।

दया, दान, व्रत, भक्ति आदि व्यवहार की क्रियाओं को करते-करते धर्म होगा, यह वात तो वहुत दूर ही रह गई। यहाँ तो यह कह रहे हैं कि 'मैं निश्चय मे अवद्धस्पृष्ट हूँ, शुद्ध हूँ, मुक्त हूँ' – ऐसे सूक्ष्म राग के पक्ष में भी आत्मा सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता। अहो! ऐसी अन्तर की वात दिगम्वरों के शास्त्रों के सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं है। यही एक मात्र परमेश्वर का अनादि सनातन मार्ग है। आनन्द का नाथ प्रभु भगवान आत्मा जो मेरे ही अन्दर विराजमान है, वह नयपक्ष से अतीत है। 'मैं अवद्धस्पृष्ट हूँ' – ऐसा विकल्प औदयिकभाव है और भगवान आत्मा तो परमपारिणामिकभावस्वरूप है।

यहाँ प्रश्न होता है कि आपने आत्मा को परमपारिणामिकभाव-स्वरूप कहा, यह भी तो एक विकल्प ही है, तो फिर आत्मा सकल विकल्पों को छोड़ता हुआ, साक्षात् समयसार होता है – यह बात कहाँ रही?

परमपारिणामिकभावस्वरूप तथा सकल विकल्पों को छोड़ता हुआ – यह सब तो उपदेश की शैली है। इसका अर्थ यह है कि दृष्टि अन्तर में झुकते ही जब सभी विकल्प छूट जाते हैं, तब शुद्ध आत्मा का

साक्षात् अनुभव हो जाता है। 'ये विकल्प हैं, मैं इनको छोड़ता हूं' – ऐसा विकल्प भी नहीं रहता, मात्र अन्तर्दृष्टिपूर्वक अनुभव ही रह जाता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव भावपाहुड़ में कहते हैं कि इस जीव ने द्रव्य-मुनिपना तो अनन्तवार धारण किया है अर्थात् पाँच महाव्रत, पाँच समिति अठ्टाइस मूलगुणों का निरतिचार पालन अनंत वार किया है; परन्तु यह सब तो राग ही है, जो कि शुद्धात्मा के स्वरूप में नहीं है। जो आत्मा में है ही नहीं, उसके आश्रय से आत्मोपलब्धि कैसे हो सकती है ? जब मैं अखण्ड, अभेद परमात्मद्रव्य हूँ – ऐसा विकल्प भी हानिकारक है, तो फिर अन्य रागांश की क्या बात कहें ?

आचार्यदेव कहते हैं कि सकल विकल्पों को छोड़ता हुआ, जीव विज्ञानघनस्वभावरूप होने पर ही साक्षात् समयसाररूप होता है अर्थात् अन्तर्मुखाकार होने पर परमात्मस्वरूप आत्मा अनुभव में आ जाता है।

अब आगे कहते हैं कि जो ऐसे विकल्पों में अटकता है कि आत्मा को कर्म का सम्बन्ध है, वह उससमय 'जीव में कर्म अबद्ध है' – ऐसे विकल्प को छोड़ता है, क्योंकि एक समय में दो विकल्प नहीं हो सकते। यद्यपि वह 'अबद्ध' के पक्ष को छोड़ता है, तथापि वह विकल्पों का अतिक्रमण नहीं करता, क्योंकि एक पक्ष का विकल्प तो है ही। इसीप्रकार 'पर द्रव्य के साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है, मैं तो अबद्ध हूँ' – ऐसे विकल्प में भी जो अटका है, वह 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसे एक पक्ष को छोड़ता है, तथापि वह विकल्पों का अतिक्रम नहीं कर पाता; क्योंकि वह 'मैं अबद्ध हूँ' – ऐसे पक्ष को ग्रहण करता है।

व्यापारी व्यापार-धंधा में ही दिन भर अटका रहता है, इसकारण ये तत्त्व की बातें उसे सूक्ष्म लगती हैं, कठिन मालूम पड़ती हैं, आसानी से समझ में नहीं आतीं; परन्तु हम क्या करें ? थोड़ा समय निकालकर शांति से बैठकर समझने का प्रयास करना चाहिए। यदि प्रतिदिन एक दो घंटा भी स्वाध्याय करें, तो सब समझ में आने लगेगा। भाई ! यह बात जगत की बातों से सर्वथा जुदी बात है, परमसत्य बात है, जो भव्य जीवों के महाभाग्योदय से मिल गई है।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि तू स्वयं प्रभु है। थोड़ी अन्तर्मुख दृष्टि करके देख तो सही, तेरा स्वरूप ही परमात्मस्वरूप है; परन्तु 'मैं परमात्म-स्वरूप हूँ' – ऐसा विकल्प भी परमात्मस्वरूप आत्मा का स्पर्श नहीं करता।

अहाहा....! त्रिकाली परमात्मस्वरूप आत्मवस्तु से कर्म का किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः आचार्य कहते है कि 'मैं कर्म के सम्बन्ध से रहित अबद्ध हूँ' – ऐसा जिसको विकल्प है, वह 'जीव में कर्म बद्ध है' – ऐसे विकल्प को छोड़ देता है; परन्तु वह 'अबद्ध' के विकल्प को नहीं छोड़ता। भाई! यह तत्त्व बहुत सूक्ष्म है। जब भगवान पूर्णानन्द के नाथ चैतन्य हीरे को 'मैं शुद्ध हूँ' यह विकल्प भी विघ्न करता है, तो फिर अन्य रागादि के विकल्पों की बात ही क्या है?

अब तीसरा बोल कहते हैं। मूल पाठ में दो बोल हैं, टीकाकार आचार्य इसी बात को तीन बोल से वर्णन करते हैं :-

देखो, (१) 'जीव में कर्म बद्ध है' – ऐसा विकल्प करनेवाला यद्यपि उससमय अबद्ध के विकल्प को छोड़ता है; परन्तु विकल्प को नहीं छोड़ता, विकल्परहित नहीं होता।

(२) इसीप्रकार 'जीव में कर्म अबद्ध है' – ऐसा विकल्प करनेवाला बद्ध के विकल्प को छोड़ता है; परन्तु वह भी विकल्प को नहीं छोड़ता।

(३) 'जीव में कर्म बद्ध भी है तथा अबद्ध भी है' – ऐसा विकल्प करनेवाला दोनों पक्षों का अतिक्रम नहीं करता हुआ, विकल्प को नहीं छोड़ता। दोनों ही पक्षों में अटका है, अतः वह भी विकल्पों को नहीं छोड़ पाता।

इसप्रकार जहाँ तक नयपक्ष है, वहाँ तक विकल्प है और जबतक विकल्प है, तबतक संसार है। अतः सभी प्रकार के विकल्प शुद्धात्मा की प्राप्ति में विघ्नकारक ही हैं – यह बात सिद्ध हुई।

'मैं बद्धस्पृष्ट हूँ' अथवा 'मैं अबद्धस्पृष्ट हूँ' अथवा 'मैं बद्ध भी हूँ और अबद्ध भी हूँ' – ये सभी विकल्प संसार हैं, क्योंकि शुद्ध चैतन्यस्वरूप में इन सभी विकल्पों का अभाव है। अहाहा....! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि के स्थूल शुभ विकल्पों की तो बात ही कहाँ रही? यहाँ तो वस्तु-स्वरूप के अनुकूल भेदविज्ञान के विकल्पों को भी आत्मानुभूति में विघ्न-कारक कहा है। बापू! यह तो सर्वज्ञ का मार्ग है। यद्यपि धर्म बहुत सूक्ष्म है, तथापि यही एकमात्र सुखी होने के लिए शरणभूत है।

प्रभु! बद्धस्पृष्ट व अबद्धस्पृष्ट के नयपक्षों को छोड़कर अन्तर्दृष्टि कर। यही सर्वज्ञ का कहा हुआ धर्म है और यही शरण है, आराध्य है, यही यहाँ कहा जा रहा है।

यहाँ समस्त नयपक्ष को छोड़ने की बात चल रही है। पीछे ११वीं गाथा में जो यह कहा है कि भूतार्थ के आश्रय से जीव सम्यग्दृष्टि होता है, वहाँ नयपक्ष के विकल्प की वात नहीं है। वहाँ तो भूतार्थ अर्थात् शाश्वत रहनेवाले शुद्धचैतन्यस्वभावमय भगवान आत्मा को ही शुद्धनय कहा है और उसके आश्रय से जो स्वानुभव प्रकट होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहा है। यहाँ यह कह रहे हैं कि 'मैं ऐसा हूँ' – ऐसे नयपक्ष को छोड़ दे। आत्मा अबद्ध-स्पृष्ट है, यह तो सत्य है। उस अबद्धस्पृष्ट आत्मा को छोड़ने की वात नहीं है, वल्कि 'मैं अबद्धस्पृष्ट हूँ' – ऐसा जो एक नयपक्ष का विकल्प है, उसको छोड़ने के लिए कहा जा रहा है; क्योंकि जो समस्त विकल्पों को छोड़ता है, वही समयसार को प्राप्त करता है, अनुभव करता है।

'मैं अबद्धस्पृष्ट हूँ' – ऐसा विचार नयपक्ष है। जो इस नयपक्ष का उल्लंघन करता है, वही समस्त नयपक्ष के विकल्पों का अतिक्रम कर सकता है और जो समस्त विकल्पों का अतिक्रम करता है, वही भगवान समयसार को प्राप्त करता है, आत्मा का अनुभव करता है। जो नयपक्ष को नहीं छोड़ता, उसे आत्मा का अनुभव नहीं होता। अरे भाई! जो नयपक्ष के विकल्पों को ही अपना कर्त्तव्य मान वैठे हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें आत्मा प्राप्त नहीं होता।

सर्व विकल्पों के पक्ष को छोड़कर अन्तर में जो शुद्ध अभेद एकाकार चैतन्यस्वभावी भूतार्थवस्तु है, उसकी दृष्टि करनेपर जैसा आत्मा है, वैसा उसे प्राप्त हो जाता है। इसके सिवाय आत्मोपलब्धि की दूसरी कोई रीति या उपाय नहीं है। व्यवहार से या पर से आत्मा प्राप्त हो जावे – ऐसा कोई उपाय वस्तुस्वरूप में नहीं है। एकमात्र निर्विकल्प अनुभव ही आत्मानुभूति का उपाय है, अन्य नहीं।

प्रश्न :– तो क्या व्रत, तप आदि व्यवहार की क्रियाओं से आत्मानुभूति संभव नहीं है?

उत्तर –: हाँ, सम्यग्दर्शन विना ये समस्त व्यावहारिक क्रियायें मोक्ष मार्ग में कार्यकारी नहीं हैं, क्योंकि ये सब व्यावहारिक क्रियायें तो राग के ही विविध रूप हैं और मुक्ति का मार्ग वीतरागता का मार्ग है। इनमें भगवान आत्मा तन्मय नहीं है। जिससे जो तन्मय नहीं है, उससे उसकी प्राप्ति संभव नहीं है।

व्यवहार के पक्षपातियों को यह वात सुहाती नहीं है, अतः उन्हें दुःख भी होता है, परन्तु क्या करें? मार्ग तो ऐसा ही है। किसी को दुःखी

करने के लिए यह बात नहीं कही जाती, बल्कि अनन्तकाल का दुःख मिटाने की यह बात है। यह तो सब के हित की बात है। क्षणिक पक्ष-व्यामोह के कारण दुःख लगता है, उसके कारण यदि यथार्थ बात न कही जाय, तो अनन्त काल का दुःख दूर नहीं हो सकता।

'मैं मुक्तस्वरूप हूँ, परमात्मस्वरूप हूँ, परमेश्वर हूँ' – इत्यादि विकल्परूप वृत्ति का जो उत्थान होता है, वह भी अनुभूति में हानिकारक है, तो फिर व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प की तो बात ही क्या है? यह तो वीतराग की वाणी है। जो शक्तिरूप से प्राप्त है, उसी की पर्याय में प्राप्ति होती है। बापू! यह तो तुम्हारे हित की बात है।

भाई! यह मानवपर्याय, मनुष्यभव बड़े ही भाग्य से महान पुण्योदय से मिला है। यदि इसे पाकर भी भवचक्र का फेरा नहीं मिटा, तो फिर ऐसा सबप्रकार का अनुकूल संयोग बारम्बार नहीं मिलेगा। निगोद के जीव को त्रसपना मिलना ही महादुर्लभ है। जिस स्थान में से निकलना भी महादुर्लभ है, उस स्थान से निकलकर तू इस मनुष्यपर्याय में आया है, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हुआ है। तीनलोक के नाथ! वीतराग सर्वज्ञदेव की वाणी तेरे कानों में पड़ी है, इसलिए अब तू इस व्यवहार को छोड़कर, समस्त विकल्पों को मिटाकर विज्ञानघनस्वभावी आत्मा का अनुभव प्रगट कर ले, इसी से चारगति के अतिदुःखमय भव का भ्रमण मिट जायेगा।

आत्मा निर्विकल्प आनन्दस्वरूप चैतन्यमय महाप्रभु है। यह भगवान आत्मा चौरासी के अवतार करने योग्य नहीं है, यह तो परमात्मपद की प्राप्ति के योग्य है। आत्मा में भव व भव के भाव का अभाव है। भव व भव का भाव आत्मा के स्वभाव में नहीं है। तू भव के भाव से रहित है। इसलिए समस्त विकल्पों को छोड़कर तू निज आत्मा को प्राप्त कर ले।

यह बाहरी ठाट-बाट, रुपया-पैसा, रूपवान शरीर आदि सब अजीव तत्त्व हैं। जो इन बाह्य पदार्थों में अटक गया है, वह तो मिथ्यादृष्टि है ही; परन्तु जो इन नयपक्ष के विकल्पों में अटक गया है, वह भी मिथ्यादृष्टि ही है। जो नयपक्ष का अतिक्रमण नहीं करता, इन विकल्पों को छोड़कर समयसारस्वरूप भगवान आत्मा में उपयोग को नहीं ले जाता; उसे समयसार की – भगवान आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।

भाई! एक बार श्रद्धा में हाँ तो कर कि यह आत्मा विकल्परहित विज्ञानघनस्वभावरूप वस्तु है, उसकी प्राप्ति का नाम ही सम्यग्दर्शन व

धर्म है। यह आत्मा शुद्ध ज्ञायकस्वभावी परमात्मस्वरूप है। जो अन्तर्सन्मुख होकर उसे जानता है और अनुभव करता है, उसका वह अनुभव व ज्ञान ही आत्मदर्शन व आत्मज्ञान है और वहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है।

गाथा १४२ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, जिसको नयपक्ष है, वह ज्ञान के अंश में राग को मिलाता है, ज्ञान को राग से भिन्न नहीं करता। वह बन्ध और अबन्ध के पक्षवाले विकल्पों को ही ग्रहण करता है, आत्मा को ग्रहण नहीं करता। इसप्रकार जो नयपक्ष में अटका है, वह आत्मा के अनुभव को प्राप्त नहीं होता।

ब्रह्मचारी क्षुल्लक धर्मदासजी आत्मज्ञानी थे। उन्होंने 'सम्यग्ज्ञान दीपिका' नामक शास्त्र लिखा है। उसमें एक दृष्टान्त दिया है कि पूर्वदिशावाला कहता है कि अमुक पश्चिम में है, पश्चिमदिशावाला कहता है कि दक्षिण में है, दक्षिण दिशावाला कहता है कि उत्तर में है; परन्तु वह तो जहाँ है, वहीं है।

उसी सम्यग्ज्ञानदीपिका में एक दृष्टान्त और है कि जैसे सूर्य के प्रकाश में कोई व्यक्ति पाप करे या पुण्य करे, कुशील सेवे वा अन्य कुछ भी करे, तो इससे सूर्य को क्या? उसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञान का सूर्य है। उसके प्रकाश में कोई रागादि विकल्प आ जावे, तो ज्ञान को उससे क्या? ज्ञान तो उस राग का भी ज्ञाता ही है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप प्रभु है। उस ज्ञानस्वरूप प्रभु में राग का तो स्पर्श ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानस्वभावी चैतन्यज्योतिस्वरूप आत्मा जिसे दृष्टि में आया है, उसकी पर्याय में जो रागादि दोष होता है, उसका वह केवल ज्ञाता-दृष्टा ही है, कर्त्ता नहीं।

निर्जरा-अधिकार में जो यह आता है कि ज्ञानी के भोग निर्जरा के कारण हैं, उसका भी यही अर्थ है कि जिसे ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव हुआ है, उसे जो रागादिभाव आते हैं, वे खिरने के लिए ही हैं तथा जहाँ यह कहा है कि ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय ही हैं, वहाँ यह आशय है कि ज्ञानी को जो विकल्प आते हैं, वह उनको मात्र जानता है। जो विकल्प है, उसका ज्ञान स्वयं से उत्पन्न होता है और ज्ञानी उस ज्ञान का कर्त्ता है; परन्तु उस विकल्प का कर्त्ता ज्ञानी नहीं है। जिस जाति का विकल्प होता है, उसीप्रकार की ज्ञान में स्व-परप्रकाशक पर्याय स्वयं से उत्पन्न होती है।

'परमार्थ वचनिका' में यह कहा है कि आगमपद्धति का व्यवहार सुगम है, अध्यात्मपद्धति का व्यवहार कठिन है। शुद्धपद्धति प्रगट करना अध्यात्मपद्धति का व्यवहार है। विकल्पों को छोड़कर जो किसी भी पक्ष को ग्रहण नहीं करता, वही शुद्ध पदार्थ का स्वरूप जानकर उस समयसार-स्वरूप शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेता है। नयपक्ष का ग्रहण करना तो राग है, इसलिए समस्त नयपक्ष को छोड़ने से ही वीतराग समयसार होता है। 'मैं अबद्धस्पृष्ट हूँ' – ऐसा नयपक्ष भी राग है, इसकारण समस्त नयपक्ष छोड़ने से ही वीतराग समयसार होता है।

यद्येवं तर्हि को हि नाम नयपक्षसंन्यासभावनां न नाटयति ?

(उपेन्द्रवज्रा)

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं
स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशांतचित्ता-
स्त एव साक्षादमृतं पिबंति ।।६९।।

अब, 'यदि ऐसा है, तो नयपक्ष के त्याग की भावना को वास्तव में कौन नहीं नचायेगा ?' ऐसा कहकर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव नयपक्ष के त्याग की भावनावाले २३ कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :–[**य एव**] जो [**नयपक्षपातं मुक्त्वा**] नयपक्षपात को छोड़कर [**स्वरूपगुप्ताः**] (अपने) स्वरूप में गुप्त होकर [**नित्यम्**] सदा [**निवसन्ति**] निवास करते हैं, [**त एव**] वे ही [**विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः**] जिनका चित्त विकल्पजाल से रहित शान्त हो गया है, ऐसे होते हुए [**साक्षात् अमृतं पिबन्ति**] साक्षात् अमृत का पान करते हैं।

भावार्थ :–जबतक कुछ भी पक्षपात रहता है, तबतक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। जब नयों का सब पक्षपात दूर हो जाता है, तब वीतराग दशा होकर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है, स्वरूप में प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है।

कलश ६९ से ९१ तक की उत्थानिका एवं कलश ६९ पर प्रवचन

अब, 'यदि ऐसा है तो नयपक्ष के त्याग की भावना को वास्तव में कौन नहीं नचायेगा ?' – ऐसा कहकर श्री अमृतचन्द्राचार्य नयपक्ष के त्याग की भावना के २३ कलशरूप काव्य कहते हैं :–

तात्पर्य यह है कि आत्मा वस्तुस्वरूप की दृष्टि से (निश्चयनय की अपेक्षा) अवद्ध है तथा पर्याय की दृष्टि से (व्यवहारनय की अपेक्षा) वद्ध है। ये दोनों नयपक्ष हैं; इसकारण इन दोनों पक्षों को छोड़कर अपने स्वभाव का निर्विकल्प भाव से अनुभव करना ही नयपक्ष के त्याग की भावना है।

यह आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वरूप चैतन्यसूर्य है। वह पर्याय में हुए राग के साथ तन्मय नहीं है, ज्ञानस्वभाव आत्मा के साथ तन्मय है। आत्मा चैतन्यसूर्य है। जैसे सूर्य के प्रकाश में कोई व्यक्ति चाहे जैसा मन चाहा आचरण करे, तो उसके हीन या उत्तम आचरण से सूर्य का प्रकाश प्रभावित नहीं होता, उससे सूर्यप्रकाश को कोई लाभ-हानि या हर्ष-विषाद नहीं होता; उसीप्रकार एक समय की पर्याय को गौण करके देखने पर आत्मा अनादि-अनन्त नित्यानन्दस्वरूप प्रभु चैतन्यज्योतिमय है। उसका दया, दान, व्रतादि के राग परिणाम के साथ कोई सम्बन्ध है ही नहीं; किन्तु 'मैं ऐसा हूँ, ऐसा नहीं हूँ' – इत्यादि नयपक्ष के विकल्पों (राग) के साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं है – ऐसा विचार करके जो विकल्परहित होकर आत्मा का अनुभव करता है, वही समकिती है। उसे ही नयपक्ष के त्याग की भावना है।

देखो, 'मैं एक हूँ, अवद्ध हूँ' – इत्यादि प्रकार की जो वृत्ति उठती है, वह भी एक नयपक्ष का विकल्प है, इसका भी जो त्याग करता है, वही सदा स्वरूप में गुप्त होकर रह सकता है। देखो, बाह्य वस्तु का ग्रहण-त्याग तो स्वरूप में है ही नहीं। यहाँ तो एक समय की अवस्था में जो नयपक्ष का विकल्प उठता है, उसके भी त्याग की भावना की वात है।

वापू ! जिसके फलस्वरूप स्वरूप का स्वाद आता है अर्थात् मात्र आत्मा का अनुभव होता है, वह वस्तु कोई अलौकिक ही है। वह बाह्य त्याग से प्राप्त होनेवाली चीज नहीं हैं। यद्यपि निमित्ताधीन दृष्टिवालों को यह बात सुहावनी नहीं लगती है, परन्तु बात तो यही एक मात्र परम सत्य है। निमित्त निमित्तरूप में है, निमित्त का निषेध नहीं है; परन्तु उपादान की अपेक्षा से – स्व की अपेक्षा से वह असत् है। अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप के भान बिना यदि कोई दया, दान, व्रत, तप के राग से धर्म मानता है, तो भले मानो; परन्तु यह सव वास्तव में तो संसार ही है। भाई ! आचार्यदेव कहते हैं कि 'मैं वद्ध हूँ, मैं अवद्ध हूँ' – ऐसे नयपक्ष को जो पूर्ण-रूप से त्यागता है, वही स्वरूप में सदा गुप्त रह सकता है। अहा ···· ! भगवान आत्मा जव वद्ध-अवद्ध जैसे उत्कृष्ट शुभ विकल्पों से भी प्राप्त होने-वाली वस्तु नहीं है, तो फिर दया-दान आदि के स्थूल विकल्पों से तो कैसे

प्राप्त हो सकेगा ? यद्यपि बात बहुत सूक्ष्म है; परन्तु पहले यथार्थ निर्णय तो करना ही पड़ेगा, आत्मोपलब्धि का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

देखो, कन्दमूल की एक कणिका में असंख्य औदारिक शरीर है और एक-एक शरीर में अनन्त निगोदिया जीव हैं । प्रत्येक जीव एक-एक श्वांस में १८ भव धारण करता है अर्थात् १८ बार जन्म-मरण करता है । ऐसे निगोदिया जीवों के दु:ख की क्या बात करें ? ये अकथनीय हैं । ऐसे अकथनीय दु:ख से छूटने की यह बात है । देखो, पर्याय में दु:ख है और स्वरूप इन दु:खों से मुक्त है – ये दोनों नयपक्ष हैं, विकल्प हैं और आत्मा दोनों विकल्पों को मात्र जाननेवाला है । स्वद्रव्य की दृष्टि होते ही उक्त दोनों विकल्प छूट जाते हैं । चैतन्यस्वरूप की दृष्टि होने पर जब उक्त विकल्प स्वत: छूट जाता है, तब ऐसा कहा जाता है कि आत्मा विकल्पों को छोड़ता है, त्यागता है ।

आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु है । उसे अब तक 'घाणी में तिल पेलने की भाँति' राग में पेला गया है । उसे जड़ कर्मों ने पेला हो – ऐसा नहीं है, किन्तु भगवान स्वरूप आत्मा राग – विकल्प के पक्ष में स्वयं ही अपनी भूल से पिल रहा है ।

भाई ! मैं एक हूँ, अबद्ध हूँ. पवित्रता का पिण्ड हूँ' – ऐसा उत्कृष्ट व सूक्ष्म राग भी जब आत्मा की शान्ति को कुचलनेवाला है, तो अन्य स्थूल रागरूप विकल्पों का तो कहना ही क्या है ?

जिसने नयपक्ष छोड़ दिया है, वह सदा स्वरूप में गुप्त होकर रहता है । जो नयपक्ष के विकल्पों को अपना मानता है, वह बहिरात्मा है और जो नयपक्ष को छोड़कर स्वरूप में गुप्त होता है, वह अन्तरात्मा है । वस्तु सहजानन्दस्वरूप – ज्ञानस्वरूप है । उसके सन्मुख होने पर स्वरूप में गुप्त होते हैं । जो स्वरूप में गुप्त होकर रहता है, उसका चित्त विकल्पजाल से रहित शान्त हो जाता है । विकल्प तो स्वयं अशान्ति है । मैं शुद्ध हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ – ऐसा जो विकल्प है, वह भी अशान्ति है । विकल्प मिटना ही शान्ति है ।

वस्तुत: भगवान आत्मा तो शान्ति का ही सागर है । उसमें निमग्न होने से, डुबकी लगाने से ज्ञानी का चित्त भी शान्त हो गया है । यही सम्यग्दृष्टि की यथार्थ क्रिया है । धर्मी को शान्ति प्रगट हुई है और उसके जीवन में से अशान्ति का अभाव हो गया है । अब वह साक्षात् आनन्द-

अमृत का पान करने लगा है। जो नयपक्ष से रहित होते हैं, वे सभी विकल्प-रहित होकर साक्षात् अमृत का पान करते हैं। अहाहा ····! भगवान आत्मा तो नित्य अमृतस्वरूप ही है। उसमें एकाग्र होकर ज्ञानी पर्याय में साक्षात् निराकुल आनन्द-अमृत का पान करते हैं, यही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और धर्म है।

भाई! यह भव के अभाव करने का सुअवसर है। आचार्य भगवान कहते हैं कि यह भव अनन्त भव का अभाव करने को मिला है, अतः जो तेरा सच्चा स्वरूप है, उसे तू प्राप्त कर ले! तुझ में पर वस्तुयें नहीं हैं, दया-दानादि का राग भी तुझ में नहीं है और नयपक्ष के विकल्प भी तेरे स्वरूप में नहीं हैं। प्रभु! तू तो निर्विकल्प सहजानन्दस्वरूप अकेला आनन्द का सागर है, सर्व विकल्प छोड़कर केवल उसी में डुबकी लगा, उसी में मग्न हो जा। यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म की क्रिया है। धर्मी जीव इसी रीति से साक्षात् अमृतपान किया करते हैं।

यह बात सुनकर कुछ लोग ऐसा भी कहते सुने जाते हैं कि यह तो निश्चयाभास है, आगमविरुद्ध कथन है; परन्तु भाई! उन्हें आगम की खबर नहीं है। आगम में तो वीतरागता प्रकट करने का उपदेश है और वीतरागता नयपक्ष का भी विकल्प तोड़कर अपने ज्ञाता-दृष्टास्वरूप में समाने से ही प्रगट हो सकती है, अन्य कोई उपाय नहीं है। इसी अनुभूति का नाम सम्यग्दर्शन है, धर्म है। इसके बिना केवल व्रत, तपादि बाह्य क्रियाओं में अटकने में, शारीरिक कष्ट झेलने में धर्म नहीं है, क्योंकि ये सब तो राग की क्रियायें हैं।

कलश ६९ के भावार्थ पर प्रवचन

जबतक कोई भी पक्षपात रहता है, तबतक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता।

जबतक व्रत, तपादि शुभराग का पक्षपात रहता है तबतक चित्त में क्षोभ रहता है। यह बात तो है ही, परन्तु 'मैं शुद्ध हूँ, अभेद एकरूप चिद्रूप हूँ' – ऐसा निजस्वरूप सम्बन्धी नयपक्ष का विकल्प भी जबतक उठता है, तबतक भी चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। ये नयपक्ष के विकल्प भी क्षोभ हैं, आकुलता हैं।

'जब नय का सर्व पक्षपात मिट जाता है, तब वीतराग दशा होने पर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है, स्वरूप में प्रवृत्ति होती है तथा अतीन्द्रिय आनन्द अनुभव में आता है।'

देखो, चौथे गुणस्थान में जो सम्यग्दर्शन होता है, वह श्रद्धा अपेक्षा निर्विकल्प अर्थात् रागरहित वीतरागी परिणाम ही है। ऐसा नहीं समझना कि जीव ११वें-१२वें गुणस्थान में ही वीतरागदशा प्राप्त करता है। भाई! सम्यग्दर्शन स्वयं वीतरागी दशा है।

'मैं एक हूँ, शुद्ध चिद्रूप हूँ, अबद्ध हूँ' — ऐसा जो नयविकल्प अर्थात् राग की लगन है, जब वह भी छूट जाती है, तब वीतरागी दशा होकर स्वरूप का श्रद्धान निर्विकल्प होता है। भाई! यह स्वदया की बात है। आत्मा का जीवन ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप है। राग वा विकल्प आत्मा का जीवन ही नहीं है। आत्मा में अनादि से एक जीवत्वशक्ति विद्यमान है। इस जीवत्वशक्ति के कारण ही वह दर्शन-ज्ञान आदि चैतन्यस्वरूप भावप्राणों से जी रहा है। वह आत्मा अन्य कोई नहीं तू ही है, अतः यह सब तेरी ही बात है। तू अपने ऐसे शक्तिवान आत्मद्रव्य को ग्रहण कर! तू अनन्त शक्तियों का पिण्ड प्रभु आत्मा है। उसे ग्रहण करते ही — उसका आश्रय लेते ही तेरी निर्विकल्प वीतराग दशा हो जायेगी और यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तेरा यथार्थ जीवन है, जो तुझे उपलब्ध हो जावेगा।

तेरी यह मान्यता मिथ्या है कि व्यवहार साधन है और उस व्यवहार साधन को करते-करते आगे बढ़ेगा और इसी से आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जायेगी। भाई! तू अनादि से इसी मिथ्या शल्य में अटका हुआ है और चारगति में रुलता हुआ दुःखी हो रहा है, इसलिये मान्यता को पलट और सावधान हो जा! वीतराग सर्वज्ञदेव की वाणी में यह कहा है कि जब नयों का भी सम्पूर्ण पक्षपात मिट जाता है, तब (१) स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है, (२) स्वरूप में प्रवृत्ति होती है एवं राग की प्रवृत्ति मिट जाती है, (३) अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है और एक वीतराग दशा प्रगट होती है।

अहाहा....! जगत के जीवों को यह अध्यात्म की बात तो कठिन लगती है, क्योंकि वे अनादि से आगमपद्धति का ही व्यवहार करते आये हैं और अध्यात्मपद्धति के व्यवहार की उपेक्षा करते रहे हैं; परन्तु शुद्ध परिणति या वीतराग परिणति तो एकमात्र अध्यात्म के व्यवहार से ही प्रगट हो सकती है और जब वह प्रगट होती है, तभी जीव को अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है।

अब २० कलशों द्वारा नयपक्ष का विशेष वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो ऐसे समस्त नयपक्षों को छोड देता है, वह तत्त्ववेत्ता (तत्त्वज्ञानी) स्वरूप को प्राप्त करता है:-

(उपजाति)

एकस्य बद्धो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ७० ।।

श्लोकार्थ :– [**बद्धः**] जीव कर्मों से बँधा हुआ है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] नहीं बँधा हुआ है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपातरहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है, वैसा ही निरन्तर अनुभव में आता है)।

भावार्थ – इस ग्रन्थ में पहले से ही व्यवहारनय को गौण करके और शुद्धनय को मुख्य करके कथन किया गया है। चैतन्य के अनेक परिणाम परनिमित्त से होते हैं, उन सब को आचार्यदेव पहले से ही गौण करते आये हैं और उन्होंने जीव को शुद्ध चैतन्यमात्र कहा है। इसप्रकार जीव पदार्थ को शुद्ध, नित्य, अभेद चैतन्यमात्र स्थापित करके अब कहते हैं कि जो इस शुद्धनय का भी पक्षपात (विकल्प) करेगा, वह भी उस शुद्ध स्वरूप के स्वाद को प्राप्त नहीं करेगा। अशुद्धनय की तो बात ही क्या है? किन्तु यदि कोई शुद्धनय का भी पक्षपात करेगा, तो पक्ष का राग नहीं मिटेगा, इसलिये वीतरागता प्रकट नहीं होगी। पक्षपात को छोड़कर चिन्मात्र स्वरूप में लीन होने पर ही समयसार को प्राप्त किया जाता है। इसलिये शुद्धनय को जानकर, उसका भी पक्षपात छोड़कर शुद्धस्वरूप का अनुभव करके, स्वरूप में प्रवृत्तिरूप चारित्र प्राप्त करके, वीतरागदशा प्राप्त करनी चाहिये।

कलश ७० पर प्रवचन

आगे कलश ७१ से ९१ तक २१ कलशरूप काव्यों द्वारा नयपक्ष का विशेष वर्णन करके कहेंगे कि जो इन समस्त प्रकार के नयपक्षों को छोड़ता है, वह तत्त्व का ज्ञाता ही निजस्वरूप को प्राप्त करता है।

यद्यपि यह बात बहुत सूक्ष्म है; परन्तु महत्त्वपूर्ण है। आचार्य कहते हैं कि पहले ज्ञान में ऐसा पक्षपात आता है कि वस्तु यही है; पश्चात् वह पक्षपातरूप विकल्प को मेटकर वस्तु का जो निर्विकल्प अनुभव होता है, वह धर्म है। यह आत्मधर्म की बात है। एक स्तवन में ऐसा कथन आता है कि इस बाह्य वैभव और शरीर की सुन्दरता देखकर उसमे होंस (उत्साह) मत कर! तथा व्यवहार की – राग की बाह्य क्रियाओं में भी होंस मत कर। अहा! तू स्वयं अपने अन्तर में झाँककर तो देख। तू स्वयं सर्वसुन्दर भगवान चित्स्वरूप नाथ है! उसी की होंस कर और वहीं जा। लौकिकजनों को यह बात एकान्त लगती है, परन्तु यह एकान्त नहीं है। वस्तु निश्चय से प्राप्त होती है, व्यवहार से नहीं; इसी का नाम अनेकान्त है। तत्त्ववेदी चित्स्वरूप स्वयं को निरन्तर चित्स्वरूप से ही अनुभव करता है।

आठ वर्ष की बालिका जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करती है, तब वह अपने आत्मा को चित्स्वरूप ही अनुभव करती है, वेदती है। अरे! मेंढक भी जब अपने स्वरूप में जाता है, तब उसे भी अपने शुद्ध चैतन्य के आनन्द का ही वेदन होता है। मेंढक का शरीर तो धूल-मिट्टीरूप अजीव तत्त्व ही है; परन्तु जब वह बाहर के लक्ष्य को छोड़कर अन्तरस्वरूप में जाता है, तब उसे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है।

अहाहा....! तत्त्ववेदी धर्मी जीव चित्स्वरूप को चित्स्वरूप से ही निरन्तर अनुभव करता है। एक समय का भी अन्तर पड़े बिना धर्मी को निरन्तर चैतन्यमूर्ति जलहल ज्योतिस्वरूप भगवान आनन्दस्वरूप से ही अनुभव में आता है।

भाई! यह तो चौथे गुणस्थान की बात है, फिर पाँचवें एवं छठवें गुणस्थान की बात तो कुछ और ही है। ऊपर के गुणस्थानों में जो प्रचुर आनन्द का अनुभव होता है, वह तो कोई अद्भुत – अलौकिक वस्तु है। व्यवहार के आग्रहवालों को ऐसा लगता है कि हमारी तुच्छता बताकर निन्दा करते हैं, परन्तु बापू! यह निन्दा नहीं है। भगवान! तेरी निन्दा नहीं होती। तू तो भगवान स्वरूप है न? परन्तु पर्याय में जो भूल है, यहाँ उस भूल का ज्ञान कराते हैं। यह तो भाई! तेरे परम हित की बात है। हे भाई! धर्म का स्वरूप ही ऐसा है। तेरा चैतन्यस्वरूप केवल आनन्द का कन्द है, सुख का सागर है, तू वहाँ जा! तुझे अवश्य ही आनन्द आयेगा। प्रभु! जाननेवाले को जान और देखनेवाले को देख। अपनी

त्रिकाली आत्मवस्तु को अन्तर में देखने पर तू स्वयं को चित्स्वरूप ही देखेगा आनन्दस्वरूप ही अनुभव करेगा। बस, यही एक सत्य का मार्ग है।

यहाँ इस ७०वें श्लोक में ६ बातें मुख्य कही हैं – (१) जीव कर्म से बंधा है – यह एक व्यवहारनय का पक्ष है। (२) जीव कर्म से बंधा नहीं है – यह दूसरा निश्चयनय का पक्ष है। तथा (३) तीसरी बात यह है कि जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं, उनको चित्स्वरूप जीव जैसा है, वैसा निरन्तर अनुभव में आता है।

आचार्यदेव छठवीं तथा ग्यारहवीं गाथा में पहले से ही पर्याय को गौण करके कथन करते आये हैं। छठवीं गाथा में कहा कि भगवान आत्मा प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है, एकमात्र ज्ञायक प्रभु है। वह शुभाशुभभावरूप कभी हुआ ही नहीं है – ऐसा चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञायक ही है। इसप्रकार प्रारम्भ से ही इस शास्त्र में पर्याय को गौण करके कथन करते आ रहे हैं। गौण का अर्थ अभाव नहीं है, अतः पर्याय है ही नहीं – ऐसा नहीं समझना; बल्कि यह समझना कि उसे गौण किया गया है।

पर्याय में जो राग-द्वेष के भाव होते हैं, उन्हें गौण किया गया है, क्योंकि वे भाव शुद्ध आत्मद्रव्य में नहीं हैं, इसलिए ११वीं गाथा में उन्हें अभूतार्थ कहा है। भगवान आत्मा ही एक भूतार्थ है। परनिमित्त से चैतन्य के परिणाम रागादिरूप अनेक प्रकार के होते हैं। इसका अर्थ मात्र इतना ही है कि जब आत्मा में परद्रव्य के लक्ष्य से रागादि परिणाम स्वतः होते हैं, तब ऐसा कहा जाता है कि अमुक परद्रव्य के निमित्त से ये रागादि परिणाम हुए हैं। परद्रव्य किसी को रागादि परिणाम कराता नहीं है।

यह देह तो मृतक कलेवर है, उसी जीवित अवस्था में भी यह मुर्दा है। इसमें अमृत का सागर यह आत्मा अपने अज्ञान भाव से मूर्छित हो रहा है। शरीर का सौन्दर्य देखकर यह अमृत का नाथ आत्मा मूर्छित हो गया है, परन्तु देह तो अपने स्व-काल में छूटने ही वाली है। देह के प्रति राग की तो बात ही क्या कहें? व्रतादि सम्बन्धी शुभ विकल्पों का राग भी आत्मा का नहीं है; क्योंकि उसमें चैतन्य का अभाव है। ऐसी राग की पर्यायों को पहले से ही आचार्यदेव गौण करते आ रहे हैं और जीव को शुद्ध चैतन्य कहते आ रहे हैं।

इसप्रकार जीव पदार्थ को शुद्ध, नित्य, अभेद, चैतन्यमात्र स्थापित करके अब कहते हैं कि यदि शुद्धनय का भी पक्षपात करेगा, तो शुद्धस्वरूप का स्वाद नहीं आयेगा।

अरे भाई ! यह देह भले ही कंचन वर्ण की है, संयोग भले ही सुहावने हों तथापि काल पाकर नियम से सब छूटने ही वाले हैं। देखो, एक भाई के शरीर की स्थिति अचानक बिगड़ गई, डबल निमोनिया हो गया, भयंकर पीड़ा होने लगी। देह छूटने की स्थिति आ गई, तो पत्नी उसके दर्द और बीमारी की बात न पूछकर तिजोड़ी की चाबियाँ, बैंक के कागजों की बातें पूछने लगी। एक ओर तो असह्य पीड़ा के कारण उसकी आँख से अश्रुधारा और दूसरी ओर तिजोड़ी की चाबियों और धन सम्पत्ति की पूछताछ। धर्म की बात सुनाने के बदले कुटुम्बी धन की पूछताछ करते हैं –देखो कैसी विडम्बना है दुनिया की ?

इसीकारण नियमसार में कहा है कि तुझे जो कुटुंबीजन मिले हैं, वे सब धूर्तों की टोली है। 'स्वाजीवनाय मिलितं विटपेटकं ते'। अपनी आजीविका के लिए यह धूर्तों की टोली इकट्ठी हुई है। संसार में सब स्वार्थ के ही सगे हैं, अतः शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु ही एकमात्र शरण है – ऐसा समझकर इस मनुष्य भव में अपना हित कर लेना ही योग्य है।

आचार्यदेव ने व्यवहारनय को तो प्रारंभ से ही गौण कराया है; परन्तु यहाँ निश्चयनय के पक्षपात को भी छुड़ाते हुए कहते हैं कि यदि कोई निश्चयनय का पक्षपात करेगा, तो भी शुद्धस्वरूप के स्वाद को नहीं पा सकेगा। अशुद्धनय की तो बात ही क्या है ? अर्थात् 'मैं रागवाला हूँ, पुण्यवाला हूँ, व्यवहार का पालन करनेवाला हूँ' – ऐसे अशुद्धनयाश्रित दृष्टिवाले की तो बात ही क्या है ? वह तो आत्मानुभव से कोसों दूर है। यहाँ तो यह कहते हैं कि जो शुद्धनय का भी पक्षपात करेगा अर्थात् ऐसा विकल्प करेगा कि 'मैं रागवाला नहीं हूँ', उसे भी आत्मानुभूति प्रगट नहीं होगी, वीतरागता नहीं होगी। इसप्रकार यहाँ शुद्धनय के विषयभूत विकल्पों को भी छोड़कर निर्विकल्प होने की बात कही है।

भाई ! तू अपने पर दया कर ! तू जैसा है, वैसा ही स्वयं को मान ! यदि अपने को निजस्वरूप से हीनाधिक मानेगा, तो तेरी स्वय की दया के बदले आत्मघात होगा। यह देह तेरी नहीं है, देह तू नहीं है, तू तो देह से भिन्न चेतन भगवान है। तेरा स्वरूप तो निर्विकल्प सच्चिदानंद है। यह तो इतनी सूक्ष्म बात का प्रकरण चल रहा है कि 'मैं शुद्ध हूँ, निर्विकल्प हूँ,' – ऐसा शुद्धनय का विषयभूत विकल्प भी यदि तू करेगा – ऐसे शुद्धनय के पक्ष में पड़ेगा, तो भी तुझे वीतरागता की प्राप्ति नहीं होगी, आत्मानुभव नहीं होगा

समस्त नयपक्ष के विकल्पों को छोड़कर चिन्मात्र निजस्वरूप में लीन होने पर ही समयसारस्वरूप शुद्धात्मा को प्राप्त कर सकेगा, अतः शुद्धनय को जानकर उसका भी पक्षपात छोड़कर शुद्धस्वरूप का अनुभव करके स्वरूप में प्रवृत्तिरूप चारित्र प्राप्त करके वीतरागता प्राप्त करने योग्य है।

कलश ७१ से ८९ तक १९ कलश

(उपजाति)

एकस्य मूढ़ो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७१॥

श्लोकार्थ –: [**मूढ़**] जीव मूढ़ (मोही) है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] वह मूढ़ नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है अर्थात उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है, वैसा ही निरन्तर अनुभव में आता है।

एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७२॥

श्लोकार्थ :– [**रक्तः**] जीव रागी है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] वह रागी नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है।

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७३॥

श्लोकार्थ :– [**दुष्टः**] जीव द्वेषी है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] जीव द्वेषी नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**]

दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरंतर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।

एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७४।।

श्लोकार्थ :– [कर्ता] जीव कर्त्ता है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव कर्त्ता नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७५।।

श्लोकार्थ :– [भोक्ता] जीव भोक्ता है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव भोक्ता नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।

एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७६।।

श्लोकार्थ :– [जीवः] जीव जीव है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव जीव नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७७।।

श्लोकार्थ :– [सूक्ष्मः] जीव सूक्ष्म है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव सूक्ष्म नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष

है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७८।।

श्लोकार्थ :– [हेतु] जीव हेतु (कारण) है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव हेतु (कारण) नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।

एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७९।।

श्लोकार्थ :– [कार्यं] जीव कार्य है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव कार्य नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।

एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८०।।

श्लोकार्थ :– [भावः] जीव भाव है (अर्थात् भावरूप है) [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव भाव नहीं (अर्थात् अभावरूप है) [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।

एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८१।।

श्लोकार्थ :– [**एकः**] जीव एक है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है [**च**] और [**न तथा**] जीव एक नहीं है (अनेक है) [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरंतर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है ।

एकस्य सांतो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८२।।

श्लोकार्थ :– [**सांतः**] जीव सांत (अंतसहित) है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] जीव सांत नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है ।

एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८३।।

श्लोकार्थ :– [**नित्यः**] जीव नित्य है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] जीव नित्य नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरंतर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है ।

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्तिनित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८४।।

श्लोकार्थ :– [**वाच्यः**] जीव वाच्य (अर्थात् वचन से कहा जा सके ऐसा) है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] जीव वाच्य (वचनगोचर) नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**]

इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है।

एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥

श्लोकार्थ :– [**नाना**] जीव नानारूप है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] जीव नानारूप नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है, (इति) इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपतौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर (**चित्**) चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है।

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥

श्लोकार्थ :– [**चेत्यः**] जीव चेत्य (जाननेयोग्य) है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] जीव चेत्य नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है, [**इति**] इस प्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है।

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८७॥

श्लोकार्थ :– [**दृश्य**] जीव दृश्य (देखनेयोग्य) है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] जीव दृश्य नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है।

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८८।।

श्लोकार्थ :– [**वेद्यः**] जीव वेद्य (वेदनेयोग्य, ज्ञात होने योग्य) है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] जीव वेद्य नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं । [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है ।

एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८९।।

श्लोकार्थ :– [**भात**] जीव भात (प्रकाशमान अर्थात् वर्तमान प्रत्यक्ष) है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] जीव भात नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं । [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है ।

भावार्थ :– वद्ध-अवद्ध, मूढ़-अमूढ़, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्त्ता-अकर्त्ता, भोक्ता-अभोक्ता, जीव-अजीव, सूक्ष्म-स्थूल, कारण-अकारण, कार्य-अकार्य, भाव-अभाव, एक-अनेक, सान्त-अनन्त, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, नाना-अनाना, चेत्य-अचेत्य, दृश्य-अदृश्य, वेद्य-अवेद्य, भात-अभात इत्यादि नयों के पक्षपात हैं । जो पुरुष नयों के कथनानुसार यथायोग्य विवक्षापूर्वक तत्त्व का – वस्तुस्वरूप का निर्णय करके नयों के पक्षपात को छोड़ता है उसे चित्स्वरूप जीव का चित्स्वरूप अनुभव होता है ।

जीव में अनेक साधारण धर्म हैं, परन्तु चित्स्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर असाधारण धर्म है, इसलिये उसे मुख्य करके यहाँ जीव को चित्स्वरूप कहा है ।

कलश ७१ से ८९ तक १९ कलशों पर प्रवचन

अब यहाँ आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने कलश ७१ से ९१ तक २१ श्लोकों द्वारा मोह, राग, द्वेष, कर्त्ता, भोक्ता आदि विभिन्न विकल्प एक

अपेक्षा हैं, दूसरी अपेक्षा नहीं हैं, निश्चय एवं व्यवहारनय के पक्षवाले विकल्पों का निषेध करके निर्विकल्प आत्मानुभूति कैसे होती है, यह दर्शाया है।

कलश ७१ में कहा है कि – जीव मूढ़ है, मोही है अर्थात् परम पवित्र ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा पर्याय में राग-द्वेष-मोह सहित है – ऐसा व्यवहारनय का एक पक्ष है तथा वही भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसमें मोह-राग-द्वेष नहीं है – ऐसा निश्चयनय का दूसरा पक्ष है।

इनमें व्यवहारनय के पक्ष का तो पहले से ही निषेध करते आ रहे हैं, यहाँ यह बताया जा रहा है कि निश्चयनय का पक्ष भी एक विकल्प है, राग है तथा बंध का कारण है। 'मैं मोही नहीं हूँ' – ऐसा विकल्प शुभराग तो है ही और यदि ऐसा मानें कि 'यह मेरा कर्त्तव्य है', तो विकल्प के राग में उपादेयबुद्धि होने से यह मान्यता मिथ्यात्व भी है।

भाई ! जन्म-मरण के अन्त करने की विधि कोई अलौकिक है। दया-दान के विकल्पों से पुण्य का बन्ध होता है, यह तो यथार्थ है; परन्तु इसी विधि से भविष्य में कर्मों का क्षय भी हो जायेगा – ऐसा यदि कोई माने, तो यह उसका मिथ्या अभिप्राय ही है।

'आत्मा मोह रहित चैतन्यमूर्ति भगवान स्वरूप है' – ऐसे निश्चयनय के पक्ष में भी जो अटका है, वह भी विकल्प में ही अटका है। यह विकल्प भी बन्ध का ही कारण है, मुक्ति का नहीं। इसप्रकार चित्स्वरूप जीव में दो नयों का पक्षपात है। ज्ञानी इन दोनों पक्षपातपूर्ण विकल्पों को छोड़कर चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा जैसा है, वैसा ही उसे अनुभवता है। वस्तुतः इसी का नाम सम्यग्दर्शन है, धर्म है।

शेष अन्तर्बाह्य दशा की भूमिकानुसार निमित्त-नैमित्तिक भाव से मन्दिर बनवाने की, शिविर लगाने की, शास्त्र सुनने-सुनाने की, उन्हें छपाने आदि की शुभ क्रियायें ज्ञानी को भी होती हैं; परन्तु यदि वे शुभ-रागसहित हों, तो पुण्यबंध के कारण हो सकती हैं; परन्तु वे क्रियायें धर्म की क्रियायें नहीं हैं।

इसीप्रकार कलश ७२ में मोह के स्थान पर 'रक्त' पद बदलकर बताया है कि जीव रागी है, ऐसा एक नय अर्थात् व्यवहारनय का पक्ष है और जीव रागी नहीं है, ऐसा दूसरे नय का अर्थात् निश्चयनय का पक्ष

है; किन्तु जीव तो पक्षातिक्रान्त निर्विकल्प जो है, सो है; उसमें राग है या राग नहीं है – ऐसे कोई विकल्प नहीं हैं ।

तत्त्ववेदी उक्त दोनों नय के विकल्पों से रहित होकर अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ही अनुभव करता है । 'मैं अरागी हूँ' – ऐसा विकल्प दुःखरूप है, अतः ऐसे विकल्प से भी हटकर जो त्रिकाल सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान आत्मा का वेदन करता है, वही समकिती है, धर्मी है ।

इसी बात की पुष्टि करती हुई एक बहुत सरस बात सम्यग्ज्ञान-दीपिका में आई है । वहाँ कहा है कि विश्व में जो छह द्रव्य हैं, उनसे भिन्न भगवान आत्मा 'सप्तम द्रव्य' है ।

समयसार गाथा ४९ की टीका में अव्यक्त के छह बोल हैं । सम्यग्ज्ञान-दीपिका में उसके प्रथम बोल का ऐसा अर्थ किया है कि जो छहद्रव्य-स्वरूप लोक ज्ञेय है, वह व्यक्त है, उससे भिन्न आत्मा सप्तम द्रव्य है और वह अव्यक्त है । तात्पर्य यह है कि जैसे एक ओर अकेला राजा और दूसरी ओर सारा गाँव । इसीप्रकार एक ओर चैतन्यमहाप्रभु आत्मा सप्तम द्रव्य और दूसरी ओर अपने से भिन्न विश्व के छहों द्रव्य ।

'जीव अरागी है' – यह बात यद्यपि यथार्थ है, सत्यार्थ है; परन्तु अन्तर में उठनेवाला ऐसा विकल्प राग है । धर्मीजीव 'मैं रागी हूँ या अरागी हूँ' – इन दोनों नयों के पक्षपात से रहित होता है । उसे चित्स्वरूप जीव सदा चित्स्वरूप ही अनुभव में आता है ।

७३ वें कलश में 'रागी' के स्थान पर जीव 'द्वेषी' है, अर्थात् वर्तमान पर्याय में जीव द्वेषवाला है – ऐसा व्यवहारनय का एक पक्ष है तथा जीव अद्वेषी है – ऐसा निश्चयनय का दूसरा पक्ष है तथा चित्स्वरूप जीव में उक्त दोनों ही नयों का पक्षपात नहीं है – ऐसा कहा है, क्योंकि मैं द्वेषी नहीं हूँ – ऐसा जो निश्चयनय का पक्षरूप विकल्प है, वह भी राग है और राग दुःख है, बन्ध का कारण है । अतः ज्ञानी के दोनों नयपक्षों के विकल्प छूट जाते हैं । ज्ञानी तो निरन्तर अपने शुद्ध चित्स्वरूप द्रव्य को चित्स्वरूप ही अनुभव करता है ।

इसीप्रकार, कलश ७४ एवं ७५ में 'द्वेष' का पद पलटकर जीव 'कर्त्ता' है एवं 'भोक्ता' है, ऐसे व्यवहारनय के पक्ष को तथा 'जीव कर्त्ता नहीं है एवं भोक्ता नहीं है' – ऐसे निश्चय के पक्ष का निषेध करते हुए, ज्ञानी तो निरन्तर अपने शुद्ध चित्स्वरूप द्रव्य का चित्स्वरूप ही अनुभव करता है – यह कहा है ।

प्रश्न –: भगवान आत्मा परद्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है, यह तो ठीक; परन्तु दया-दान एवं राग-द्वेष भावों का भी कर्त्ता-भोक्ता नहीं है क्या ?

उत्तर :– दया-दानादि राग भावों का आत्मा को कर्त्ता मानना व्यवहारनय का पक्ष है। इसीप्रकार निश्चयनय से यह आत्मा राग का कर्त्ता नहीं है, यह भी एक विकल्प है, राग है। जीव अकर्त्ता है, यह बात तो अपनी जगह सत्य है; परन्तु ऐसा जो विकल्प होता है, वह रागभाव है। उसके रहते निर्विकल्प आत्मा की अनुभूति नहीं होती।

ऐसे चित्स्वरूप जीव में दो नयों के दो विकल्परूप पक्षपात हैं और भगवान आत्मा तो त्रिकाल एकरूप ज्ञानस्वरूप है, उसमें कर्त्ता और अकर्त्ता तथा भोक्ता और अभोक्ता के विकल्पों का अभाव है। ऐसे चित्स्वरूप निज तत्त्व को जानने व वेदन करने का नाम धर्म है, सुख है। इसके सिवाय किसी भी बाह्य क्रिया के लक्ष्य से शुभभाव करे एवं उसके फल में लौकिक सुखादि भोगे; परन्तु वे सब क्लेशरूप ही हैं।

भले ही करोड़पति हो, तथापि दुःखी है, क्योंकि पैसे का लक्ष्य राग है और राग क्लेशरूप है, दुःख है। पुण्य के फल में कदाचित् जीव स्वर्ग में देव हो जाय, तो वहाँ भी क्लेश का ही वेदन है। चैतन्यदेव भगवान आत्मा का अनुभव किये बिना स्वर्ग के देव भी राग के क्लेश को ही भोगते हैं। ऐसा ही वस्तुस्वरूप है।

अहाहा ···· ! मैं 'कर्त्ता भी नहीं हूँ व अकर्त्ता भी नहीं हूँ' इसीतरह 'भोक्ता भी नहीं हूँ व अभोक्ता भी नहीं हूँ' – इसप्रकार तत्त्ववेदी धर्मीजीव दोनों नयों के पक्षपात से रहित होकर निरन्तर अपने चैतन्यस्वरूप को ही अनुभव करता है। भाई ! यह कोई लोकरंजन या मनोरंजन की बात नहीं है, आत्मरंजन की अद्भुत बात है।

चाहे व्यवहार का पक्ष हो या निश्चय का – दोनों विकल्प हैं, औदयिकभाव हैं, संसारभाव हैं। आत्मा इनसे सर्वथा भिन्न है। अतः तत्त्ववेदी जीव पक्षपातरहित होकर निरन्तर अपने चैतन्यस्वरूप का चैतन्यरूप से ही अनुभव करते हैं। ऐसी सत्य बात भी यदि किसी को अरुचि के कारण न जँचे, समझ में न बैठे, तो कोई क्या कर सकता है ? संभव है, इसकारण किसी को दुःख भी हो, तो प्रभु हमें माफ करना। हमारा दुःख देने का भाव नहीं है। सत्य बात का निरूपण करके सब को सुख का मार्ग बताने का ही मूल प्रयोजन है। भगवान ! यह तो सबके हित की ही बात है, तथापि दुःख लगे, तो इसके लिए हम क्या करें ?

भाई ! आत्मा राग का कर्त्ता-भोक्ता है – ऐसा विकल्प तुझे शोभा नहीं देता । यह तो ठीक, परन्तु यहाँ तो यह कह रहे हैं कि व्यवहार से आत्मा राग का कर्त्ता-भोक्ता है और निश्चय से कर्त्ता-भोक्ता नहीं है – ऐसा विकल्प भी तुझे शोभा नहीं देता । ये विकल्प तेरा शृंगार नहीं है, क्योंकि प्रभु ! तू तो निर्विकल्प है न ? विकल्प की दशा तेरी दशा नहीं है ।

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी कहा है –

सर्व जीव छै सिद्धसम, जे समझे ते थाय ।
वीजूं कहीए केटलूं, कर विचार तो पाम ।।

यहाँ विचार का अर्थ ज्ञान होता है । अर्थात् तू ज्ञान करेगा, तो ही आत्मा को पायेगा । राग करने से आत्मद्रव्य मिल जायेगा – ऐसा नहीं कहा । 'आत्मसिद्धि' में बहुत ऊँची तत्त्व की वातें हैं । यह बात अन्य सम्प्रदायवालों की समझ में आना कठिन है, क्योंकि जिस सम्प्रदाय में जो जन्मा है, उसी सम्प्रदाय में कही गई वातों को वह सत्य मानकर अटक जाता है; परन्तु भाई ! यदि तू सत्य को स्वीकार नहीं करेगा, तो दुःखी होगा । यह किसी के अनादर या तिरस्कार की वात नहीं है, मात्र करुणा का भाव है । श्रीमद् राजचन्द्रजी ने यह भी कहा है –

कोई क्रिया जड़ थई रह्या, शुष्कज्ञान मां कोई ।
माने मारग मोक्ष नो, करुणा उपजे जोई ।।

ज्ञानियों को अज्ञानभाव में वर्तते हुए जीव को देखकर उनपर करुणा आती है, तिरस्कार नहीं । अत: आचार्य कहते हैं कि जो तत्त्ववेदी नय के पक्षपात से रहित हैं, उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप चित्स्वरूप ही है । वे उसे चित्स्वरूप ही अनुभव करते हैं ।

कलश ७६ में कहा है कि 'मैं जीव हूँ' – ऐसे विकल्प करने से निजानुभूति नहीं होती, किन्तु पक्षपात रहित होकर उक्त विकल्पों को छोड़कर अन्तर्लीनता के वल से जो तत्त्ववेदी हैं, वे ही निरन्तर चैतन्यरस का अनुभव करते हैं । धर्मी जीवों को चित्स्वरूप जीव जैसा है, वैसा निरन्तर वेदन में आता है ।

ऐसा जो मानते हैं कि व्रत, तप आदि बाह्य-व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट हो जायेगा, पुण्य के बल से भविष्य में कर्मक्षय होगा; उनकी यह मान्यता मिथ्या है ।

भाई ! परमात्मप्रकाश की ६०वीं गाथा में कहा है – 'पुण्णेण होइ विहवो' अर्थात् पुण्य से वैभव मिलता है, वैभव से अभिमान होता है, अभिमान से बुद्धिभ्रम होता है – इसकारण हमें ऐसा पुण्य नहीं चाहिए। कहाँ तो आचार्यदेव का यह कथन और कहाँ यह मान्यता कि पुण्य करते-करते धर्म हो जायेगा।

भाई ! यह आत्मा की स्व-दया की बात है। जीव जैसा चित्स्वरूप है, वैसा ही विकल्परहित होकर अनुभव करना स्व-दया है। जीव को दया, दान के रागवाला मानना अथवा नयपक्ष के विकल्पों में उलझना जागती जगमगाती ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा का अनादर है, घात है। राग से लाभ माननेवाला व्यक्ति अपनी हिंसा करनेवाला है। निज चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनादर करना ही स्वहिंसा है।

इसीतरह कलश ७७ में कहा है कि जीव रागादि से भिन्न चैतन्य-पिण्ड प्रभु 'सूक्ष्म' है – यह निश्चयनय का पक्ष है। निश्चय से आत्मा दया, दान, व्रत के विकल्पों के साथ एकरूप नहीं है, अतः सूक्ष्म है – यह तो ठीक है; परन्तु आत्मा में तत्संबंधी जो विकल्प उठता है, वह भी रागभाव है, अतः वह भी छोड़ने योग्य है।

शरीर के साथ आत्मा एक पिण्डरूप नहीं है। निमित्त के सम्बन्ध से शरीर के साथ एकरूप है – ऐसा भले ही व्यवहार से कहा जाय; परन्तु वस्तुस्वरूप से देखने पर आत्मा शरीर के साथ एकरूप नहीं है। यदि आत्मा शरीर के साथ एकमेक हो जाय, तो जैसे आत्मवस्तु नित्य है, उसीप्रकार शरीर भी नित्य हो जायेगा, शरीर का भी नाश नहीं होगा; परन्तु वस्तु-स्वरूप ऐसा नहीं है। इसीप्रकार यदि आत्मा लोकालोक के साथ एकमेक हो जावे, तो जैसा लोकालोक दिखाई देता है, वैसा आत्मा भी दिखाई देना चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता। इसकारण आत्मा शरीर से, राग से, लोकालोक से भिन्न चैतन्यमूर्ति है, अतः सूक्ष्म है। यद्यपि यह सूक्ष्मता की बात यथार्थ है, तथापि ऐसा विकल्प होना राग है। यहाँ उसी रागरूप विकल्प को भी छोड़कर निर्विकल्प होने की बात चल रही है।

दोनों नयों के पक्षरूप विकल्पों का निषेध करके आत्मानुभूति करने की प्रेरणा यहाँ दी जा रही है; क्योंकि नयपक्ष के इस सूक्ष्म विकल्प के साथ भी आत्मा तद्रूप नहीं है। भाई ! मैं सूक्ष्म हूँ – ऐसे निश्चय के पक्षरूप सूक्ष्म विकल्प के रहते भी जब आत्मा ज्ञात नहीं होता, तब फिर

व्यवहार का स्थूल राग करते-करते निश्चय हो जायेगा – यह बात ही कहाँ रही ?

यह तो प्रथम भूमिका की – सम्यग्दर्शन की बात चल रही है। चारित्र की तो वात ही क्या कहें ? वह तो महा अलौकिक वस्तु है। आत्मा स्व-परप्रकाशक स्वभाव के सामर्थ्यरूप चैतन्यतत्त्व है। पर को अपना माने – ऐसा तो उसका स्वभाव ही नहीं है। यद्यपि शरीर, मन, वाणी, विकल्प आदि सब ज्ञेय ज्ञायक में ज्ञात होते हैं; परन्तु ज्ञायक उन अन्य ज्ञेयों के साथ एकमेक नहीं है। अतः यहाँ आचार्य कहते है कि हे ज्ञायक आत्मा ! तू अपने चित्स्वरूप भगवान आत्मा को ही देख, उसे ही अपने ज्ञायकस्वरूप ज्ञान का ज्ञेय बना। तू राग और विकल्पों को देखता है; परन्तु वह राग – विकल्प तो अंधकार है। राग को देखने से आत्मा ज्ञात नहीं होता, इसलिए ज्ञायक को ही जान। जो तत्त्ववेदी हैं, वह विकल्परहित होकर अपने स्वरूप को ही – ज्ञायक को ही अनुभव करता है और यह अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।

इसीतरह कलश ७८ एवं ७९ में भी जीव कारण व कार्य है तथा कारण व कार्य नहीं है – ऐसे नयपक्ष के दोनों विकल्पों को छोड़कर निर्विकल्प आत्मा का अनुभव करने से ही सम्यग्दर्शन कहा है।

कलश ८०, ८१, ८२ एवं ८३ में क्रमशः आत्मा भावरूप एवं अभावरूप है, एकरूप एवं अनेकरूप है, सान्त है एवं सान्त नहीं है तथा नित्य है एवं नित्य नहीं है – ऐसे नाना नयविकल्पों का निषेध करके निर्विकल्प आत्मा की अनुभूति करना सम्यग्दर्शन है, इस बात का स्पष्टीकरण किया है।

देखो, हीरों का हार खरीदते समय हार कैसा है ? कीमत कितनी है ? आदि नाना विकल्प होते हैं; परन्तु उसको पहिनते समय कोई उन विकल्पों को याद नहीं करता, सम्पूर्ण विकल्पों को लक्ष्य में से निकाल देता है। उससमय तो मात्र उसकी शोभा पर ही लक्ष्य रहता है। उसीप्रकार जीव भावस्वरूप है, यह वात सत्य है; परन्तु ऐसे भेदरूप विकल्प आत्मा की अनुभूति में बाधक ही हैं, अतः समस्त विकल्पों को छोड़ने से ही निर्विकल्प आत्मा की अनुभूति होती है।

कलश ८४ से ८९ तक ६ श्लोकों द्वारा आत्मा एक नय से वाच्य है, दूसरे नय से वाच्य नहीं है, एक नय से नानारूप है, दूसरे नय से नानारूप नहीं है, एक नय से चैत्य (चेतने योग्य) है, दूसरे नय से चैत्य नहीं है।

इसीतरह दृश्य है, दृश्य नहीं है; वेद्य है वेद्य नहीं है; भात है, भात नहीं है; इन विकल्पों की चर्चा करके कहा गया है कि चैतन्य सूर्य भगवान आत्मा में इन विकल्पों को अवकाश नहीं है। जो तत्त्ववेदी हैं, वे इन समस्त नयपक्षों से रहित होकर आत्मा जैसा है, वैसा ही निरन्तर अनुभव करते हैं।

देखो, व्यवहारनय कहता है कि जीव वाच्य है। ४७ नयों में नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव – इन चार नयों का कथन आता है, उनमें जीव को वचन से कह सकते हैं – ऐसा एक वक्तव्यनय है; परन्तु कहाँ चैतन्य भगवान आत्मा और कहाँ जड़ की पर्यायरूप वाणी ? तथापि ऐसा एक व्यवहारनय का पक्ष है, क्योंकि जैसे आत्मा में स्व-पर को जानने की सामर्थ्य है, उसीप्रकार वाणी में स्व-पर को कहने की सामर्थ्य है।

निश्चयनय कहता है कि आत्मा वचनगोचर नहीं है। वस्तु तो दोनों नयों के पक्षपात से रहित चित्स्वरूप है। उसे उसीप्रकार अनुभव करना धर्म है।

गुणपर्यायों की अपेक्षा आत्मा नानारूप है – यह कहना भी अनुचित नहीं है और एक वस्तुपने से वह नानारूप नहीं है – यह भी विकल्प यथार्थ है; परन्तु आत्मा तो नयों के विकल्पों से रहित जैसा है, वैसा ही अनुभव करने योग्य है। तत्त्ववेदी उसे उसी रूप में अनुभव करते हैं।

इसीप्रकार आत्मा दृश्य है, अदृश्य है तथा वेद्य है, अवेद्य है – आदि विकल्पों से भिन्न भगवान जैसा है, वैसा ही ज्ञानी जानते हैं – अनुभव करते हैं।

कलश ७१ से ८९ तक के भावार्थ पर प्रवचन

इसप्रकार कलश ७१ से ८९ तक के श्लोकों में बद्ध-अबद्ध, मूढ़-अमूढ़, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्त्ता-अकर्त्ता, भोक्ता-अभोक्ता तथा स्व-पर की अपेक्षा जीव-अजीव, सूक्ष्म-स्थूल, कारण-अकारण, कार्य-अकार्य, भाव-अभाव, एक-अनेक, सान्त-अनन्त, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, नाना-अनाना, चैत्य-अचैत्य, दृश्य-अदृश्य, वेद्य-अवेद्य, भात-अभात इत्यादि रूप व्यवहार व निश्चयनयों के पक्षपातों का कथन करके उन सब विकल्पों का त्याग करके एक चित्स्वरूप निर्विकल्प आत्मा की अनुभूति को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है।

आशय यह है कि आत्मद्रव्य बद्ध-अबद्ध आदि समस्त विकल्पों से भिन्न है। उसमें बद्ध-अबद्ध आदि कोई भी विकल्प नहीं है। मैं अबद्ध आदि

हूँ, ऐसा विकल्प भी उस चैतन्य के स्वरूप में नहीं है । चैतन्यघन आत्मा विकल्पों में तन्मय नहीं है, तो उन विकल्पों के द्वारा कैसे प्राप्त होगा ? इसीकारण आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! व्यवहार का पक्ष तो हमने पहले से ही छुड़ाया है; परन्तु निश्चय के पक्ष को भी तू छोड़ दे, क्योंकि नयों के पक्ष से विराम लेकर अन्तर्दृष्टि करने पर ही आत्मा प्राप्त होता है ।

यहाँ तक जो २० बोल कहे हैं, उनमे कारण-अकारण का भी एक बोल है । यहाँ उसके सम्बन्ध में कुछ विशेष स्पष्टीकरण करते हैं । आत्मा में अकारण-कार्य नामक एक गुण है । अकारण-कार्यत्व आत्मा का स्वभाव है । उससे आत्मा राग का कारण भी नहीं है और राग का कार्य भी नहीं है ।

भगवान आत्मा तो मात्र चैतन्यप्रकाश का पुंज है । उसमें राग नहीं है । जब उसमें राग नहीं है, तो राग का कारण कैसे हो सकता है और वह राग का कार्य भी कैसे हो सकता है ? यदि वह राग का कार्य होता, तो स्वयं रागमय ही होता और यदि वह राग का कारण बने, तो राग का कभी भी अभाव नहीं होगा और वीतरागता नहीं हो सकेगी; परन्तु वस्तु का स्वरूप ही ऐसा नहीं है; क्योंकि आत्मा में एक ऐसा अकार्य-कारणत्व शक्ति – स्वभाव है, जिसके कारण वह राग का कारण भी नहीं है और कार्य भी नहीं है । अहाहा....! भगवान आत्मा व्यवहाररत्नत्रय के राग का कारण नहीं है, उसीप्रकार आत्मा व्यवहाररत्नत्रय के राग का कार्य भी नहीं है, तो फिर व्यवहार से निश्चय प्रगट होता है, यह बात ही कहाँ रहती है ? आत्मा तो अपने शुद्धस्वरूप का कारण और शुद्धस्वरूप का ही कार्य है ।

जैसे नारियल में गोला काँचली से भिन्न है, उसीप्रकार चैतन्यगोला शरीर से और राग से भिन्न तत्त्व है । चैतन्यदेव का सामर्थ्य ही ऐसा है कि वह राग का कारण व कार्य नहीं होता । यद्यपि चैतन्यप्रकाशरूप आत्मवस्तु एक पदार्थ है, तथापि अन्य पदार्थ के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । परपदार्थ के लक्ष्य से जो शुभ विकल्प होता है, वह पुण्यतत्त्व है और भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञायक तत्त्व है । दोनों भिन्न-भिन्न हैं, इसकारण पुण्य तत्त्व से ज्ञायक तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती । व्यवहार से निश्चय नहीं होता । भाई ! अनादि-अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का अकारण-कार्य स्वभाव ही ऐसा है कि संसार के किसी भी पदार्थ का आत्मा कारण नहीं होता और जगत के किसी भी अन्य पदार्थ से (निमित्त से या राग से) आत्मा के सम्यग्दर्शनादि चैतन्य परिणाम नहीं होते ।

अहाहा....! राग के अभावस्वभावस्वरूप शुद्ध चैतन्यतत्त्व आत्मा है, वह निज चैतन्यस्वरूप के सिवाय किसी का कारण-कार्य नहीं है, ऐसा ही वस्तुस्वरूप है।

'जो पुरुष नयों के कथन के अनुसार यथायोग्य विवक्षापूर्वक तत्त्व के वस्तुस्वरूप का निर्णय करके नयों के पक्षपात को छोड़ता है, उस पुरुष को चित्स्वरूप जीव का चित्स्वरूप से अनुभव होता है।'

देखो, प्रारम्भ में वस्तुस्वरूप का निर्णय करते समय नय के विकल्प आते ही हैं और आना ही चाहिए; परन्तु जो पुरुष उनके द्वारा वस्तु-स्वरूप का निर्णय करके स्वभावसन्मुख होता है, उसे चित्स्वरूप जीव का चित्स्वरूप से ही अनुभव होता है। विकल्पों से पार होकर जो चैतन्य की पर्याय स्वभाव में तन्मय होती है, उसी का नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। पहले जो ज्ञान पर्याय विकल्प में एकमेक थी, अब ज्ञायक में एकमेक होने लगी है। बस इसी का नाम धर्म है। ज्ञानी को निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही अनुभव में आता है।

जीव में अन्य अनेक साधारण धर्म हैं, परन्तु चित्स्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर असाधारण धर्म है; इसकारण उसी को मुख्य करके यहाँ जीव को चित्स्वरूप कहा गया है।

अपना चैतन्यस्वभाव अन्य जड़ व चेतन द्रव्यों में भी नहीं है। अपना चैतन्यधर्म ही अपने अनुभव में आ सकता है; अतः यही प्रगट अनुभवगोचर असाधारण धर्म है। रागादि विकल्प स्वयं अन्धकारस्वरूप हैं, क्योंकि उनमें चैतन्य का अभाव है, अतः वे चैतन्यप्रकाशस्वभाव को प्राप्त नहीं करा सकते। अंधकार प्रकाश का कारण कैसे हो सकता है? देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, शास्त्र का बाह्य ज्ञान तथा पंच महाव्रत का परिणाम ये सब विकल्परूप हैं, इसकारण इनसे भी चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।

अब उपरोक्त २० कलशों के कथन का उपसंहार करते हैं :-

(वसन्ततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालामेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अंतर्बहिः समरसैकरसस्वभावं स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम्॥ ९०॥

श्लोकार्थ :- [एवं] इसप्रकार [स्वेच्छा – समुच्छलद् – अनल्प – विकल्प – जालाम्] जिसमें बहुत से विकल्पों का जाल अपने आप उठता

है ऐसी [महतीं] बड़ी [नय – पक्ष – कक्षाम्] नयपक्षकक्षा को (नयपक्ष की भूमि को) [व्यतीत्य] उल्लंघन करके (तत्त्ववेत्ता) [अंतः बहिः] भीतर और बाहर [समरसैकरसस्वभावं] समतारसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे [अनुभूतिमात्रम् एकम् स्वं भावम्] अनुभूतिमात्र एक अपने भाव को (स्वरूप को) [उपयाति] प्राप्त करता है।

कलश ९० पर प्रवचन

इस कलश में पूर्वोक्त २० कलशों के कथन का उपसंहार किया गया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि इसप्रकार जिसमें बहुविकल्पों का जाल अपने-आप उठता है, ऐसी नयपक्ष की कक्षा को पहचानकर ज्ञानी उनसे भी निर्वृत्त होकर अन्तर और बाहर से समतारसरूप स्वभाववाले आत्मा की अनुभूति करके अपने चित्स्वरूप को प्राप्त करते हैं।

अहाहा ···· ! दिगम्बर आचार्यों ने तत्त्व को कितना सरल करके समझाया है। कहते हैं कि बहु-विकल्पों का जाल अपने-आप उठता है। इसका अर्थ यह है कि विकल्पों का जाल आत्मा के स्वभाव में नहीं है। मैं अबद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, एक हूँ, पूर्ण हूँ – ऐसी जो अनेक प्रकार की राग की वृत्तियाँ उठती हैं, वे स्वत: उठती हैं, अर्थात् आत्मा में ऐसा कोई गुण नहीं है, ये वृत्तियाँ आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं।

देखो, अढ़ाई द्वीप के बाहर असंख्यात तिर्यञ्च हैं, उनमें मगरमच्छ, बन्दर, हाथी, बाघ, सिंह, नेवला आदि असंख्य जीव सम्यग्दृष्टि हैं। भले ही शरीर तिर्यञ्च का हो, परन्तु उनका आत्मा तो भगवानस्वरूप ही है। अहाहा ···· ! वे भी विकल्पों से भेदज्ञान करके अन्तरआत्मा में गहरे उतर गये हैं। उनमें पञ्चम गुणस्थानवाले भी असंख्य हैं।

प्रश्न :– बाघ, सिंह तो मांसाहारी होते हैं, यदि वे सम्यक्दृष्टि व व्रती हैं, तो उनका आहार निर्दोष कैसे बनता होगा ?

उत्तर :– देखो, तिर्यञ्च भी सम्यक्त्वी और व्रती होने के बाद सदा फल-फूल का ही सेवन करते हैं। वे फिर मांस का आहार नहीं करते, निर्दोष आहार ही लेते हैं।

प्रश्न :– क्या सम्यग्दर्शन और संयम की प्राप्ति में निकृष्ट क्षेत्र व निकृष्ट काल बाधक नहीं होते ?

उत्तर :– नहीं, क्योंकि चौथा काल या पंचमकाल तो वाह्य वस्तु है। भगवान आत्मा त्रिकाल एकरूप है। अरे भाई! इसकी एक समय की पर्याय को भी परकाल कहा जाता है।

सययसार कलश के २५२ कलश के अर्थ में पाण्डे राजमल जी स्वचतुष्टय और परचतुष्टय का अर्थ इसप्रकार करते हैं –

१. **स्वद्रव्य** – निर्विकल्प मात्र वस्तु,

२. **स्वक्षेत्र** – आधार मात्र वस्तु का प्रदेश,

३. **स्वकाल** – वस्तु मात्र की मूल अवस्था,

४. **स्वभाव** – वस्तु की मूल सहज शक्ति।

(१) **परद्रव्य** – सविकल्प भेद कल्पना,

(२) **परक्षेत्र** – जो वस्तु का आधारभूत प्रदेश निर्विकल्प वस्तु मात्ररूप से कहा था, वही प्रदेश सविकल्प भेदकल्पना से परप्रदेश वुद्धिगोचर रूप से कहा जाता है।

(३) **परकाल** – द्रव्य की मूल की निर्विकल्प अवस्था को ही अवस्थान्तर भेदरूप कल्पना से परकाल कहा जाता है।

(४) **परभाव** – जीव की सहज शक्ति के पर्यायरूप अनेक अंश द्वारा भेदकल्पना ही परभाव है।

इसप्रकार भगवान आत्मा निर्विकल्प अभेद वस्तु है, उसमें गुण-गुणी का भेद करके विकल्प उठाना परद्रव्य है। वस्तु के आधारमात्र प्रदेश में असंख्यप्रदेशी वस्तु – ऐसा भेदविकल्प उठाना परक्षेत्र है। द्रव्य की मूल त्रिकाली अवस्था स्वकाल है, एक समय की पर्याय रहित त्रिकाली निर्विकल्प वस्तु ही उसका स्वकाल है तथा उसमें अवस्थान्तररूप भेदकल्पना परकाल है। आत्मा में एक समय की पर्याय का भेद करना परकाल है।

अहो! यह वीतरागता का मार्ग अलौकिक है और इसका फल भी अलौकिक ही है।

आनन्दकंद त्रिकाली वस्तु स्वकाल और एक समय की पर्याय का भेद लक्ष्य में लेवे, तो वह परकाल है। उस परकाल की स्वकाल में नास्ति है। चौथे काल व पंचम काल की तो बात ही कहाँ? वह तो वहुत दूर वाहर में ही रह गया। उसकी यहाँ चर्चा ही क्या?

भगवान आत्मा तो त्रिकाल ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु है, उसकी पर्याय में जो ये विकल्प – वृत्तियाँ स्वतः उठती हैं कि 'मैं अबद्ध हूँ' ये भी उस चैतन्यस्वरूप में नहीं हैं। प्रभु ! तू तो सर्वथा निर्विकल्प है। ये जो विकल्प उठते हैं, ये तो नयपक्ष की बाह्य भूमिका है और अज्ञानी आत्मा इन विकल्पों के जाल में ही उलझा रहता है। तत्त्ववेदी इन्हें उल्लंघ जाता है। आठ वर्ष का बालक भी इस रीति से आत्मानुभव करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। उसमें परकाल या कर्म कोई भी बाधक नहीं बनता। अज्ञानी कर्मशास्त्र के कथन का अभिप्राय न समझकर कर्मों को अपना शत्रु और आत्मज्ञान करने में बाधक मान बैठा है।

सम्यग्ज्ञानदीपिका में क्षुल्लक धर्मदासजी शास्त्र के अभिप्राय को न समझनेवालों की हँसी उड़ाते हुए लिखते हैं :—

एक सेठ का लड़का अपनी पत्नी को अपने पिता के पास घर पर ही छोड़कर धंधा करने परदेश में गया था। वहाँ उसे बहुत काल लग गया, इसकारण उसकी पत्नी पति के वियोग में अपना जीवन विधवा की तरह उदास भाव से बिता रही थी। पुत्रवधू का वह दुःख ससुर से नहीं देखा गया। अतः उसने अपने पुत्र को पत्र लिखा कि बेटा ! तुम्हारी बहु विधवा हो गई है, शीघ्र चले आओ। पत्र पढ़ते ही सेठ-पुत्र जोर-जोर से रोने लगा। रोने की आवाज सुनकर अड़ोसी-पड़ोसी इकट्ठे हो गये। लोगों ने पूछा – 'भाई ! क्या बात है ? ऐसा रुदन क्यों करते हो ?' रोते-रोते वह बोला – 'मेरी पत्नी विधवा हो गई है।' पहले तो लोग उस के भोलेपन पर मन ही मन हंसे, परन्तु तुरन्त ही चेहरे पर गंभीर भाव लाते हुए बोले – 'भाई ! तेरे जीवित रहते हुए भला तेरी पत्नी विधवा कैसे हो सकती है ?' कुछ सोचते हुए वह बोला – 'बात तो आप भी ठीक कहते हैं, परन्तु मेरे पिता ने जो लिखा है, उसे भी असत्य कैसे मानूँ ? वे कभी असत्य नहीं लिख सकते।'

हाँ तेरी यह बात यथार्थ है, परन्तु तू अपने पिता के अभिप्राय को समझ। इस पत्र का आशय तो यह है कि तेरे वियोग में तेरी पत्नी अपने को विधवा जैसा अनुभव करती है।

ठीक इसीप्रकार अज्ञानी जन कहते हैं कि आचार्यों ने गोम्मटसार आदि शास्त्रों में लिखा है कि ज्ञानावरणीकर्म से ज्ञान रुकता है, उसे असत्य कैसे मानें ? तब आचार्य समझाते हैं कि भाई ! यह तो व्यवहारनय का कथन है, कर्म तो जड़ हैं, अचेतन हैं, वे ज्ञान का घात कैसे कर सकते

हैं ? उक्त कथन का अभिप्राय तो यह है कि जब यह जीव स्वयं अपने को भूलकर पर्याय में हीनदशारूप परिणमता है, तब घातिया कर्मों को उसमें निमित्त कहा जाता है। कर्म बाधक हैं – यह तो बात ही नहीं है।

यहाँ पराधीनता एवं निमित्तादि की सम्पूर्ण बातें अत्यन्त गौण करके एवं वस्तुस्वरूप को मुख्य करके यह कहा जा रहा है कि भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु अनन्त गुणयुक्त विराजमान त्रिकाल परिपूर्ण द्रव्य है। क्षणिक हीन पर्याय के कारण परिपूर्ण आत्मद्रव्य में कुछ भी कमी नहीं आती अर्थात् उसका किंचित् भी घात नहीं होता। भगवान कहते हैं कि भाई! तेरा कभी भी कुछ भी बिगाड़ नहीं होता; परन्तु अज्ञानी ऐसा अनुभव करता है कि मैं कर्म से घाता गया हूँ। कर्मों ने तेरा किंचित् भी घात नहीं किया है। वस्तु में स्वभावगत हीनपना है ही नहीं, वस्तु तो सदा परिपूर्ण ही है। जब यह पर्याय में स्वयं ही हीनदशा के रूप में परिणमन करती है, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है। निमित्त परद्रव्य है, वह तो आत्मद्रव्य का स्पर्श भी नहीं करता।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि नयपक्ष की कक्षा भी आत्मद्रव्य के स्वरूप में नहीं है। 'मैं बद्ध हूँ, अशुद्ध हूँ' – ऐसे व्यवहार के विकल्प का तो पहले से ही निषेध करते आये हैं, किन्तु यहाँ तो यह कह रहे हैं कि 'मैं शुद्ध हूँ' – ऐसे निश्चय नय के पक्ष का विकल्प भी वस्तु के स्वरूप में नहीं है। भगवान आत्मा तो सदा अतीन्द्रिय आनन्द का दल है। उसके स्वरूप में अभी भी शान्तिस्वरूप अनन्त वीतरागता पड़ी है; उसमें इन नयपक्षों की सम्पूर्ण कक्षाओं का सदा अभाव है। स्थूल व्यवहार का तो अभाव है ही; परन्तु निश्चय के पक्षरूप विकल्प का भी उसमें अभाव है। ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि देना ही द्रव्यदृष्टि है, यही सम्यक्दृष्टि है।

भगवान आत्मा तो त्रिकाल समरस स्वभावजल से भरा हुआ परिपूर्ण समुद्र है। पर्याय ज्यों ही उसमें एकाग्र होती है, त्यों ही वह समरस भाव उछलकर पर्याय में प्रगट हो जाता हैं, वही अनुभूति है, धर्म है। भगवान आत्मा तो अनुभूतिस्वरूप ही है। पर्याय में षट्कारकरूप जो परिणमन है, उससे भिन्न अनुभूतिमात्र आत्मा का त्रिकाली स्वभाव है, यह बात ७३वीं गाथा में आ गई है। वहाँ अनुभूतिमात्र त्रिकाली स्वभाव की बात की है और यहाँ पर्याय में अनुभूतिस्वरूप होता है – इसकी बात है।

नियमसार के प्रायश्चित अधिकार में कहा है कि वस्तु प्रायश्चित-स्वरूप है। उसके आश्रय से ही पर्याय में वीतरागस्वरूप निर्मल प्रायश्चित

प्रगट होता है। प्रायश्चित अर्थात् प्रकृष्टरूप से ज्ञान का प्रगट होना – वही रागरहित निर्मल दशा है। परमसंयमी ऐसे प्रकृष्ट चित्त को निरन्तर धारण करते हैं। उन्हें वस्तुतः निश्चय प्रायश्चित है। वस्तु त्रिकाल प्रायश्चितस्वरूप है, उसीप्रकार अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा है। उसके आश्रय से पर्याय में समरसभावरूप अनुभूति प्रगट होती है – यह बात यहाँ कही जा रही है। दूसरे प्रकार से कहें, तो जो त्रिकाल अनुभूतिस्वरूप आत्मा है, वही पर्याय में अनुभूति को प्राप्त करता है।

यदि स्वभाव से देखें, तो यह आत्मा आबाल-गोपाल सभी के अन्दर परमात्मा के स्वरूप में ही विराजता है। देह की अवस्था तो जड़ की है। आत्मा में साम्यरस का स्वभाव तो त्रिकाल है। यदि कोई विकल्पों की विषमता छोड़कर अन्दर में एकाग्र हो जावे, तो उसे पर्याय में नियम से समरसभाव की अनुभूति प्रगट हो जाएगी। जब निज चैतन्यस्वरूप में लक्ष्य जाता है, तब विकल्पों की विषमता उत्पन्न ही नहीं होती। उसे ही ऐसा कहा जाता है कि विकल्पों की विषमता को छोड़ दिया है।

लौकिकजन विचारे अनन्तकाल से महादुःखी हैं। उनको बाह्य दया, व्रत, तप, भक्ति आदि आगम-पद्धति का व्यवहार तो सुगम है, परन्तु वे अध्यात्मपद्धति के आत्मानुभूतिस्वरूप चारित्र को नहीं जानते। यहाँ कहते हैं कि आगमपद्धति के व्यवहार का तो पहले से ही निषेध करते आये हैं, परन्तु यहाँ शुद्ध अध्यात्म का भी निषेध किया गया है, क्योंकि वह पक्ष भी वस्तु के स्वभाव में नहीं है। अहाहा....! त्रिकाल अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा जब एकरूप समरसपने परिणमता है; तो वही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है तथा उसमें जो स्थिरता का आचरण होता है, वह चारित्र है।

कलश ६१

अब नयपक्ष के त्याग की भावना का अन्तिम काव्य कहते हैं।

(रथोद्धता)

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत् पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥ ६१ ॥

श्लोकार्थ :– [पुष्कल-उत्-चल-विकल्प-वीचिभिः उच्छलत्] विपुल, महान, चंचल विकल्परूपी तरंगों के द्वारा उड़ते हुए [इदम् - एवम्-

कृत्स्नम्-इन्द्रजालम्] इस समस्त इन्द्रजाल को [यस्य विस्फुरणम् एव] जिसका स्फुरण मात्र ही [तत्क्षणं] तत्क्षण [अस्यति] उड़ा देता है [तत् चिन्महः अस्मि] वह चिन्मात्र तेजःपुंज मैं हूँ।

भावार्थ :– चैतन्य का अनुभव होने पर समस्त नयों का विकल्परूपी इन्द्रजाल उसी क्षण विलय को प्राप्त होता है; ऐसा चित्प्रकाश मैं हूँ।

कलश ६१ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

यह कलश नयपक्ष के त्याग की भावना का अन्तिम कलश है।

देखो, यहाँ नयपक्ष के विकल्पों को इन्द्रजाल कहा है, क्योंकि ये विकल्प ज्ञायकस्वभाव में नहीं हैं। जिसप्रकार इन्द्रजालिया (जादूगर) अपने तमाशे में जो प्रदर्शित करता है, वह भ्रमरूप ही होता है; उसीप्रकार नयपक्ष ज्ञायक स्वभाव में नहीं है। यद्यपि विकल्प भी एक वस्तु है, वह कोरी असत् कल्पना नहीं है, तथापि वह आत्मा के स्वभाव में नहीं है; इसकारण उन्हें इन्द्रजालवत् झूठा कहा है। इन विकल्पों की आड़ में अटक जाना, उनके जाल में उलझ जाना ही मोहभाव है, मूर्छा है।

अब कहते हैं कि जब आत्मा का उपयोग चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मद्रव्य में ही एकाग्र होता है, तो तुरन्त ही समस्त विकल्प नष्ट हो जाते हैं। चैतन्यज्योति जागृत होने पर ज्यों ही श्रद्धा व ज्ञान में यह जाना कि मैं तो चित्स्वरूप परमात्मा हूँ, तब तुरन्त समस्त विकल्प जाल विलीन हो जाते हैं। ज्ञानधारा की टंकार मात्र से राग का नाश हो जाता है। बापू! तेरी आत्मा की कितनी शक्ति है? अभी तुझे इसका पता नहीं है। आत्मप्रभु श्रद्धा, ज्ञान, आनन्द व अनन्त पुरुषार्थ का पिण्ड है। अहाहा ....! आत्मा अनन्त सामर्थ्य से भरा हुआ अनन्त गुणों का पिण्ड है। ऐसा पूर्ण पुरुषार्थ से भरा हुआ भगवान आत्मा जब अन्दर स्वरूप में एकाग्र होता है, तो उसीसमय विकल्प स्वतः समाप्त हो जाते हैं। आत्मा को प्राप्त करने की एकमात्र यही रीति है। निमित्त है, व्यवहार है; परन्तु निमित्तों से या व्यवहार से आत्मा प्राप्त नहीं होता। इस बात को सुनकर समझौतावादी लोग कहते हैं कि यदि दोनों पक्षवाले थोड़ा-थोड़ा झुक जावें, जरा-जरा सी ढील दे देवें, तो सब का मेलमिलाप हो सकता है, समन्वय हो सकता है; परन्तु भाई! दिगम्बर संत क्या कहते हैं? पहले इसे समझो। वे पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि आत्मा चैतन्य महाप्रभु

है, उसके बड़प्पन की तुझे खबर नहीं है। भाई ! यह विकल्प तो आत्मा का कलंक है, हीनपना है। हीनता में से पूर्णता कैसे प्राप्त होगी ?

प्रश्न :– प्रवचनसार में आता है कि क्रियाकाण्ड से ज्ञानकाण्ड होता है, उसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर :– अरे भाई ! वह तो व्यवहार का कथन है। उसका अर्थ यह है कि कर्मकाण्ड का जो राग है, उसके छूटने पर ज्ञानकाण्ड होता है। जिनवचन पूर्वापर विरोधरहित सत्य होते हैं। उनका आशय यथार्थ समझना चाहिये।

श्रद्धा व ज्ञान की वर्तमान पर्याय जब त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्म-द्रव्य का आश्रय लेती है, तब सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान पर्याय प्रगट होती है। उसमें व्यवहार की कोई अपेक्षा नहीं है; बल्कि स्वभाव की अपेक्षा करने पर व्यवहार की सहज ही उपेक्षा हो जाती है।

'मैं ऐसा हूँ, ऐसा हूँ' – ऐसे कहना या सोचना तो विकल्प हैं। स्वरूप में ऐसे विकल्प नहीं हैं। निर्विकल्प चैतन्यस्वभाव में दृष्टि देते ही सर्व विकल्प मिट जाते हैं, यही स्वानुभवरूप सम्यग्दर्शन है, धर्म है।

जैसे काहू बाजीगर चौहटै बजाइ ढोल,
नानारूप धरिकैं भगल-विद्या ठानी है।
तैसैं मैं अनादि की मिथ्यात की तरंगनिसौं,
भरममें धाइ बहु काय निज मानी है।।
अब ग्यानकला जागी भरमकी दृष्टि भागी,
अपनी पराई सब सौंज पहिचानी है।
जाकै उदै हौत परवांन ऐसी भांति भई,
निहचै हमारी जोति सोई हम जानी है।। २८ ।।

– समयसार नाटक, कर्त्ता-कर्म-क्रिया द्वार

समयसार गाथा १४३

पक्षातिक्रान्तस्य किं स्वरूपमिति चेत् –

दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ।।१४३ ।।

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः ।
न तु नयपक्षं गृह्णाति किञ्चिदपि नयपक्षपरिहीनः ।। १४३ ।।

यथा खलु भगवान्केवली श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः विश्वसाक्षितया केवलं स्वरूपमेव जानाति, न तु सततमुल्लसितसहजविमल-सकलकेवलज्ञानतया नित्यं स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात् श्रुतज्ञानभूमिका-

---

'पक्षातिक्रान्त का स्वरूप क्या है ?' इसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं :–

नयद्वयकथन जाने हि केवल समय में प्रतिबद्ध जो ।
नयपक्ष कुछ भी नहिं नयपक्ष से परिहीन वो ।। १४३ ।।

गाथार्थ :– [नयपक्षपरिहीनः] नयपक्ष से रहित जीव, [समय-प्रतिबद्धः] समय से प्रतिबद्ध होता हुआ (अर्थात् चित्स्वरूप आत्मा का अनुभव करता हुआ), [द्वयोः अपि] दोनों ही [नययोः] नयों के [भणितं] कथन को [केवलं तु] मात्र [जानाति] जानता ही है; [तु] परन्तु [नयपक्षं] नयपक्ष को [किंचित् अपि] किंचित् मात्र भी [न गृह्णाति] ग्रहण नहीं करता ।

टीका :– जैसे केवली भगवान, विश्व के साक्षीपन के कारण श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनयपक्षों के स्वरूप को ही मात्र जानते हैं, परन्तु निरंतर प्रकाशमान सहज विमल सकल केवलज्ञान के द्वारा सदा स्वयं ही विज्ञानघन हुआ होने से, श्रुतज्ञान की भूमिका की अति-

तिक्रांततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति, तथा किल यः श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः क्षयोपशम-विजृम्भितश्रुतज्ञानात्मकविकल्पप्रत्युद्गमनेऽपि परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्य-तया स्वरूपमेव केवलं जानाति, न तु खरतरदृष्टिगृहीतसुनिस्तुषनित्यो-दितचिन्मयसमयप्रतिबद्धतया तदात्वे स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात् श्रुत-ज्ञानात्मकसमस्तांतर्बहिर्जल्परूपविकल्पभूमिकातिक्रांततया समस्तनयपक्ष-परिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति, स खलु निखिल-विकल्पेभ्यः परतरः परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोऽनु-भूतिमात्रः समयसारः ।

क्रान्तता के द्वारा (अर्थात् श्रुतज्ञान की भूमिका को पार कर चुकने के कारण) समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुवे होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते, इसीप्रकार जो (श्रुतज्ञानी आत्मा), क्षयोपशम से जो उत्पन्न होते हैं, ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी पर का ग्रहण करने के प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होने से, श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनयपक्षों के स्वरूप को ही केवल जानते हैं, परन्तु अतितीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण किये गये निर्मल, नित्य उदित, चिन्मय समय से प्रति-बद्धता के द्वारा (अर्थात् चैतन्यमय आत्मा के अनुभवन द्वारा) अनुभव के समय स्वयं ही विज्ञानघन हुवे होने से, श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्प-रूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका की अतिक्रान्तता के द्वारा समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुवे होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता हुआ, वह (आत्मा) वास्तव में समस्त विकल्पों से अति पर, परमात्मा ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप, अनुभूति मात्र समयसार है।

भावार्थ :– जैसे केवली भगवान नयपक्ष के स्वरूप के साक्षी (ज्ञातदृष्टा) हैं ! उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षों से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभवन करते हैं, तब वे नयपक्ष के स्वरूप के ज्ञाता ही है। यदि एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाये, तो मिथ्यात्व के साथ मिला हुआ राग होता है; प्रयोजनवश एक नय को प्रधान करके उसका ग्रहण करे, तो मिथ्यात्व के अतिरिक्त मात्र चारित्र मोह का राग रहता है और जब नयपक्ष को छोड़कर वस्तुस्वरूप को मात्र जानते ही हैं, तब उससमय श्रुतज्ञानी भी केवली की भाँति वीतराग जैसे ही होते हैं – ऐसा जानना।

गाथा १४३ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

देखो, यहाँ शिष्य का यह प्रश्न है कि जिसके नयपक्ष के समस्त विकल्प छूट गये हैं, उसकी श्रद्धा में वस्तु का स्वरूप कैसा रहता है ? इसी प्रश्न के उत्तर में यह १४३ वीं गाथा कही गई है। निश्चयनय का पक्ष छूट गया है, इसलिए कोई ऐसा नहीं समझें कि यह वस्तु निश्चयनय की विषयभूत वस्तु से कोई जुदी भिन्न प्रकार की होगी। वस्तु तो निश्चयनय के विषयभूत जैसी ही अबद्धस्पृष्ट, एक, चैतन्यस्वरूप ही है। अहाहा .... ! भगवान आत्मा तो त्रिकाल जिनस्वरूप, वीतरागस्वरूप ही है। आत्मा सदा ही निर्विकार, अकषायस्वरूप है। अकषायस्वरूप कहो या चारित्रस्वरूप कहो, दोनों एक ही बात है। उसी के आश्रय से पर्याय में वीतरागता प्रगट होती है।

२७२ वीं गाथा में कहा भी है –

'निश्चयनयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की।'

अर्थात् यह निश्चयनयाश्रित शुद्ध चैतन्यस्वरूप वस्तु का आश्रय करने की बात है। यह जैनदर्शन वस्तुतः वस्तुदर्शन है। यहाँ वस्तु को छोड़ने की बात नहीं है, बल्कि वस्तु के विकल्प को छोड़ने की बात कही गई है। जिसको निश्चय का भी पक्ष या विकल्प छूट गया है, उस पक्षातिक्रान्त आत्मा का कैसा स्वरूप होता है – इसके उत्तर में यह गाथा कही गई है।

टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव केवली भगवान का दृष्टान्त देकर समझाते हैं –

१. जिसप्रकार केवली भगवान विश्व के साक्षी होने से अन्य समस्त लोकालोक के साथ श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार व निश्चयनय के भेदों को भी मात्र साक्षीपने से जानते ही हैं; उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी श्रुतज्ञानात्मक विकल्पमय होते हुए भी पर के ग्रहण के प्रति उत्साह निवृत्त होने से श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चय के पक्षों के स्वरूप को मात्र जानते ही हैं।

२. जिसप्रकार केवली भगवान निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल, केवलज्ञान से सदा स्वयं ही विज्ञानघन होने से श्रुतज्ञान की भूमिका से अतिक्रान्त हैं; उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी अतितीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण करते हुए निर्मल, नित्यउदित, चैतन्यमय आत्मा के अनुभव द्वारा अनुभव के काल में स्वयं ही विज्ञानघन होने से श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप

तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका से पार को प्राप्त हो गये हैं, उसका उल्लंघन कर गये हैं।

३. जिसतरह केवलज्ञानी श्रुतज्ञान की भूमिका से अतिक्रान्तता के कारण समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हो गये हैं, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते; उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी अनुभव के काल में स्वयं विज्ञानघन होने से समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हो गये हैं, इसलिए नयपक्ष ग्रहण नहीं करते।

इसप्रकार उपरोक्त तीन बोलों द्वारा सम्यग्दृष्टि के अनुभव की प्रक्रिया को भगवान केवली के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का उदाहरण देकर समझाया है। उक्त बोलों में केवली व श्रुतज्ञानी को समान बताया है। केवली भगवान को श्रुतज्ञान नहीं हैं, इसकारण उनके नय नहीं हैं, मात्र वे श्रुतज्ञान के स्वरूप को जानते ही हैं, उसीप्रकार श्रुतज्ञानी को भी आत्मानुभव के काल में व्यवहार-निश्चय का पक्ष छूट गया है, इसकारण वह भी अनुभव के काल में नयपक्ष के स्वरूप को केवल जानता ही है। उसे भी उससमय नयों का विकल्प नहीं रहता।

केवली भगवान तो सदा के लिए पूर्ण विज्ञानघन हो गये हैं, पर सम्यग्दृष्टि केवल अनुभव के काल में ही विज्ञानघन हुआ है; क्योंकि अनुभव-काल के सिवाय सम्यग्दृष्टि जीव को नानाप्रकार के विकल्प उठते ही हैं, इसलिए केवल अनुभव के काल में ही वह विज्ञानघन हुआ है – यह कहा है।

यह बात धर्म की प्रारंभिक भूमिका की है अर्थात् चौथे गुण-स्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि की ही बात चल रही है।

कुछ लोग कहते हैं कि व्यवहार से निश्चय होता है; परन्तु जब ज्ञानी निश्चय-व्यवहार के विकल्प के पक्ष से ही रहित हो जाता है, तो व्यवहार से निश्चय होता है – यह बात ही कहाँ रही ? ज्ञानी अनुभव के काल में 'मैं बद्ध हूँ, अबद्ध हूँ' – इन दोनों पक्षों से रहित हुआ है, विज्ञानघन हुआ है।

'मैं शुद्ध हूँ' – ऐसा जो अन्दर विकल्प उठता है, वह अन्तर्जल्प है और बाहर जो वाणी निकलती है, वह बहिर्जल्प है। श्रुतज्ञानी अनुभव के काल में समस्त अन्तर्जल्प व बहिर्जल्परूप विकल्पों को लाँघ चुका है।

अहो ! अमृतचन्द्राचार्यदेव ने श्रुतज्ञानी आत्मानुभवी जीव को केवलज्ञानी से तुलना करके समझाया है, गजब का काम किया है।

भाई ! सर्वप्रथम यह निश्चय तो कर कि भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वभावी पूर्णानन्द का नाथ है और उसके सन्मुख होने पर निर्विकल्प दशा हुए विना नहीं रहती । किसी को राग की मन्दता भले हो जावे; परन्तु उससे क्या लाभ ? आत्मा का आश्रय न होने से अनन्तानुवन्धी कषाय विद्यमान रहती है । वाहर से भले वह क्रोध न करे, तथापि उसे उत्तम क्षमा नहीं है ।

आत्मा साक्षात् अमृत का सागर है, विकल्पातीत है, उसके अनुभव विना जितने भी निश्चय-व्यवहार के विकल्प उठते हैं, वे सव संसार हैं । चौथे गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि को जितनी शान्ति प्रगट हुई है, पंचम गुणस्थानवाले को उससे अधिक शान्ति होती है और छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को तो शान्ति व वीतरागता और भी अधिक वढ़ जाती है, किन्तु फिर भी मुनिराज को जो पंचमहाव्रत का विकल्प आता है, उसे समयसार नाटक के मोक्षद्वार में पं० वनारसीदास जी ने जगपंथ कहा है :–

> ता कारन जगपन्थ इत, उत सिव जोर ।
> परमादी जगकौं धुकै, अपरमादी सिव ओर ।। ४० ।।

तात्पर्य यह है कि प्रमाद संसार का कारण है और अनुभव मोक्ष का कारण है । प्रमादी जीव संसार की ओर झुकता है ।

भावलिंगी मुनिराज को निज आत्मद्रव्य का आश्रय विशेष है, श्रावक की तुलना में वहुत अधिक है, तथापि पूर्ण नहीं है । यदि पूर्ण हो, तो केवलज्ञान हो जावे । ऐसे मुनिराजों को भी जितना प्रमाद का अंश है, उतना जगपन्थ है । छठवें गुणस्थान में जो महाव्रतादि पालन करने का विकल्प आता है, वह प्रमादभाव है और वह जगपन्थ है । प्रमाद छोड़कर जितना स्वरूप में ठहरे, वह शिवपन्थ है, मोक्षपन्थ है ।

यहाँ केवली व अनुभवकाल में रहनेवाले सम्यग्दृष्टि को समान दर्शाया है । यह तो उस चौथे गुणस्थानवाले जीव की वात है, जिसका परद्रव्य के साथ कर्त्ताकर्म सम्वन्ध छूट गया है । ज्ञानी आत्मा वस्तुतः सम्पूर्ण विकल्पों से अत्यन्त भिन्न होने से परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार ही है ।

अहाहा....! जिसे अपने परमस्वरूप का अनुभव हुआ, उसे यहाँ अनुभवकाल में परमात्मा कहा है, क्योंकि उसकी दृष्टि में सदा मुक्तस्वरूप

निर्विकल्प भगवान आत्मा आ गया है। इसीसे उसे परमात्मा कहा है। वह ज्ञानात्मा है, क्योंकि वह अकेला ज्ञान का गोला त्रिकाली ध्रुव प्रभु है। उसपर दृष्टि पड़ते ही वह पर्याय में प्रगट ज्ञानात्मा हो जाता है। जैसा ज्ञानस्वरूप त्रिकाली भगवान है, वैसा ही उसे अनुभव में आ गया है, इसकारण भी वह ज्ञानात्मा है। वह प्रत्यग्ज्योति है, क्योंकि विकल्परहित होने पर विकल्प से पृथक् ज्योतिस्वरूप है। अहाहा....! सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है – इस बात की लोगों को खबर नहीं है।

सम्यग्दर्शन अर्थात् सत्यदर्शन। अपने अन्दर जो विकल्परहित त्रिकाली ध्रुव वस्तु का अनुभव होता है, उसी का नाम सम्यग्दर्शन है। इसकारण वह ज्ञानात्मा हुआ है, प्रत्यग्ज्योतिस्वरूप हुआ है, आत्मख्याति-रूप हुआ है। इस टीका का नाम भी आत्मख्याति है। आत्मख्याति अर्थात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि। पहले अज्ञानावस्था में राग एवं विकल्पों की ही प्रसिद्धि होती थी और अब ज्ञानी – धर्मीजीव निर्विकल्प अनुभव की दशा में आत्मा की प्रसिद्धि करके आत्मख्यातिस्वरूप हुआ है। आत्मा तो सदा त्रिकाल परिपूर्ण ही है, किन्तु पर्याय में प्रसिद्धि होने से अब वह आत्मख्याति-रूप हो गया है।

भाई ! व्यवहार के विकल्प आत्मख्याति के साधन नहीं हैं। नय विकल्पों को जो व्यवहार से साधन माना गया है, वस्तुतः तो वे अनुभूति में बाधक ही हैं। भाई ! राग या विकल्प वस्तुस्वरूप में नहीं है तथा पर्याय में जो राग उठता है, वह भी सब संसार है। अहाहा....! जगत से जगतेश्वर भगवान आत्मा भिन्न वस्तु है। इसप्रकार अपने शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा की अनुभूति होनेपर वह आत्मा अनुभूतिमात्र समयसार हुआ। भाई ! वह समयसार राग से नहीं जाना जा सकता। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के विकल्पों द्वारा या नयपक्ष के विकल्पों द्वारा भी वह भगवान आत्मा ग्रहण नहीं होता और उन विकल्पों से आत्मा जाना भी नहीं जा सकता।

उस ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा के अनुभव में आने का नाम ही सामायिक है। सामायिक का अर्थ है समता। ज्ञानी को विकल्पों की विषमता दूर होने पर जो वीतरागता या समता का लाभ होता है, उसी समता का नाम सामायिक है। बाह्य क्रिया में सामायिक नहीं है। अहो ! इस गाथा में गजब की बात की है।

अहाहा....! जिसमें राग का अंश भी नहीं है, ऐसे शुद्ध चैतन्यमय आत्मा का अनुभव करनेवाले को यहाँ पहले परमात्मा कहा, फिर इसके

ज्ञानगुण को मुख्य करके ज्ञानात्मा कहा तथा राग से भेदज्ञान कराके उसे ही प्रत्यग्ज्योति कहा, तत्पश्चात् उसे ही आत्मज्योति कहा और अन्त में उसी को अनुभूतिमात्र समयसार कहा है।

यह ऐसी महत्त्वपूर्ण और अपूर्वबात है कि वहुतों ने तो इसे अपने जीवन में अब तक सुना भी नहीं होगा। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव यह भगवान का संदेश विदेहक्षेत्र से सीमन्धर परमात्मा के पास से लाये हैं। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन का स्वरूप कैसा होता है – इसकी यह वात है। श्रावक का पंचम गुणस्थान तो इससे भी कहीं अलौकिक वस्तु है। वापू उनके अन्तर आत्मा में तो स्वानुभव के आनन्द का सागर उमड़ता है, नदी जैसा पूर आता है तथा प्रचुर आनन्द में झूलते हुए मुनि के आनन्द की तो वात ही क्या कहें? भाई! 'णमोलोए सव्वसाहूणं' ऐसे णमोकार मंत्र के पाँचवें पद में जिनका स्थान है, उन वीतरागी निर्ग्रन्थ मुनि की तो महिमा ही अपरम्पार है। जिनके तीन कषाय के अभाव से अन्तर में आत्मा प्रसिद्ध हो गया है, वे मुनि अन्तर्वाह्य निर्ग्रन्थ होते हैं। उनको जो पंचमहाव्रत का विकल्प उठता है, वह भाव अपराध है, किन्तु वह टलने के लिए ही है। भाई! जिसभाव से तीर्थंकर प्रकृति वँधती है, वह भाव भी अपराध है। जिस भाव से वंध होता है, वह भाव धर्म कैसे हो सकता है? वह भाव शुभ है और मोक्षमार्ग में शुभभाव भी अपराध है, क्योंकि वह भी स्वभाव से विरूद्ध है, संसार का कारण है। यद्यपि मुनि को भी वह होता है, परन्तु नाश होनेवाला है – ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

गाथा १४३ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, जैसे केवली भगवान सम्पूर्ण विश्व के साक्षी अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा हैं, 'मैं शुद्ध हूँ, हितोपदेशी हूँ' – ऐसा केवली भगवान को विकल्प नहीं है। सर्वज्ञ भगवान केवलज्ञान द्वारा विश्व के अनन्त पदार्थों को, प्रत्येक को द्रव्य-गुण-पर्यायसहित भिन्न-भिन्न स्पष्ट प्रत्यक्ष जानते हैं, परन्तु उनको विकल्प नहीं हैं, वे केवली भगवान श्रुतज्ञान के अंशरूप नयपक्ष के भी ज्ञाता-दृष्टा हैं। 'मैं द्रव्य से भी शुद्ध और पर्याय से भी शुद्ध' – ऐसा नयपक्ष का विकल्प सर्वज्ञ भगवान को नहीं है, क्योंकि उन्हें केवलज्ञान है और वे उसके द्वारा नयपक्ष के स्वरूप के ज्ञाता-दृष्टा मात्र ही हैं। उसीप्रकार भाव-श्रुतज्ञानी को जव सर्वप्रथम निर्विकल्प अनुभव होता है, तव वह समस्त नयपक्ष के विकल्प से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु का अनुभव करता है, उससमय वह भी नयपक्ष के स्वरूप का ज्ञाता ही रहता है।

अब कहते हैं कि एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण करे, तो मिथ्यात्व के साथ मिला हुआ राग होता है।

पर्याय में बद्ध है द्रव्य अपेक्षा अबद्ध है, – ऐसा जो वस्तुस्वरूप है, उसे तो अज्ञानी मानता नहीं है और एकान्त से एकपक्ष को ही ग्रहण करता है। पर्याय में अशुद्धता है – ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है और द्रव्य त्रिकाल शुद्ध है – ऐसा निश्चयनय का पक्ष है। जो इनमें एक नय को तो माने और दूसरे को न माने, तो वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है।

मैं त्रिकाल शुद्ध चैतन्यमय आनन्दकन्द प्रभु हूँ – ऐसा तो जाने नहीं और व्रतादि के शुभराग को ही मात्र ग्रहण करके संतुष्ट रहे, तो वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। तथा 'आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु है' – ऐसा कहे; परन्तु पर्याय में जो रागादि हैं, उन्हें स्वीकार नहीं करे, तो वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है तथा दोनों पक्षों को तो ग्रहण करे और आत्मा को ग्रहण न करे, तो वह भी विकल्पों के जाल में उलझा हुआ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है। जैन होने की तो यह शर्त है कि किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करे, बल्कि दोनों नयों के द्वारा वस्तु को यथार्थ जानकर नयपक्ष को भी छोड़कर मात्र आत्मवस्तु को ही ग्रहण करे।

अब कहते हैं कि प्रयोजनवश एक नय को प्रधान करके उसे ग्रहण करे, तो मिथ्यात्व नहीं होगा, मात्र चारित्रमोह का राग रहेगा। 'मैं शुद्ध, अखण्ड, एकरूप, आनन्दस्वरूप हूँ, ज्ञायक हूँ' इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए व्यवहारनय के पक्ष को गौण करके तथा निश्चयनय के पक्ष को मुख्य करके उसे ग्रहण करे, तो मिथ्यात्वरहित मात्र चारित्रमोह का राग रहता है। अनुभव होने के बाद भी 'मैं शुद्ध हूँ' – ऐसा प्रधानपने पक्ष रहे, तो वह रागरूप चारित्र का दोष है। उसे ज्ञानी यथावत् जानता है और उग्र पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव का आश्रय करके उसे भी दूर करता है।

और जब नयपक्ष को छोड़कर वस्तुस्वरूप को केवल जानता ही है, तब श्रुतज्ञानी भी केवलज्ञानी की तरह वीतराग जैसा ही होता है। सम्यग्दर्शन ही सराग व वीतराग – ऐसे दो प्रकार का नहीं है, एक वीतरागस्वरूप ही है। विकल्परहित निर्विकल्प स्वानुभूति ही वीतरागदशा है। जब ऐसा अनुभव करे, तब भावश्रुतज्ञानी भी केवली के अनुसार वीतराग जैसा ही होता है – ऐसा जानना।

कलश ९२

अब इस कलश में यह कहते हैं कि वह आत्मा ऐसा अनुभव करता है : —

(स्वागता)

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बंधपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ।। ९२ ।।

श्लोकार्थ : – [**चित्स्वभाव-भर-भावित-भाव-अभाव-भाव परमार्थ-तया-एकम्**] चित्स्वभाव के पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य किये जाते हैं, ऐसा जिसका परमार्थ स्वरूप है इसलिये जो एक है ऐसे [**अपारम् समयसारम्**] अपार समयसार को मैं [**समस्तां बन्धपद्धतिम्**] समस्त बन्ध-पद्धति को [**अपास्य**] दूर करके अर्थात् कर्मोदय से होनेवाले सर्व भावों को छोड़कर [**चेतये**] अनुभव करता हूँ ।

भावार्थ :– निर्विकल्प अनुभव होने पर जिसके केवलज्ञानादि गुणों का पार नहीं ऐसे समयसाररूपी परमात्मा का अनुभव ही वर्तता है, 'मैं अनुभव करता हूँ' – ऐसा भी विकल्प नहीं होता ऐसा जानना ।

कलश ९२ पर प्रवचन

आत्मा चित्स्वभाव का पुंज है, उसमें संसार के कोई भी विकल्प नहीं हैं । औदयिकभावों के विकल्पों से रहित तथा जगत की अन्य समस्त वस्तुओं से भिन्न आत्मा चित्स्वभाव का पुंज है । ऐसा त्रिकाली आत्मद्रव्य अपने चैतन्यपुञ्ज के द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है । अहाहा····! त्रिकाली ज्ञायक चैतन्यस्वभावरूप आत्मा अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाव के द्वारा ही नवीन अवस्थारूप उत्पाद, एक समयपूर्व की पुरानी अवस्था के अभावरूप व्यय तथा स्थिरतारूप ध्रुवस्वभाव से अनुभव में आता है ।

उस ज्ञानस्वभाव आत्मा का ऐसा स्वरूप नहीं है कि वह किसी राग के विकल्प से या अन्य किसी निमित्त से उत्पाद-व्यय करता हो या ध्रुवरूप जाना जाता हो ।

आत्मा चैतन्यस्वभाव का पुञ्ज है । गाड़ी में जो घास भरते हैं, उसे 'भर' कहते हैं, गाड़ी के घास की तरह ही आत्मा में ज्ञान ठसाठस भरा है । ऐसे उस चित्स्वभाव के पुञ्ज आत्मा द्वारा ही उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य

होता है। एतदर्थ आत्मा को विकल्प करना भी नहीं है और टालना भी नहीं है। आत्मा तो अपनी निर्मल पर्याय से उत्पन्न होता है, पूर्व की पर्याय से व्यय और वस्तुस्वरूप से ध्रुव रहता है – इसप्रकार आत्मा अपने उत्पाद व्यय-ध्रौव्यरूप क्रिया को करता ही है।

यह कर्त्ता-कर्म अधिकार है, अतः यहाँ कहते हैं कि आत्मा न तो राग को करता है और न परद्रव्य के किसी अन्य कार्य को ही करता है, वह तो मात्र अपने चैतन्यस्वरूप को करता है।

भाई ! धर्म की प्रारंभिक दशा का शुभारम्भ कैसे होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट होने की क्या रीति है ? यह यहाँ बता रहे हैं। राग या निमित्त से वस्तु वस्तुपने विद्यमान नहीं है। पर्याय से भी वस्तु को 'भावाय' रूप नहीं कहा, बल्कि यहाँ तो त्रिकाली वस्तु को, जो कि ज्ञानस्वभाव से भरपूर है और उससे ही वह अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमन करती है – यह कहा है। यह चौथे गुणस्थान की बात चल रही है, चारित्र की नहीं।

आत्मा ऐसा दुर्बल तत्त्व नहीं है कि राग की सहायता से ही उसका काम होगा। आत्मा तो परिपूर्ण सर्व-शक्तिसम्पन्न वस्तु है। उसकी स्वयं की स्वभावभूत शक्ति से ही उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमन करने में पर की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि आत्मा स्वयं परिपूर्ण तत्त्व है, उसमें कोई कमी नहीं है।

ये ज्ञानप्रधान कथन है, अतः कहते हैं कि चित्स्वभाव आत्मा के द्वारा ही आत्मा का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है, व्यवहार के विकल्पों द्वारा नहीं।

प्रभु ! तुम्हें अपने बड़प्पन की खबर नहीं है। व्यवहार में दया, दान भक्ति आदि शुभभावों की तुझे महिमा आती है, परन्तु भाई ! ये भाव तो दुःखरूप हैं। पुण्य की महिमावाले सेठिया लोग पराधीन हैं, दुःखी हैं।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव का पुञ्ज भगवान आत्मा स्वयं अपने से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमता है, अर्थात् ध्रुवरूप से रहता है और उसी के आश्रय से निर्मल वीतरागी पर्याय का उत्पाद होता है। अहो .... ! एक पंक्ति में कितना समझाया है। देखो तो दिगम्बर सन्तों की करुणा ! जो वस्तु शब्द से ज्ञात नहीं होती, उसे शब्दों से ही समझा रहे हैं।

प्रश्न :– यदि आत्मा शब्दों से ज्ञात नहीं होता, तो फिर शब्दों से क्यों समझाया, कैसे समझाया ?

उत्तर :– शब्द तो अपने स्वसमय में अपनी योग्यता से अपने ही कारण शब्दरूप परिणमे हैं। उन शब्दों में वस्तु के कथन करने की शक्ति तो है; परन्तु वस्तु को परिणमन कराने की, किसी को समझाने की शक्ति नहीं है। हाँ, जब कोई जीव शब्दों को सुनकर शब्द सम्बन्धी विकल्प को भी तोड़कर चित्स्वभावी आत्मा में एकाग्र होकर सम्यग्दर्शन प्राप्तकर लेता है, तब शब्दों को निमित्त कहा जाता है; परन्तु शब्दों से या निमित्तों से वस्तु की प्राप्ति नहीं होती।

भाई ! जिस क्षण देह छूटना हो, उसी क्षण छूट जाती है, एक क्षण भी आगे-पीछे नहीं होती। देखो ! बम्बई से एक हवाई जहाज उड़ान भरते-भरते यन्त्र की खराबी से समुद्र में गिर गया, नब्बे मनुष्य क्षणभर में मृत्यु की गोद में सदा के लिए सो गये। ऐसा मरण का दुःख इस जीव ने एक बार नहीं, अनंतबार सहा है। आलू, शकरकन्द, लहसुन आदि जमीकन्द की एक जरा-सी कटकी में असंख्य शरीर हैं, प्रत्येक शरीर में अनन्त जीव हैं। जब उन्हें तेल में तलते हैं, उससमय उनके दुःख की कल्पना करो, तो रोंगटे खड़े हो जायेंगे, फिर भी रसना इन्द्रिय के लोलुपी उन्हें तल-तलकर खाते हैं। यह नामधारी जैन को भी कलंक की बात है। क्या ऐसा काम उन्हें शोभा देता है ? भाई ! स्वरूप को भूलकर हम तुम सब अनन्तबार इसी प्रकार तले गये हैं।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि प्रभु ! तू चित्स्वभाव का पुञ्ज है और अपने चैतन्य स्वभाव के द्वारा ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमता है। विकल्पभाव आत्मा के स्वभाव में नहीं है। भाई ! यह तो वीतरागता का मार्ग है, जो वीतरागभाव से ही प्रगट होता है। आत्मप्रभु ! त्रिकाली तेज का पुञ्ज है, उसके आश्रय से ही निर्मल अवस्था उत्पन्न होती है और उसे ही धर्म कहा जाता है।

यह भगवान सर्वज्ञदेव का फरमान है। श्रीमद् राजचन्द ने एकबार कहा था कि हमारा यह नाद कौन सुनेगा कि परद्रव्यरूप एक तिनके के दो टुकड़े करने की ताकत भी आत्मा में नहीं है, अर्थात् जड़ की पर्याय का कर्त्ता आत्मा नहीं है। तिनके का टुकड़ा उसके अपने स्वकाल में जब जिस-कारण से होना हो, तभी उसी कारण से होता है, हमारे-तुम्हारे हाथ से या चाकू से या आत्मा से नहीं होता। ये सब निमित्त हो सकते हैं, निमित्त

परद्रव्य का कर्ता मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं'', इत्यादि अर्थ की सूचक गाथायें दृष्टान्त सहित कहते हैं —

व्यवहारमूढ़ अतत्त्वविद् परद्रव्य को मेरा कहे ।
''अणुमात्र भी मेरा न'' ज्ञानी जानता निश्चय हि से ॥ ३२४ ॥
ज्यों पुरुष कोई कहे ''हमारा ग्राम, पुर अरु देश है'' ।
पर वो नहीं उसका अरे! जीव मोह से ''मेरा'' कहे ॥ ३२५ ॥
इस रीत ही जो ज्ञानी भी 'मुझे' जानता परद्रव्य को ।
वो जरूर मिथ्यात्वी बने, निजरूप करता अन्य को ॥ ३२६ ॥
इससे 'न मेरा' जान जीव, परद्रव्य में इन उभय की ।
कर्तृत्वबुद्धी जानता, जाने सुदृष्टीरहित की ॥ ३२७ ॥

गाथार्थ : [**अविदितार्थाः**] जिन्होंने पदार्थ के स्वरूप को नहीं जाना है ऐसे पुरुष [**व्यवहारभाषितेन तु**] व्यवहार के वचनों को ग्रहण करके [**परद्रव्यं मम**] 'पर द्रव्य मेरा है' [**भणंति**] ऐसा कहते हैं, [**तु**] परन्तु ज्ञानी जन [**निश्चयेन जानंति**] निश्चय से जानते हैं कि [**किंचित्**] 'कोई [**परमाणुमात्रम् अपि**] परमाणुमात्र भी [**न च मम**] मेरा नहीं है'।

[**यथा**] जैसे [**कः अपि नरः**] कोई मनुष्य [**अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्**] 'हमारा ग्राम, हमारा देश, हमारा नगर, हमारा राष्ट्र' [**जल्पति**] इस प्रकार कहता है, [**तु**] किन्तु [**तानि**] वे [**तस्य**] उसके [**न च भवंति**] नहीं हैं, [**मोहेन च**] मोह से [**सः आत्मा**] वह आत्मा [**भणंति**] 'मेरे हैं' इस प्रकार कहता है; [**एवम् एव**] इसी प्रकार [**यः ज्ञानी**] जो ज्ञानी भी [**परद्रव्यं मम**] 'परद्रव्य मेरा है' [**इति जानन्**] ऐसा जानता हुआ [**आत्मानं करोति**] परद्रव्य को निजरूप करता है, [**एषः**] वह [**निःसंशयं**] निःसंदेह अर्थात् निश्चयतः [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि [**भवति**] होता है।

[**तस्मात्**] इसलिये तत्त्वज्ञ [**न मे इति ज्ञात्वा**] 'परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर, [**एतेषां द्वयेषाम् अपि**] इन दोनों का (लोक का और श्रमण का)—[**पर-द्रव्ये**] परद्रव्य में [**कर्तृव्यवसायं जानन्**] कर्तृत्व के व्यवसाय को जानते हुए, [**जानीयात्**] यह जानते हैं कि [**दृष्टिरहितानाम्**] यह व्यवसाय सम्यग्दर्शन से रहित पुरुषों का है।

कलश ९२ के भावार्थ पर प्रवचन

चौथे गुणस्थान में आत्मा के स्वरूप का निर्विकल्प अनुभव होने पर जिसके केवलज्ञानादि गुणों का पार नहीं है – ऐसे अनन्त गुणमय समयसार स्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव ही वर्तता है और पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावकों को तो चौथे गुणस्थान की तुलना में बहुत अधिक शान्ति बढ़ जाती है तथा मुनियों की शान्ति की तो बात ही क्या कहें, वे तो प्रचुर शान्ति व आनन्द के ही स्वामी हो जाते हैं। अहाहा....! केवलज्ञानादि अर्थात् ज्ञानमात्र, दर्शनमात्र, सुखमात्र, वीर्यमात्र आदि अपार-अनन्त गुणों का पिण्ड प्रभु समयसार आत्मा है। मुनिराज को स्वानुभव में उनका प्रचुर संवेदन होता है। अनुभव के काल में ऐसा विकल्प भी नहीं होता कि 'मैं अनुभव करता हूँ', मात्र परमस्वरूप परमात्मा का अनुभव ही वर्तता है।

जो जगत की लौकिक लक्ष्मी का स्वामी होता है, वह तो जड़ का स्वामी है तथा धर्मीजीव स्वानुभवजनित आनन्द का स्वामी है। अहा ! धर्मी को जब निर्विकल्प अनुभव होता है, तब 'मैं अनुभव करता हूँ' – ऐसा विकल्प भी नहीं रहता, धर्मी की ऐसी अद्भुत अलौकिक दशा है।

जैसे महा रतन की ज्योति मैं लहरि उठै,
जलकी तरंग जैसें लीन होय जलमैं।
तैसें सुद्ध आतम दरब परजाय करि,
उपजै बिनसै थिर रहै निज थलमैं।।

ऐसै अविकलपी अजलपी अनंदरूपी,
अनादि अनंत गहि लीजै एक पल मैं।
ताकौ अनुभव कीजै परम पीयूस पीजै,
बंधकौ विलास डारि दीजै पुदगलमैं ।।२९।।

—समयसार नाटक, कर्त्ता-कर्म-क्रिया द्वार

समयसार गाथा १४४

पक्षातिक्रान्त एव समयसार इत्यवतिष्ठते :-

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥ १४४ ॥

सम्यग्दर्शनज्ञानमेष लभत इति केवलं व्यपदेशम्।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः ॥ १४४ ॥

अयमेक एव केवलं सम्यदर्शनज्ञानव्यपदेशं किल लभते यः खल्वखिलनयपक्षाक्षुण्णतया विश्रांतसमस्तविकल्पव्यापारः स समयसारः। यतः प्रथमतः श्रुतज्ञानावष्टंभेन ज्ञानस्वभावमात्मानं निश्चित्य ततः

अब यह कहते हैं कि पक्षातिक्रान्त ही समयसार है, यह नियम से सिद्ध है :-

सम्यक्त्व और सुज्ञान की, जिस एक को संज्ञा मिले।
नयपक्ष सकल विहीन भाषित, वो समय का सार है ॥ १४४ ॥

गाथार्थः- [यः] जो [सर्वनयपक्षरहितः] सर्व नयपक्षों से रहित [भणितः] कहा गया है [सः] वह [समयसारः] समयसार है; [एषः] इसी (समयसार को ही) [केवलं] केवल [सम्यग्दर्शनज्ञानम्] सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान [इति] ऐसी [व्यपदेशम्] संज्ञा (नाम) [लभते] मिलती है, (नामों के भिन्न होने पर भी वस्तु एक ही है)।

टीकाः-वास्तव में समस्त नयपक्षों के द्वारा खंडित न होने से जिसका समस्त विकल्पों का व्यापार रुक गया है, ऐसा समयसार है; वास्तव में इस एक को ही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का नाम प्राप्त है। (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसार से अलग नहीं है, एक ही है।)

प्रथम, श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय

खल्वात्मख्यातये परख्यातिहेतूनखिला एवेन्द्रियानिन्द्रियबुद्धीरवधार्य आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्वः, तथा नानाविधनयपक्षालंबनेनानेक विकल्पैराकुलयंती: श्रुतज्ञानबुद्धीरप्यवधार्य श्रुतज्ञानतत्त्वमप्यात्माभिमुखी कुर्वन्नत्यंतमविकल्पो भूत्वा झगित्येव स्वरसत एव व्यक्तीभवतंमादिमध्यान्तविमुक्तमनाकुलमेकं केवलमखिलस्यापि विश्वस्योपरि तरंतमिवाखंडप्रतिभासमयमनंतं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विंदन्नेवात्मा समग्दृश्यते ज्ञायते च; ततः सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च समयसार एव।

करके और फिर आत्माकी प्रगट-प्रसिद्धि के लिये, परपदार्थ की प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों द्वारा और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियों को मर्यादा में लेकर जिसने मतिज्ञान-तत्त्व को (मतिज्ञान के स्वरूप को) आत्मसन्मुख किया है ऐसा, तथा जो नानाप्रकार के नयपक्षों के आलम्बन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यंत विकल्प रहित होकर, तत्काल निजरस से ही प्रगट होता हुआ, आदि मध्य और अन्त से रहित, अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण हो विश्व पर मानों तैरता हो, ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन परमात्मारूप समयरूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है, तब उसीसमय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात् उसकी श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है, इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

भावार्थ :– पहले आत्मा का आगमज्ञान से ज्ञानस्वरूप निश्चय करके फिर इन्द्रियबुद्धिरूप मतिज्ञान को ज्ञानमात्र में ही मिलाकर तथा श्रुतज्ञानरूपी नयों के विकल्पों को मिटाकर श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प करके एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के नाम को प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहीं अनुभव से भिन्न नहीं है।

गाथा १४४ की उत्थानिका, गाथा, टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

अब इस १४४ गाथा में यह कहते हैं कि निश्चय से पक्षातिक्रान्त आत्मा ही समयसार है। आगम से भी यह बात सिद्ध है।

'मैं अबद्ध हूँ, एक हूँ' – ऐसे पक्ष के राग को भी जो छोड़ देता है, अर्थात् नयपक्ष के विकल्प से भी जो खण्डित नहीं होता, वह आत्मा समयसार है, क्योंकि भगवान आत्मा सदा ज्ञानानन्दस्वभावी नित्यानन्द प्रभु है, ऐसा जो निश्चयनय का पक्ष है, यह भी आत्मा की शान्ति को भंग करता है। 'समस्त नयपक्ष द्वारा खण्डित नहीं होने से' – ऐसा जो हेतु कहा है, इसका अर्थ यह है कि अबतक जो पहले नयपक्ष के विकल्पों से खण्डित होता था, वह अब शुद्ध चैतन्यस्वरूप के लक्ष्य से, समस्त नयपक्ष छूट जाने से जिसके समस्त विकल्पों का व्यापार रुक गया है, वह आत्मा समयसार है।

देखो ! यह सर्वज्ञदेव की वाणी का सार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य प्रगट कर रहे हैं। वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में साक्षात् सीमन्धर स्वामी सर्वज्ञपद में विराज रहे हैं। उनकी देह ५०० धनुष है और अरब वर्षों बाद सिद्धपद प्राप्त करेंगे। कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ उनके पास गये थे और आठ दिन वहाँ रहकर भारत में भगवान का यह संदेश लाये थे।

भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से चैतन्यरस से भरा हुआ अनादि-अनन्त निर्मलतत्त्व है। आत्मा त्रिकाली, शुद्ध, परमपवित्र, परमात्मद्रव्य है – यह तो यथार्थ है; परन्तु ऐसा जो नयपक्ष का विकल्प उठता है, वह वस्तु के स्वभाव में नहीं है। वह विकल्प चैतन्यस्वभाव से भिन्न है। अन्तर्स्वभाव की दृष्टि होने पर ही सर्व नयपक्ष के विकल्प खण्डित होकर समाप्त हो जाते हैं, उत्पन्न नहीं होते। अहाहा ···· ! मैं ज्ञानस्वभावी त्रिकाली ध्रुव परमात्मद्रव्य हूँ – ऐसा भी विकल्प जिसमें नहीं है, ऐसा आत्मा त्रिकाली, निर्विकल्प चैतन्य महाप्रभु है। उस आत्मा पर दृष्टि पड़ते ही अर्थात् उस त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में वर्तमान ज्ञान की पर्याय एकत्व को प्राप्त होते ही समस्त विकल्पों का व्यापार रुक जाता है, वह निर्विकल्प आत्मा ही समयसार है। जैसा शुद्ध चैतन्यमय आत्मा है, वैसा ही निर्विकल्प अनुभव में आने पर समयसार जानने में आता है और वह समयसार ही आत्मा है। भाई ! इसके सिवाय राग की या विकल्प की जो वृत्तियाँ उठती हैं, वे सब अनात्मा हैं, जड़ हैं, अचेतन हैं।

ऐसी स्वानुभव दशा प्रगट हुए बिना अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट हुए बिना व्रत, तप, भक्ति आदि सब एक के अंक बिना शून्यवत् ही है तथा इस राग में तन्मय होना भी मिथ्यात्वभाव ही है, जिसका फल अनन्त संसार है।

आचार्यदेव यहाँ कहते हैं कि नयपक्ष से रहित जो अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव करता है, वह समयसार है। अहाहा ···· ! अकेला ज्ञान ···· ज्ञान ···· ज्ञान ···· ! ऐसा ज्ञायक स्वभाव का दल प्रभु आत्मा है। इस आत्मा के सन्मुख होकर एकमात्र उसी का अनुभव करने पर समस्त विकल्पों का नाश हो जाता है, अर्थात तब कोई विकल्प उत्पन्न नहीं होता। उसे ही समयसार अर्थात् आत्मा कहते हैं और एक आत्मा को ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान नाम मिलता है।

देखो, यह चौथे गुणस्थान की बात है। श्रावकपना व मुनिपना तो इससे भी आगे की कोई अद्‌भुत, अलौकिक दशा है। देव-शास्त्र-गुरु का बाह्य श्रद्धान या नवतत्त्व के भेदरूप श्रद्धान को तो निमित्तादि की अपेक्षा केवल व्यवहार से सम्यग्दर्शन कहा है। निश्चय से तो निर्विकल्प आत्मा की अनुभति ही सम्यग्दर्शन है, भेदरूप विकल्प सम्यग्दर्शन नहीं है।

'रहस्यपूर्णचिट्ठी' में पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने कहा है कि "जैनमत में कहे देव-गुरु-धर्म को मानता है; सप्त तत्त्वों को मानता है, अन्य मत में कहे देवादि, तत्त्वादि को नहीं मानता; तो इसप्रकार केवल व्यवहार सम्यक्त्व से सम्यक्त्वी नाम नहीं पाता, अतः स्व-परभेदविज्ञान सहित जो तत्त्वार्थ श्रद्धान हो, उसी को सम्यक्त्व जानना।" शुद्ध चैतन्य-मूर्ति प्रभु आत्मा वीतराग स्वभावी है, उसका अन्तर-अनुभव करने को ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान कहते हैं। वह सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान समयसार से भिन्न नहीं है, समयसार ही है।

जैसे सिद्ध भगवान का किसी परद्रव्य या विकल्प के साथ सम्बन्ध नहीं है, उसीप्रकार परमानन्द स्वरूप भगवान आत्मा का भी किसी परद्रव्य या विकल्प के साथ सम्बन्ध नहीं है। अरे भाई ! आत्मा का स्वरूप परद्रव्य की व्यवस्था करना नहीं है। शुभाशुभभाव करना भी आत्मा के स्वरूप में नहीं है। जो शुभाशुभभावों का कर्त्ता बनता है, वह मिथ्यादृष्टि है, अनात्मा है। आत्मा परद्रव्य की किसी पर्याय को तो कर ही नहीं सकता; किन्तु अपनी पर्याय में भी रागादि या विकल्पादि नहीं कर सकता। जो राग व विकल्प का कर्त्ता स्वयं को मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। देखो, यह कर्त्ता-कर्म अधिकार है, अतः यहाँ कहा है कि विकल्प करना चैतन्य के स्वरूप में ही नहीं है, फिर भी यदि कोई विकल्पों का कर्त्ता बने और विकल्पों को अपना कार्य माने, तो वह मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा विज्ञानघन प्रज्ञा ब्रह्मस्वरूप परमात्मा है, इसमें पर का और विकल्पों का अवकाश ही कहाँ है ? क्षुल्लक धर्मदासजी ने तो इसे सप्तम

द्रव्य कहा है। समयसार गाथा ४९ की टीका में अव्यक्त के छह बोल कहे हैं, उसके पहले बोल में कहा है कि छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञेय है और व्यक्त है, जीव उनसे अन्य है, अतः अव्यक्त है। छह द्रव्य ज्ञान में जानने लायक है, इसलिए व्यक्त है। भगवान आत्मा उनसे भिन्न है, छह द्रव्य में सम्मिलित होता हुआ भी छहों द्रव्यों से भिन्न है, अतः इसे सप्तम द्रव्य कहा है। एक ओर राम और दूसरी ओर पूरा ग्राम, अर्थात् इस विश्व के जाति अपेक्षा एवं संख्या अपेक्षा अनन्त द्रव्य इस आत्मा से भिन्न हैं और आत्मा भी इन सभी द्रव्यों से भिन्न है। स्वयं अपने को जानता हुआ, यह सब द्रव्यों को जानता है, क्योंकि यह ज्ञानस्वभावी है। स्वयं का स्व-परप्रकाशकस्वभाव होने से स्वयं को जानते हुए भी पर इसके ज्ञानस्वभाव से जान लिए जाते हैं। आत्मा को केवल पर का जाननेवाला मानना अज्ञान है। स्वभाव में तन्मय होने पर स्वयं को जानते हुए, पर भी जान लिये जाते हैं, यह पर का जानना ही व्यवहार कहलाता है, इसी का नाम सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान स्वरूप के अनुभव सहित होता है। सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान आत्मा से जुदे भाव नहीं हैं, इस बात की मुख्यता रखते हुए आत्मानुभव की प्रक्रिया का प्रारम्भ कैसे होता है — इसी बात को इस गाथा में मुख्यरूप से सविस्तार बताया गया है।

आचार्य कहते हैं कि सर्वप्रथम वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कहे गये, गणधरदेव द्वारा गूंथे गये एवं तदनुसार कुन्दकुन्दाचार्यादि दिगम्बर सन्तों द्वारा रचे गये शास्त्रों के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करना चाहिए। निर्विकल्प अनुभव के लिए पहले विकल्प द्वारा ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने को कहा है। इससे ऐसा नहीं समझना कि यह विकल्पात्मक निर्णय निर्विकल्प अनुभव का कारण है, बल्कि यह जानना कि निर्विकल्प अनुभव के पहले विकल्पात्मक निर्णय होता ही है। प्रथम भूमिका में श्रुतज्ञान के अवलम्बन से राग मिश्रित विचार द्वारा यह निर्णय होता है कि — मैं त्रिकाली शुद्ध ज्ञानस्वभावी नित्यानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा हूँ।

'श्रुतज्ञान के अवलम्बन से' — इसका अर्थ यह है कि सर्वज्ञदेव एवं निर्ग्रन्थ गुरु आगम द्वारा जो बात कहते हैं, उसे सुनकर आत्मार्थी जीव पहले विकल्प में ऐसा निर्णय करता है कि मैं विकल्पों से लेकर समस्त लोकालोक से भिन्न शुद्ध ज्ञानस्वभावी हूँ। इसे जानकर सर्वप्रथम वह मन में विकल्पात्मक निर्णय करता है। सम्यग्दर्शन का होना तो बाद की बात है, यह तो विकल्पात्मक निर्णय करने की बात है।

प्रथम, आत्मा के अनुभव की शुरुआत जिसे करनी हो, जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, उसे प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करना चाहिए। दया, दान आदि के विकल्प विभाव हैं, चैतन्य के स्वभाव नहीं हैं तथा भगवान आत्मा इनसे भिन्न अनादिनिधन मात्र ज्ञायकस्वभावी चैतन्य का पिण्ड प्रभु है – ऐसा श्रीगुरु द्वारा सुनकर 'मैं अकेला ज्ञानपुञ्ज निर्विकल्पस्वरूप आत्मा हूँ' ऐसे विकल्प द्वारा पहले ऐसा निर्णय करता है; परन्तु इतने मात्र से आत्मा की प्रगट-प्रसिद्धि नहीं होती। अतः तत्पश्चात् आत्मा की प्रगट-प्रसिद्धि के लिए परपदार्थों की प्रसिद्धि की हेतुभूत इन्द्रियों और मन के द्वारा प्रवर्तित बुद्धियों को मर्यादा में लेकर मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख करता है।

देखो, सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी द्रव्यश्रुत है। धवलशास्त्र में आता है कि केवली भगवान श्रुतज्ञान द्वारा उपदेश देते हैं। अभिप्राय यह है कि जिज्ञासु प्रथम द्रव्यश्रुत द्वारा समझता है, जो कि भावश्रुतज्ञान प्रगट होने में निमित्त है। वस्तुतः वाणी तो जड़ है और भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति इससे भिन्न है, परन्तु जो भगवान की वाणी को सुनकर 'मैं भिन्न चैतन्यतत्त्व हूँ' – ऐसा निर्णय करके विकल्परहित होकर अन्तस्स्वरूप में एकाग्र हो जाता है, उसे वह भगवान की द्रव्यश्रुतज्ञानरूप जड़वाणी भावश्रुतज्ञान प्रगट होने में निमित्त होती है।

यहाँ कहते हैं कि भले ही भगवान की वाणी सुनकर 'मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ' – ऐसा विकल्प में निर्णय कर लिया हो, तथापि ऐसे विकल्पों से आत्मा की प्रगट-प्रसिद्धि नहीं होती, अर्थात् आत्मा का अनुभव नहीं होता। जैसे कोई जवाहरात की दुकान के बाहर आंगन में खड़ा रहे, अन्दर दुकान में प्रवेश नहीं करे, तो उसे जवाहरात की कुछ भी पहचान या समझ नहीं होती, उसीप्रकार जब तक विकल्प के आंगन में खड़ा रहकर निर्णय तो करे कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है; परन्तु अन्दर आत्मवस्तु में प्रवेश नहीं करे, तब तक उसे आत्मानुभव नहीं होता, आत्मा की प्रगट-प्रसिद्धि नहीं होती। विकल्पों द्वारा निर्णय तो कर लेता है, परन्तु विकल्पों में आत्मानुभव कराने की शक्ति नहीं है।

देखो, यहाँ सम्यग्दर्शन प्रगट करने की विधि बता रहे हैं। अतः कहते हैं कि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र व नवतत्त्व के भेदरूप विकल्प के श्रद्धान करने का नाम सम्यग्दर्शन नहीं है। नवतत्त्वों को भेदरूप विकल्पों से जानना तो राग है और भगवान आत्मा तो त्रिकाल शुद्ध रागादिभावों से भिन्न

ज्ञायकतत्त्व है । अहाहा....! निगोद की अवस्था में भी आत्मा उस अवस्था से भिन्न ज्ञायकतत्त्व ही है । वह ज्ञायकस्वरूप आत्मा की पर्याय में कैसे प्रगट होता है – इस विषय की यह चर्चा है ।

अतः कहते हैं कि ये इन्द्रियाँ और मन परपदार्थों की प्रसिद्धि के कारण हैं, क्योंकि इन्द्रियों और मन से भगवान आत्मा की प्रगट-प्रसिद्धि नहीं होती । वीतराग की वाणी और पंचपरमेष्ठी भी परद्रव्य हैं । इन्द्रियों व मन द्वारा परद्रव्य तो जाने जाते हैं, परन्तु आत्मा नहीं जाना जाता । इसी ग्रन्थ की ३१वीं गाथा में इन्द्रिय व मन को जीतने की बात कही है, उसी बात को यहाँ अन्य प्रकार से कहा जा रहा है ।

अहाहा....! चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा चैतन्य हीरा है । उसकी प्रसिद्धि के लिए अर्थात् पर्याय में उसका अनुभव करने के लिए परपदार्थों की प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों व मन के द्वारा प्रवर्तित जो बुद्धियाँ हैं, उनको मर्यादा में लेकर मतिज्ञान-तत्त्व को आत्मसन्मुख करने के लिए कहा है ।

शरीर, मन, वाणी तो परपदार्थ हैं ही, भगवान की प्रतिमा भी परपदार्थ है । तीनलोक के नाथ सर्वज्ञदेव जो साक्षात् समोशरण में विराजमान हैं, वे भी परपदार्थ हैं । ये सभी परपदार्थ इन्द्रियों द्वारा जाने जाते हैं, किन्तु यहाँ तो स्व-द्रव्य को (आत्मा को) जानने की बात है, इसलिए कहते हैं कि इन्द्रिय व मन द्वारा प्रवर्तमान ज्ञान का जो परसन्मुख झुकाव है, उसे वहाँ से समेट कर स्वसन्मुख करने पर भगवान आत्मा जाना जाता है, अनुभव में आता है ।

जिन्हें सम्यग्दर्शन प्रगट करना है, वे सर्वप्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से स्वरूप का निश्चय करते हैं । पश्चात् पांचइन्द्रिय व मन द्वारा परपदार्थों की प्रसिद्धि करनेवाले ज्ञान को मर्यादा में लेते हैं और मतिज्ञान को आत्मसन्मुख करते हैं । मतिज्ञान को परज्ञेयों से हटाकर स्वज्ञेय में जोड़ते हैं, यही आत्मानुभव की विधि या प्रक्रिया है । बापू ! इसे जाने बिना ये अवतार यों ही पूरा हो जायेगा । अरेरे ! जिन्हें ऐसा सुन्दर सत्य स्वरूप कभी सुनने को ही नहीं मिला, वे बिचारे धर्म का स्वरूप कैसे प्राप्त कर सकेंगे ? यहाँ कहते हैं कि भाई ! जो मतिज्ञान अभी तक मन और इन्द्रियों की ओर झुका है, उसे वहाँ से हटाकर आत्मसन्मुख कर ! यह एक बोल हुआ । श्रुतज्ञान के अनेक प्रकार के नयपक्षों के आलम्बन से अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं । मैं अबद्ध हूँ, बद्ध हूँ; मैं शुद्ध हूँ, अशुद्ध हूँ,

इत्यादि नयपक्ष के विकल्प तो आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं ही; परन्तु मैं अबद्ध हूँ – ऐसे स्वरूप संबंधी विकल्प भी आकुलता उत्पन्न करनेवाले ही हैं। व्रत, तप, भक्ति आदि के राग तो आकुलता उत्पन्न करते ही हैं; परन्तु नयपक्ष का राग भी आकुलता उत्पन्न करता है, दुःखदायी है।

मात्र शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप भगवान आत्मा राग और दुख नहीं है। श्रुतज्ञान के विकल्प से उत्पन्न हुई आकुलता आत्मवस्तु में नहीं है। मैं पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ – ऐसे जो विकल्प उठते हैं, वे आत्मा से भिन्न हैं। इन विकल्पों से भी भिन्न आत्मा का अनुभव सम्यग्दर्शन है।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी में कहा है कि अब सविकल्पद्वार से निर्विकल्प परिणाम होने का विधान कहते हैं; वहाँ सम्यग्दर्शन होने के बाद की बात है। जिसे आत्मभान हो गया है, उसे स्वानुभव के पूर्व 'मैं चिदानन्द हूँ, शुद्ध हूँ' – ऐसा विकल्प उठता है। पश्चात् यह विचार भी छूटकर केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगता है और परिणाम स्वरूप में एकाग्र हो जाता है, उसे निर्विकल्प अनुभव कहते हैं और इसी का नाम शुद्धोपयोग है।

समयसार तो आज घर-घर पहुँच गया है। उसका स्वाध्याय व मनन करना चाहिए। व्यापार में वही-खाते देखता है और लेन-देन याद रखता है, उसी तरह वीतराग के चौपड़ों (शास्त्रों) को भी मन लगाकर देखे, तो अपनी स्वरूपलक्ष्मी की खबर पड़े।

अहो! यह १४४ वीं गाथा बहुत ऊँची है। भाग्यशाली के कान में पड़े – ऐसी यह बात है। आचार्य कहते हैं कि भगवान! तू तो भागवत-स्वरूप, शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। उसमें 'मैं ऐसा हूँ, वैसा हूँ' – ऐसे नय विकल्पों को अवकाश नहीं है। पर का तू कुछ करे या पर तेरा कुछ करे – यह तो बात ही नहीं है। यहाँ तो यह कहते हैं कि आकुलता को उत्पन्न करनेवाले नयपक्ष के विकल्पों से भगवान आत्मा भिन्न है। ऐसा स्वरूप निर्विकल्प अनुभव में प्रसिद्ध होता है, इसकारण श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लेकर अर्थात् श्रुतविकल्प से हटाकर श्रुतज्ञान-तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करो – ऐसा कहा है।

श्रुतज्ञान की बुद्धियाँ अर्थात् ज्ञान की दशायें, जो नयज्ञान में उलझी पड़ी थीं, उन्हें वहाँ से समेटकर स्वसन्मुख करने को कहा है। देखो, यह धर्म प्राप्त करने की विधि बता रहे हैं। आटा घी में सेकते हैं, फिर शक्कर का पानी डालते हैं, तब हलुवा (शीरा) बनता है। यदि कोई अनजान

आटे को शक्कर के पानी में पहले सेंके, बाद में घी डाले, तो हलुवा तो दूर पुल्टिस (लूपड़ी) भी नहीं बनेगी, उसीप्रकार समस्त नयपक्ष के विकल्पों से छूटकर श्रुतज्ञानतत्त्व अन्तर्स्वरूप में एकाग्र हो, तब आत्मा का निर्विकल्प अनुभव होता है। यही सम्यग्दर्शन एवं धर्म है और यही उस धर्म को प्रगट करने की विधि है।

यदि कोई उक्त विधि को तो अंगीकार न करे और मात्र बाह्य व्रत, पूजा, भक्ति, दया, दान आदि क्रियायें करके उनसे मोक्षमार्ग या सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहे, तो नहीं होगा। भाई! चारित्र क्या है – इसका अज्ञानी जनों को पता नहीं है, बाह्य क्रियाओं को ही चारित्र या धर्म मान रखा है। 'स्वरूपे चरणं चारित्रम्' अर्थात् स्वरूप में चरना, रमना, ठहरना चारित्र है; किन्तु स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान बिना चरना, रमना किसमें? चैतन्यस्वरूप के अनुभव बिना चारित्र हो ही नहीं सकता, यह बात अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

यहाँ आत्मा के अनुभव की विधि बताते हैं। जिस समय आत्मा अनेक विकल्पों द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लेकर श्रुतज्ञानतत्त्व को आत्मसन्मुख करता है, उसीसमय आत्मा भलीभांति दिखाई देने लगता है। विकल्प बहिर्मुखभाव है, जो विकल्पों में ही अटका रहता है, वह बहिरात्मा है।

सम्प्रदाय (स्थानकवासी) में तो आत्मा की इतनी सूक्ष्म बात चलती ही नहीं थी। वहाँ तो बस व्रत करो, तप करो – ये ही विकल्प की राग की बातें होती थीं और यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ' – ऐसा विकल्प भी आकुलतामय है, राग है; उसकी ओर जाती हुई बुद्धि को अन्तर में ढालना ही स्वानुभव की रीति है।

पहले कहा था कि मतिज्ञानतत्त्व को आत्मसन्मुख करना और यहाँ कहते हैं कि श्रुतज्ञानतत्त्व को भी आत्मसन्मुख ढालना। अहाहा ....! इसमें कितना पुरुषार्थ है। सम्पूर्ण दिशा (पर से स्वद्रव्य की ओर) पलटने की बात है।

अब कहते हैं कि मतिज्ञान व श्रुतज्ञान के आत्मसन्मुख होने पर जो आत्मा का अनुभव होता है, उसमें विकल्पों का अत्यन्त अभाव है। 'मैं ऐसा हूँ, ऐसा नहीं हूँ' – ऐसे विकल्पों को भी जहाँ अवकाश नहीं रहता, तो फिर पर के कर्तृत्व की तो बात ही कहाँ रही? अहाहा....! अत्यन्त विकल्परहित होने पर आत्मा तत्काल निजरस से ही प्रगट होता है। अन्तर

में दृष्टि पड़ी, ज्ञान की दशा ज्यों ही ज्ञाता की ओर ढली, उसी क्षण भगवान आत्मा निजरस से प्रगट हो जाता है। निजरस अर्थात् ज्ञानरस, आनन्दरस, शान्तरस, समरस, वीतरागरस – ऐसे निजरस से भगवान आत्मा तत्काल प्रसिद्ध हो जाता है।

पर के या विकल्पों के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता, किन्तु अन्तर में स्वभावसन्मुख होने पर आत्मा तत्काल निजरस से ही प्रगट होता है। टीका में जो 'स्वरसत: एव व्यक्तिभवन्तम्' – ऐसा कहा है, उसका तात्पर्य भी यही है कि निजरस से ही आत्मा प्रगट होता है, अन्य विकल्प आदि से नहीं। जो पहले विकल्पों की आड़ में अप्रसिद्ध था, वह निर्विकल्प होते ही प्रसिद्ध हो जाता है। अहाहा....! कैसी गजब की टीका है? आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने तो अमृतरस ही वर्षा दिया है। आत्मप्रसिद्धि होने पर सम्यग्दर्शन हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ, सम्यक्चारित्र हुआ – इसप्रकार एक साथ अनन्त गुणों का निर्मल रस प्रगट हो जाता है। वस्तु अनन्त गुणमय है, उसमें ज्ञान मुख्य है, ज्ञान के साथ सर्व अनन्त गुण अविनाभावी हैं।

त्रिकाली ध्रुव ऐसे द्रव्य के सन्मुख होने पर निजरस से ही आत्मा तत्काल प्रगट हो जाता है, आदि-मध्य-अन्त रहित, अनादि-अनन्त, परमात्मरूप समयसार उसीसमय सम्यक्तया श्रद्धा व ज्ञान का विषय बन जाता है, ज्ञात हो जाता है। आत्मा पहले नहीं था और अब हो गया हो – ऐसा नहीं है। अभी तो मात्र पर्याय में प्रगट-प्रसिद्धि हुई है। जो है, उसी की प्रगट-प्रसिद्धि होती है। वस्तु तो आदि, मध्य व अन्तरहित त्रिकाल विद्यमान ही है। भगवान आत्मा तो अनादि से ही ज्ञान व आनन्दस्वरूप ही है। ऐसा वह निर्मलानन्द प्रभु श्रुत के विकल्पों की आकुलता को छोड़कर निराकुल आनन्दरूप से पर्याय में प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर निराकुल आनन्द का स्वाद भी साथ ही प्रगट होता है। अनाकुल केवल एक सम्पूर्ण विश्व के ऊपर मानो तैरता हो – ऐसा ज्ञानी केवल एक निज आत्मा का अनुभव करता है। यह द्रव्य है और यह पर्याय है – ऐसा भेद अनुभव में नहीं होता। विकल्प से लेकर सम्पूर्ण लोकालोक से भिन्न भगवान आत्मा मानो विश्व के ऊपर तैरता हो, अर्थात् ज्ञानी स्वयं को विश्व से भिन्न अनुभव करता है। 'मैं भिन्न हूँ या अभिन्न हूँ' – ऐसा विकल्प भी आत्मा में नहीं रहता। 'मैं ऐसा अनुभव करता हूँ' – ऐसा अनुभव का विकल्प भी आत्मा में नहीं आता। जिसतरह पानी कितना भी गहरा क्यों न हो, परन्तु तुम्बी तो ऊपर ही तैरती है, उसीतरह भगवान आत्मा रागादि-विकल्पों से लेकर सम्पूर्ण लोकालोक से भिन्न ही अनुभव में आता है।

भाई ! यह बारह अंग का सार है। सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है और वह कैसे प्रगट होता है – इसकी यह चर्चा है। चारित्र तो बहुत आगे की बात है। नाटक समयसार में कहा है कि **'चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्ध समान सदा पद मेरो'** – भगवान आत्मा सदा ही सिद्धस्वरूप है। उसमें संसार के विकल्प तो दूर, नयपक्ष के विकल्प भी उसके स्वरूप में नहीं हैं। ऐसे निजस्वभाव की ओर झुकने से आत्मा निजरस से ही प्रगट होता है। राग और नय के विकल्पों से आत्मा प्रसिद्ध नहीं होता। अहो ! जैनदर्शन, वीतरागदर्शन कोई अलौकिक वस्तु है। यह बात अन्यत्र कहीं नहीं है।

दिगम्बर संत कहते हैं कि भगवान तेरी वर्तमान मतिज्ञान व श्रुतज्ञान की पर्याय पर की ओर झुकी है, इसकारण तुझे परपदार्थ की प्रसिद्धि होती है। अब तू स्व-पदार्थ की प्रसिद्धि के लिए मतिज्ञान व श्रुतज्ञान के तत्त्व को अन्तर्स्वभाव की ओर झुकाकर स्व-सन्मुख हो, जिससे तेरा आत्मा निजरस से ही पर्याय में प्रगट होगा। आत्मा निर्विकल्प वीतराग-भाव से ही प्रगट होता है।

भगवान आत्मा नयपक्षों के विकल्प की लगन से प्रगट हो – ऐसा पदार्थ नहीं है, क्योंकि विकल्प से तो आत्मा खण्डित होता है। 'मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, सिद्धस्वरूप हूँ' – इत्यादि जो नयविकल्प हैं, उनके द्वारा खण्ड पड़ते हैं, भेद पड़ते हैं। भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान का पिण्ड प्रभु अभेद विज्ञानघन स्वभावी है। उसमें अन्तर्दृष्टि करने पर तत्क्षण वह निजरस से ही पर्याय में प्रगट होता है। किसी देव-गुरु-शास्त्र से नहीं या विकल्प से भी नहीं, वल्कि निजरस से ही प्रगट होता है – ऐसा यहाँ स्पष्ट कहा है।

पर्याय में द्रव्य आता नहीं है, परन्तु परिपूर्ण अखण्ड द्रव्य का ज्ञान की पर्याय में मात्र प्रतिभास होता है। जब आत्मा विकल्पों से छूटकर स्वसन्मुख होता है, तव उसे वर्तमान ज्ञान की दशा में त्रिकाली एकरूप अखण्ड निज आत्मा का प्रतिभास होता है।

भगवान आत्मा जीती-जागती चैतन्य-ज्योति विश्व से भिन्न अनादि-अनन्त अखण्ड एकरूप वस्तु है। अहाहा....! शुद्ध चैतन्यवस्तु विश्व से तन्मय नहीं है। पर की ओर का झुकाव छोड़कर जो ज्ञान की पर्याय अपने परिपूर्ण द्रव्य में झुकती है, उस पर्याय में सम्पूर्ण पदार्थ का परिज्ञान करने की सामर्थ्य है और वही सम्यग्ज्ञान है।

देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा और पंचमहाव्रतरूप व्यवहार का जो विकल्प उठता है, वह शुभराग है। वह शुभराग आकुलतामय है, दुःखरूप है।

उससे आत्मिक सुख प्राप्त नहीं होता। अरे! जिस विकल्प में यह निर्णय हुआ कि 'मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ' उससे भी आत्मिक सुख नहीं होता, तो स्थूल राग की तो बात ही क्या कहें? जब श्रुत के ये सूक्ष्म विकल्प भी छूटकर ज्ञान की दशा में त्रिकाली ध्रुव केवल एक, अनाकुल, अखण्ड, विज्ञानघन-स्वरूप स्वद्रव्य का प्रतिभास होता है, तब आत्मा व आत्मा का सुख पर्याय में प्रगट होता है। ऐसा ही वस्तुस्वरूप है और यही सुख का मार्ग है।

अहा! यह १४४वीं गाथा है, जैसे लौकिक शासकीय अनुशासन-प्रशासन व्यवस्था में १४४वीं धारा होती है, जिसमें लोग इकट्ठे नहीं हो सकते। यदि कोई उस धारा का उल्लंघन करे, तो दण्ड का पात्र होता है। उसीप्रकार भगवान की यह १४४वीं धारा है, इसके अनुसार आत्मा व राग कभी इकट्ठे नहीं हो सकते और यदि कदाचित् कोई अभिप्राय में एकत्व स्थापित करेगा, तो उसे चार गतिरूप संसार की जेल ही होगी।

गजब बात है, इस १४४वीं गाथा में दूसरा रहस्य यह है कि १+४+४ के अंक हैं, जिनका जोड़ ९ होता है, इस नौ का पहाड़ा पढ़ने से भी यह अपने ९ पने को नहीं छोड़ता। जैसे कि ९×१=९, ९×२=१८; इसका जोड़ १+८=९, ९×३=२७ इसमें २+७=९, ९×४=३६; ३+६=९, इसीप्रकार ९ तक पहाड़ा पढ़ते जाइये और उपरोक्त अनुसार जोड़ते जाइये, बराबर ९ ही जोड़ आयेगा। जिसतरह यह ९ का अंक अपने नौपने को नहीं छोड़ता, उसीप्रकार आत्मा अपने एकत्व को नहीं छोड़ता। यह नौ का अंक (नव केवललब्धि प्रगट करनेवाले) वीतरागभाव का सूचक है।

ज्ञाताद्रव्य में एकाग्र हुई ज्ञान की पर्याय में आदि-मध्य-अन्त रहित अनादि-अनन्त, केवल एक, अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघनरूप वस्तु का जो प्रतिभास हुआ है, वह परमात्मस्वरूप समयसार है। अहाहा....! आत्मा की शक्ति, सामर्थ्य, स्वरूप साक्षात् परमात्मस्वरूप है। आत्मा को सिद्धस्वरूप कहो या परमात्मस्वरूप कहो – एक ही बात है। ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय परमात्मरूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है, तब ही आत्मा सम्यक्रूप से दिखाई देता है, अर्थात् प्रतीति में आता है, जाना जाता है। इसकारण समयसार ही सम्यग्दर्शन है और सम्यग्ज्ञान है।

आत्मा का अनुभव अर्थात् शुद्ध द्रव्य का अनुभव अनादि-अनन्त केवल एक, अखण्ड, प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन परमात्मरूप समयसार का अनुभव। इस अनुभव में आत्मा भलीभाँति दिखाई देता है, श्रद्धान में

आता है। इसी का नाम सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है और वह समयसार से भिन्न नहीं है, समयसार ही है। भाई! देव-शास्त्र-गुरु की बाह्य श्रद्धा सम्यग्दर्शन नहीं है।

परमात्मरूप आत्मद्रव्य की सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की दशायें कैसी होती हैं – यह बात यहाँ समझाते हैं। जब आत्मा विज्ञानघनस्वरूप निज परमात्मरूप समयसार का अनुभव करता है, उससमय ही आत्मा सम्यक् प्रकार से दिखाई देता है और उसी समय आत्मा का सम्यक् श्रद्धान व ज्ञान प्रगट होता है।

वह भगवान आत्मा अनादि-अनन्त, केवल एक, निराकुल, अखण्ड प्रतिभासमय, विज्ञानघनस्वरूप परमात्मद्रव्य है और वह विकल्परहित निर्विकल्पदशा से प्राप्त होता है, व्यवहार के विकल्प से प्राप्त नहीं होता। अहाहा ....! स्वरूप में एकाग्र हुई ज्ञान की पर्याय की ऐसी सामर्थ्य है कि उसमें परिपूर्ण परमात्मरूप समयसार का प्रतिभास होता है और उसीसमय आत्मा ऐसा परिपूर्ण है – ऐसा श्रद्धान प्रगट होता है। इसी का नाम सम्यग्दर्शन है और यही जैनदर्शन है।

इन्द्रों व गणधरों की सभा में जो बात तीर्थंकर परमात्मा त्रिलोकी-नाथ सर्वज्ञदेव कहते हैं, वही बात आचार्यदेव ने यहाँ कही है। वे कहते हैं कि केवल एक अनन्त विज्ञानघनरूप परमात्मा जिससमय ज्ञान की दशा में प्रतिभासित होता है, उससमय भी ऐसा ही आत्मा है – ऐसा श्रद्धान होता है, वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसके सिवाय शास्त्र द्वारा या नय विकल्पों द्वारा आत्मा भलीभांति दिखाई नहीं देता।

वस्तुतः सम्यग्दर्शन क्या है? ऐसा प्रश्न उठाकर उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि भावबंध और भावमोक्ष की पर्याय के भेद से रहित जो त्रिकाली शुद्ध अनन्त विज्ञानघनस्वरूप निज परमात्मद्रव्य है, उसका निर्विकल्प अनुभव होना सम्यग्दर्शन है। भावबंध व भावमोक्ष पर्याय है तथा आत्मवस्तु इनसे भिन्न त्रिकाली द्रव्य है। द्रव्यबन्ध की तो बात ही क्या है? जड़कर्म तो सर्वथा भिन्न है ही। जड़कर्म तो बाह्य निमित्त है। राग में अटकना भाव-बन्ध है और रागरहित होना भावमोक्ष है। दोनों पर्यायें हैं। आत्मवस्तु भावबन्ध व भावमोक्ष से रहित सदा अबन्ध मुक्तस्वरूप ही है।

वीतरागी सर्वज्ञ अरहन्त परमात्मा की समोशरण में जो निरक्षरी अर्थात् एकाक्षरी ओंकार ध्वनि खिरती है। उस भगवान की वाणी से या सुनने के विकल्पों से आत्मा जानने में नहीं आता; परन्तु भगवान ने जैसा

एक, अखण्ड, अनन्त, विज्ञानघनस्वरूप आत्मा कहा है, वैसा ही आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करता है, तव उसकाल में आत्मा भलीप्रकार से दिखाई देता है। स्वद्रव्य में ढली हुई ज्ञान की पर्याय में पूर्ण परमात्मस्वरूप द्रव्य का प्रतिभास जिससमय होता है, उसीसमय उस पूर्ण वस्तु का श्रद्धान प्रगट होता है, इसी का नाम सम्यग्दर्शन है।

देखो, यहाँ (सोनगढ़ में) परमागम मन्दिर में चारों तरफ की दीवालों में संगमरमर के पाटियों में जिनवाणी अंकित है, पौने चार लाख शब्द हैं। जैसे पंचपरमेष्ठीरूप पंचपरमेश्वर है, उसीप्रकार भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव के समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय और अष्टपाहुड ये पाँच शास्त्र हैं। उक्त पाँचों ही इस परमागम मन्दिर में आरस में उत्कीर्ण किए गये हैं। इनके समीप वैठकर ही यह वात कही जा रही है कि जिससमय परमात्मरूप समयसार का अपने ज्ञान में प्रतिभास होता है, उसीसमय आत्मा श्रद्धा में, प्रतीति में आता है और वही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शन के साथ ही आत्मा के अन्य अनन्त गुणों की आंशिक निर्मल पर्यायें प्रगट हो जाती हैं। भगवान आत्मा चैतन्यराजा परमात्म-स्वरूप से नित्य विराजमान है। उसका निर्विकल्प अनुभव होने पर उसी समय वह जैसा है, वैसा ही प्रतीति में आ जाता है, श्रद्धा का विषय वन जाता है और ज्ञान में ज्ञात हो जाता है। इसकारण वह समयसारस्वरूप शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान भगवान समयसार से भिन्न नहीं है, अभिन्न ही है। वह आत्मा की पर्याय है, इस कारण आत्मा ही है। आत्मा जैसा जगत से भिन्न है, वैसा सम्यग्दर्शन से भिन्न नहीं है, इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है।

इस गाथा में सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का स्वरूप तथा उसको प्रगट करने की रीति क्या है तथा निजरस से प्रगट होनेवाला समयसार कैसा है — इस वात को सारांश के रूप में निम्नांकित ७ बोलों द्वारा समझाते हैं :—

१. आदि-मध्य-अन्त रहित अर्थात् भगवान आत्मा अनाद्यनन्त, त्रिकाल, शाश्वत, नित्यवस्तु है।

२. अनाकुल अर्थात् श्रुतज्ञान के विकल्प आकुलतारूप हैं और भगवान आत्मा निराकुल आनन्दस्वरूप है।

३. केवल एक है अर्थात् द्रव्य, पर्याय के भेद भी जिसमें नहीं – ऐसा केवल एक है। अनन्त गुणों का पिण्ड प्रभु गुण-गुणी के भेद से रहित अभेद एकरूप ध्रुव वस्तु है।

४. मानो सम्पूर्ण विश्व के ऊपर तैरता है अर्थात् राग से लेकर सम्पूर्ण लोकालोक से भिन्न वस्तु है।

५. अखण्ड प्रतिभासमय है अर्थात् स्व-संवेदनज्ञान में जैसा पूर्णस्वरूप है, वैसा प्रतिभासमान होता है। जिसमें गुण-पर्यायों का खण्ड नहीं है, भेद नहीं है, भंग नहीं है – ऐसा अभेद आत्मा परिपूर्णरूप से ज्ञान में प्रतिभासित होता है, अतः वह अखण्ड प्रतिभासमय है। ज्ञान में अखण्ड का प्रतिभास होना ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है।

६. अनन्त विज्ञानघन है अर्थात् जिसमें सूक्ष्मराग का कभी प्रवेश नहीं होता – ऐसा अनन्त विज्ञानघनस्वरूप समयसार है।

७. आत्मा परमात्मरूप समयसार है। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न चित्स्वरूप सदा सिद्धस्वरूप परमात्मरूप समयसार है।

ऐसे समयसार को जब आत्मा विकल्परहित होकर अनुभव करता है, उससमय ही आत्मा सम्यक्पने श्रद्धा में आता है और ज्ञान में ज्ञात होता है। इसकारण समयसार ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है।

भावार्थ यह है कि आगमज्ञान से ज्ञानस्वरूप आत्मा का निश्चय करके इन्द्रिय-बुद्धिरूप मतिज्ञान को ज्ञानभाव में ही मिलाकर तथा श्रुतज्ञानरूपी नयों के विकल्प मिटाकर श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प करके एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करने को ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान अनुभव से कोई जुदी वस्तु नहीं है।

दरबकरम पुग्गल दसा, भावकरम मति वक्र।
जो सुग्यान को परिनमन, सो विवेक गुरु चक्र ॥७७॥

– समयसार नाटक, सर्वविशुद्ध द्वार

कलश ९३

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(शार्दूलविक्रीडित)

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम् ।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम् ।। ९३ ।।

श्लोकार्थ :–[**नयानां पक्षैः विना**] नयों के पक्षों से रहित, [**अचलं अविकल्पभावम्**] अचल निर्विकल्पभाव को [**आक्रामन्**] प्राप्त होता हुआ [**यः समयस्य सारः भाति**] जो समय का (आत्मा का) सार प्रकाशित करता है [**सः एषः**] वह यह समयसार (शुद्ध आत्मा) [**निभृतैः स्वयम् आस्वाद्यमानः**] जो कि निभृत (निश्चल, आत्मलीन) पुरुषों के द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है, (अनुभव में आता है) वह [**विज्ञान-एक-रसः भगवान्**] विज्ञान ही जिसका एक रस है – ऐसा भगवान है, [**पुण्यः पुराणः पुमान्**] पवित्र पुराण पुरुष है; चाहे [**ज्ञानं दर्शनम् अपि अयं**] ज्ञान कहो या दर्शन, वह यही (समयसार ही) है; [**अथवा किम्**] अधिक क्या कहें ? [**यत् किंचन अपि अयम् एकः**] जो कुछ है सो यह एक ही है (मात्र भिन्न भिन्न नाम से कहा जाता है) ।

कलश ९३ पर प्रवचन

गाथा १४४ में जो बात कही है, उसी की पुष्टि में यह कलशरूप काव्य कहा गया है । इसमें कहते हैं कि नयों के पक्षपात से रहित अचल व निर्विकल्पभाव को प्राप्त होता हुआ, जो समय का सार प्रकाशित होता है, वह ज्ञानियों द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है, अनुभव में आता है ।

आत्मा सदा विज्ञानघनस्वरूप है । पर्याय में जो दया, दान, व्रत, आदि व्यवहार के स्थूल विकल्प उठते हैं, वे विकल्प हैं तो सही; परन्तु आत्मा की प्राप्ति के साधन नहीं हैं ।

'मैं द्रव्य से शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ और पर्याय से अशुद्ध हूँ, राग से बद्ध हूँ' – ऐसे जो दो नयों के पक्ष हैं, वे निषेध करने योग्य हैं, क्योंकि वे नयपक्ष के विकल्प रागमय हैं, आकुलतामय हैं; ऐसे विकल्पों से आत्मा की प्राप्ति

नहीं होती। आचार्यदेव व्यवहार का पक्ष तो पहले से ही छुड़ाते आये हैं, किन्तु निश्चय का पक्ष भी रागमय होने से छोड़ने योग्य ही है।

प्रश्न :—यहाँ निश्चयनय को छोड़ने योग्य कहा है, परन्तु गाथा २७२ में यह कहा है कि "निश्चय नयाश्रित मुनिवर निर्वाण की प्राप्ति करते हैं" क्या यह कथन परस्पर विरुद्ध नहीं है ?

उत्तर :—वहाँ निश्चयनय के आश्रय की बात नहीं है, बल्कि 'निश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मा के आश्रय से निर्वाण होता है' – यह कहा है, सो ठीक ही है। यहाँ का यह कथन भी उसके विरुद्ध नहीं है, क्योंकि यहाँ निश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मा का निषेध नहीं किया है; बल्कि निश्चयनय के पक्ष का जो विकल्प उठता है, वह रागरूप है, दु:खदायक है, अत: वह विकल्प छोड़ने योग्य कहा है। इस सूक्ष्म राग का भी स्वयं को कर्त्ता माने, तो मिथ्यादृष्टि ही है। आत्मा तो विज्ञानघनस्वरूप प्रभु है, वह राग का कर्त्ता कैसे हो सकता है और वह राग से कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस-कारण यहाँ समस्त नयपक्ष का राग छोड़कर नयपक्ष से रहित होने की बात कही गई है।

व्यवहार से निश्चय होता है, यह बात तो कहीं दूर ही रह गई, उसकी तो बात ही नहीं है, फिर भी यदि शास्त्र में कहीं ऐसा कथन आवे, तो उसकी यथास्थान जुदी अपेक्षा समझना। जैसे छठवें गुणस्थान में भावलिंगी मुनिराज को शुभरागरूप विकल्प होता है और वह छूटकर सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प अनुभव होता है, वहाँ वस्तुत: तो छठवें गुणस्थान की शुद्धि ही सातवें गुणस्थान का कारण है; किन्तु उसे कारण न कहकर छठवें गुणस्थान के शुभरागरूप विकल्प को सातवें गुणस्थान की शुद्धि का कारण कहा है, सो यह तो उपचार से पूर्वचर निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कथन किया है; परन्तु उससे छठवें गुणस्थान के शुभविकल्प से सातवाँ गुणस्थान होता है – ऐसा नहीं समझना।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि नयपक्ष का विकल्प आकुलतामय है, उससे आत्मा नहीं जाना जाता। जिसप्रकार सूर्य का बिम्ब सूर्य के प्रकाश से ही जाना जाता है, अंधकार से नहीं; उसीप्रकार भगवान आत्मा अपने ज्ञान-पर्यायरूप प्रकाश से ही ज्ञात होता है, विकल्परूप अंधकार से नहीं।

भगवान आत्मा सदा अचल निर्विकल्प, विज्ञानघनस्वरूप समयसार है। वह अचल निर्विकल्प भाव को प्राप्त होता हुआ, अर्थात् निर्विकल्प निर्मल ज्ञान की दशा को प्राप्त होकर प्रकाशित होता है। समय का सार प्रभु

आत्मा चैतन्य की निर्मल निर्विकल्प ज्ञानप्रकाशरूप पर्याय द्वारा प्रकाशित होता है, किन्तु व्यवहार से या नयपक्ष के विकल्प से प्रकाशित नहीं होता – ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। विज्ञानघनस्वरूप आत्मा निर्विकल्प ज्ञान की निर्मलदशा से प्राप्त होता है।

ऐसा समयसार अर्थात् शुद्धात्मा निभृत अर्थात् निश्चल, आत्मलीन पुरुषों द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है। अहाहा....! जो पुरुष चिन्तारहित होकर स्वरूप में लीन हुआ, उसे आत्मा स्वयं आस्वाद्यमान है अर्थात् अनुभव में आता है। आत्मा ऐसा है या वैसा है – ऐसी चिन्ता से रहित आत्मलीन पुरुष स्वयं आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है।

'पुरुष' का अर्थ आत्मा होता है। पुरुष, स्त्री या नपुंसक का शरीर आत्मा नहीं है। देह तो जड़ है, स्त्री का देह हो या पुरुष का, आत्मलीन पुरुष को अन्तर के ज्ञान-प्रकाश के भाव द्वारा आत्मा अनुभव में आता है। यहाँ सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की बात उठाई है। यहाँ चारित्र का प्रकरण नहीं है। यहाँ 'स्वयं' शब्द कहकर आत्मानुभव में विकल्प या व्यवहार का निषेध किया है। आचार्य कहते हैं कि व्यवहार के पक्ष से तो धर्म प्रगट होता ही नहीं है, परन्तु मैं शुद्ध हूँ, चैत्य हूँ, दृश्य हूँ, वेद्य हूँ आदि निश्चय के पक्षरूप विकल्पों से भी भगवान आत्मा प्राप्त नहीं होता। आचार्य अमृतचन्द्र ने टीका करते हुए नयपक्ष के २० कलशों द्वारा २० बोल कहे हैं। नयपक्ष के सम्पूर्ण विकल्प आत्मानुभव में बाधक हैं।

निश्चल, आत्मलीन पुरुषों द्वारा आत्मा स्वयं आस्वाद्यमान है। यहाँ 'स्वयं' शब्द पर वजन है। तात्पर्य यह है कि निर्विकल्प निर्मल पर्याय द्वारा आत्मा स्वयं अनुभव में आता है, उसे कोई व्यवहार या निश्चयनय के पक्षरूप विकल्प की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि नियमसार की दूसरी गाथा में भी कहा है – 'शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग परमनिरपेक्ष है, उसे राग या भेद की अपेक्षा नहीं है।' उसीप्रकार यहाँ भी कहा है कि आत्मा स्वयं आस्वाद्यमान है, अर्थात् स्वतः अपने आनन्द का वेदन कर सकता है।

अब यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि जो त्रिकाली वस्तु आत्मलीन पुरुषों द्वारा स्वयं अनुभव में आती है, वह कैसी है? उत्तर में आचार्य कहते हैं कि वह विज्ञानघन भगवान आत्मा केवल निर्मल पर्याय में ही वेदन में आता है। यहाँ शास्त्रज्ञान की बात नहीं है, बल्कि आत्मा के सामान्य, एकरूप, विज्ञानघनस्वभाव की बात है। इसमें अन्य कोई भेद-प्रभेद नहीं है – ऐसा एकरूप सामान्य विज्ञानघन स्वभाव ही सम्यग्दर्शन

का विषय एवं ध्याता का ध्येय है। ऐसा पर से निर्पेक्ष विज्ञानघन एक-रसरूप आत्मा स्वयं स्वत: ही ज्ञात होता है, उसे किसी पर की अपेक्षा नहीं है।

प्रश्न :– यह तो एकनय का बात हुई, इसमें सापेक्ष कथन कहाँ आया ? क्या ऐसा कथन एकान्त नहीं है ?

उत्तर :– भाई ! पर की उपेक्षा करना – ऐसा जो कहा, यही तो पर की अपेक्षा अर्थात् पर-सापेक्ष कथन हो गया। पर की अपेक्षा की अर्थात् पर को गौण किया और स्व की अपेक्षा की अर्थात् स्व की मुख्यता की, इसप्रकार इस कथन में दोनों नय आ जाते हैं। जैनतत्त्वमीमांसा में पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ने इसका अच्छा स्पष्टीकरण किया है।

यहाँ यह बात चल रही है कि चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के काल में जीव की कैसी दशा होती है ? उस काल में उसे आत्मा का कैसा अनुभव होता है ? यह सम्यग्दर्शन एवं उसके साथ होनेवाले सम्यक्ज्ञान की चर्चा है, परन्तु यहां चारित्र की चर्चा नहीं है। यद्यपि इससमय धर्मीजीव को स्वरूपाचरणचारित्र का अंश प्रगट होता है, किन्तु यहां पांचवें तथा छठवें-सातवें गुणस्थान जैसा चारित्र प्रगट नहीं होता।

जब निर्विकल्प ज्ञान में एक विज्ञानरसमय आत्मा का वेदन होता है, तब दर्शन भी है, ज्ञान भी है और चारित्र का अंश भी है। आत्मा में जितनी भी अनन्त शक्तियां हैं, उन सबका एक अंश व्यक्तपने वेदन में आता है।

जब ज्ञान द्वारा द्रव्य ज्ञात होता है, तब द्रव्य की इन सर्व शक्तियों का एक-एक अंश पर्याय में प्रगट हो जाता है और उन अंशों का स्वाद (वेदन) भी ज्ञानी को आता है। जो अनन्त शक्तियाँ केवलज्ञान होने पर सर्वांश प्रगट होती हैं, वे सब यहां अंशरूप में व्यक्त हो जाती हैं और उनके द्वारा विज्ञानघन एकरसरूप भगवान आत्मा का वेदन सम्यग्दृष्टि को होता है। १४४ वीं गाथा की टीका में भी यह बात आ गई है कि परमात्मरूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है, तब ही आत्मा सम्यक्तया श्रद्धा में एवं ज्ञान में ज्ञात होता है।

अब, जो आत्मा निर्मलज्ञान द्वारा वेदन में आया, वह कैसा है ? इस बात को समझाते हुए कहते हैं कि – 'पुण्य: पुराण: पुमान' अर्थात् पवित्र पुराण पुरुष है। यहां पुण्य शब्द का अर्थ पवित्र है। यहां पुण्य अर्थात् शुभभाव की बात नहीं है। शुभभावरूप पुण्य से तो आत्मा रहित

है। यह स्वरूप से परमपवित्र वस्तु है। यहां 'पुराण' शब्द का अर्थ शाश्वत, त्रिकाल होता है। अतः आत्मा शाश्वत है, त्रिकाल है, कभी नाश न होनेवाला अविनाशी तत्त्व है। ऐसा एक विज्ञानरसमय आत्मा ही सम्यग्दर्शन का विषय है। टीका में जो आया है कि आत्मा आदि मध्य व अन्त रहित है, उसी का अर्थ यहां पुराण किया है। ध्रुव-ध्रुव-ध्रुव अनादिअनन्त प्रवाहरूप है। 'प्रवाह' शब्द से पर्याय नहीं समझना, यहाँ ध्रुव प्रवाहरूप सामान्य की बात है।

यहाँ पुरुष का अर्थ जो आत्मा का सेवन करता है, वह पुरुष है; राग का सेवन करनेवाला पुरुष नहीं, नपुंसक है। ४७ शक्तियों के अधिकार में एक वीर्य नामक शक्ति का वर्णन है। स्वरूप की रचनारूप आत्मा में एक ऐसी शक्ति है, जो अपने परिपूर्ण पवित्र पद की रचना करती है, उसी का नाम वीर्य शक्ति है और वही वास्तविक पुरुषार्थ है। राग की रचना करना पुरुषार्थ नहीं है। जैसे नपुंसक के प्रजा (पुत्रादि संतान) नहीं होती, उसीतरह शुभभाववालों को भी आत्मधर्मरूप प्रजा नहीं होती। राग की रुचि वालों को ऐसा लगता है कि यह क्या बात है? परन्तु बापू! मार्ग तो एकमात्र यही है। भाई! तू भी भगवान है। द्रव्य से तो सभी आत्मायें विज्ञानघन भगवान ही हैं। भले वह विज्ञानघनस्वभाव किसी की दृष्टि में न आवे, तथापि वह तो त्रिकाल भगवानस्वरूप ही है। यहाँ ५ विशेषणों से इस भगवान आत्मा को समझाया गया है :—

आत्मा विज्ञानघन एकरस स्वरूप है, भगवान है, पवित्र है, पुराण है और पुरुष है।

अब कहते हैं कि ऐसा विज्ञानघन एकरस ही जिसका स्वरूप है, उसको ज्ञान कहो या दर्शन कहो, वह तो सब समयसार ही है। उसे ज्ञान, दर्शन, आनन्द, परमेश्वर आदि चाहे जितने अनन्त नामों से कहो; किन्तु वह तो वही है, एक विज्ञानरसमय प्रभु ही है। भगवान के १००८ नामों का वर्णन तो आदिपुराण में है ही। पण्डित बनारसीदासजी ने भी एक जिनसहस्त्रनाम स्तोत्र बनाया है, उसमें भी भगवान आत्मा के १००८ नामों का वर्णन है। ऐसा अनन्तगुणों का धाम परिपूर्ण वस्तु आत्मा स्वयं है। आत्मा के दर्शन, ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुणों में से एक भी गुण आत्मा से भिन्न नहीं है।

निश्चयनय की विषयभूत वस्तु को व्यवहार की अपेक्षा नहीं है। व्यवहार है, अन्य अनेक नय भी हैं, उनके विषय भी हैं; परन्तु यहाँ अन्य नयों की अपेक्षा नहीं, यह निर्पेक्षतत्त्व की बात है।

प्रश्न :– शास्त्रों में निर्पेक्ष नयों को तो मिथ्या कहा है न ?

उत्तर :– 'निर्पेक्षा नया मिथ्या:' ऐसा जो कथन जिनवाणी में आता है उसका अर्थ यह है कि व्यवहार है, ऐसा व्यवहार के अस्तित्व का ज्ञान न करे, तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है; परन्तु व्यवहार से निश्चय होता है – ऐसा उसका अर्थ नहीं है। निमित्त है अवश्य, निमित्त नामक वस्तु है ही नहीं – ऐसा नहीं है। निमित्त तो है, परन्तु वह उपादान के कार्य का कर्त्ता नहीं है। कुछ लोगों को ऐसा भ्रम है कि सोनगढ़वाले निमित्त को मानते ही नहीं हैं, इसलिए निमित्त का निषेध करते हैं; परन्तु भाई ! यह बात नहीं है, निमित्त है; परन्तु निमित्त से पर में (उपादान मे) कार्य नहीं होता अर्थात् निमित्त पर के कार्यो का कर्त्ता नहीं है। इसप्रकार हम उपादान में निमित्त के कर्तृत्व का निषेध करते हैं। व्यवहार है, परन्तु व्यवहार निश्चय का वास्तविक कारण नहीं है – ऐसा यथार्थ समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब आगे कहते हैं कि अधिक क्या कहें ? जो कुछ भी है, वह एक आत्मा ही है, मात्र भिन्न-भिन्न नाम से कहा जाता है। भगवान आत्मा विज्ञान एकरस है। उसे परमेश्वर कहो, भगवान कहो, विष्णु कहो, ब्रह्मानन्द कहो, सहजानन्द कहो, वीतराग कहो, चारित्रनिधि कहो, जो चाहो उसी नाम से कहो; परन्तु वस्तु जो जैसी है, वैसी ही है।

प्रवचनसार गाथा २०० की टीका में आता है कि – जो अनादि-संसार से इसी स्थिति में (ज्ञायकभावरूप ही) रहा है और जो मोह के द्वारा दूसरे रूप में जाना-माना जाता है, उस शुद्धात्मा को यह मैं मोह को उखाड़ फेंककर अतिनिष्कम्प रहता हुआ, यथास्थित (जैसा का तैसा) ही प्राप्त करता हूँ।"

आत्मा में यद्यपि ज्ञायकस्वभाव के साथ अविनाभावपने से अनन्त गुण हैं, तथापि वह ज्ञायकभाव तो एक ज्ञायकभाव ही है। अज्ञानी को वह प्रसिद्ध नहीं है, अत: वह उसे अन्यथा मानता है। 'मैं राग हूँ, पुण्य हूँ, अल्पज्ञ हूँ' – ऐसे अनेक प्रकार से अन्यथा मानता है; परन्तु वस्तु तो जैसी है, वैसी ही है। यद्यपि आत्मवस्तु को भिन्न-भिन्न नामों से कहा जाता है, तथापि भगवान आत्मा विज्ञानघन पूर्णानन्दस्वरूप एक है, तथा वही ध्यान का, दृष्टि का और स्व-संवेदनज्ञान का विषय है। जब ऐसे समय-सार का निर्विकल्प अनुभव होता है, तो उसी को सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान नाम मिलता है।

गाथा में जो 'व्यपदेशम्' शब्द है, उसका अर्थ यह है कि समयसार को ही केवल सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की संज्ञा मिलती है। सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान समयसार से कोई भिन्न वस्तु नहीं है, समयसार ही है।

कलश ९४

अब यह कहते हैं कि यह आत्मा ज्ञान से च्युत हुआ था, सो ज्ञान में ही आ मिलता है :–

(शार्दूलविक्रीडित)

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात्।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्माहरन्
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत्॥ ९४॥

श्लोकार्थ :– [**तोयवत्**] जैसे पानी अपने समूह से च्युत होता हुआ, दूर गहन वन में बह रहा हो, उसे दूर से ही ढालवाले मार्ग के द्वारा अपने समूह की ओर बल पूर्वक मोड़ दिया जाये; तो फिर वह पानी पानी को पानी के समूह की ओर खींचता हुआ, प्रवाहरूप होकर अपने समूह में आ मिलता है; इसीप्रकार [**अयं**] यह आत्मा [**निज-ओघात् च्युतः**] अपने विज्ञानघनस्वभाव से च्युत होकर [**भूरि-विकल्प-जाल-गहने दूरं भ्राम्यन्**] प्रचुर विकल्पजालों के गहन वन में दूर परिभ्रमण कर रहा था, उसे [**दूरात् एव**] दूर से ही [**विवेक-निम्न-गमनात्**] विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा [**निज-ओघं बलात् नीतः**] अपने विज्ञानघनस्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया गया; इसलिए [**तद्-एक-रसिनाम्**] केवल विज्ञानघन के ही रसिक पुरुषों को [**विज्ञान-एक-रसः आत्मा**] जो एक विज्ञानरसवाला ही अनुभव में आता है ऐसा वह आत्मा, [**आत्मानम् आत्मनि एव आहरन्**] आत्मा को आत्मा में खींचता हुआ अर्थात् ज्ञान में ज्ञान को खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर [**सदा गतानुगतताम् आयाति**] सदा विज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है।

भावार्थ :– जैसे पानी, अपने पानी के निवासस्थल से किसी मार्ग से बाहर निकलकर वन में अनेक स्थानों पर बह निकले और फिर किसी ढालवाले मार्गद्वारा ज्यों का त्यों अपने निवास स्थान में आ मिले; इसीप्रकार आत्मा भी मिथ्यात्व के मार्ग से स्वभाव से बाहर निकलकर

विकल्पों के वन में भ्रमण करता हुआ, किसी भेदज्ञानरूपी ढालवाले मार्ग-द्वारा स्वयं ही अपने को खींचता हुआ, अपने विज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है।

कलश ६४ पर प्रवचन

यहाँ नदी के प्रवाह के दृष्टान्त द्वारा जीव की पर्यायजनित भूल और स्वभावगत विशेषता को समझाकर स्वभाव का लक्ष्य कराते हैं। जिस प्रकार नदी का अपार जल समूह अपने वेग से अपनी धारा में वह रहा हो, उसमें से थोड़ा सा पानी अपनी धारा को छोड़कर अन्य रास्ते से इधर-उधर वहकर गहन वन में कहीं दूर चला जावे। पश्चात् उसे कोई व्यक्ति ढालवाले मार्ग से उसी नदी की ओर मोड़ दे देवे, तो फिर वह पानी ढाल पाकर पानी के मूल समूह की ओर प्रवाहित होता हुआ, पानी के मूल समूह में मिल जाता है।

उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अनादिकाल से अपने विज्ञानघन स्वभाव से च्युत हुआ था, भ्रष्ट होकर प्रचुर विकल्प जालरूपी वन में भटक गया था। अपनी त्रिकाली ध्रुवस्वभावी प्रवाहरूप वस्तु तो त्रिकाल अपने ज्ञान व आनन्द के रस से भरपूर ही पड़ी है; किन्तु केवल पर्याय में वह आत्मा उस परिपूर्ण स्वभाव से च्युत हो रहा है, अनादिकाल से भ्रष्ट हो रहा है, अव वह अपने उग्र पुरुषार्थ से विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप विज्ञानघन स्वभाव की ओर आया है।

कलश टीका में पं० राजमलजी ने 'विवेक निम्नगमनात्' पद का अर्थ यह किया है कि – 'शुद्धस्वरूप का अनुभव यही हुआ नीचा ढालवाला मार्ग, उसकारण से जीवद्रव्य का जैसा स्वरूप था, वैसा प्रगट हुआ' अहा ....! ज्ञानघन भगवान आत्मा अनादि से पर्याय में, रागादि में चला गया है; उसको भेदज्ञानरूपी गंभीर मार्ग द्वारा अपने विज्ञानघन स्वभाव की ओर ढाला गया है।

देखो! आत्मा विज्ञानघन स्वभाव से अपने विपरीत पुरुषार्थ से स्वयं ही च्युत हुआ है, कर्म के कारण नहीं। जो अनादि से भ्रष्ट हुआ है, वहाँ कर्म का क्या काम? लोगों ने ऐसा ही समझ रखा है, मान रखा है कि कर्म के कारण ही रागादिभाव होते हैं; परन्तु भाई! वस्तुतः वात ऐसी नहीं है। स्वयं ही अपने विज्ञानघन स्वभाव से अनादि से भ्रष्ट हुआ है। जड़कर्म तो परद्रव्य है, जड़ की पर्याय तो निश्चय से आत्मा को स्पर्श ही नहीं करती। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव है।

जो अज्ञानी जीव अनादिकाल से अपने विज्ञानघन स्वभाव से भ्रष्ट हुआ प्रचुर विकल्परूपी गहन वन में दूर-दूर तक भटक रहा था, अनेक प्रकार के विकल्प के रागजाल में स्वत: उलझ रहा था; दया, दान, व्रत आदि शुभ – पुण्यरूप तथा हिंसादि अशुभ – पापरूप अनन्त प्रकार के शुभाशुभ विकल्पों या अनेक प्रकार के नय विकल्पों के इन्द्रजाल में स्वयं अपने विभाव स्वभाव से अटक रहा था, वह तत्त्वज्ञान के वल से उसे दूर से ही छोड़कर अर्थात् रागादि में मिले विना ही अपने उपयोग को स्वभाव में जोड़ देता है। भेदज्ञान द्वारा प्राप्त अपने वल से ही अपने चैतन्यस्वभाव की ओर झुक जाता है।

अहो! जिसप्रकार मन्दिर के शिखर पर स्वर्ण का कलश चढ़ाते हैं, उसीप्रकार अमृतचन्द्राचार्य देव ने इस परमागम मन्दिर के ऊपर यह कलश चढ़ाया है।

अहाहा....! विज्ञानघन स्वभाव के रसिक पुरुषों को आत्मा विज्ञान-रसरूप ही अनुभव में आता है।

भाई! वाहर की सम्पदा तो सब आपदा ही है, प्रभु आत्मा तो अन्दर की आनन्द की सम्पदा से भरा हुआ आनन्दघन है। इसके अनुभव करने की यह बात है। आत्मा आत्मा को आत्मा में ही लगाता हुआ, पर्याय को स्वभाव में झुकाता हुआ, विज्ञानघन स्वभाव में आ मिलता है। विकल्प-रूप राग अनात्मा है, वहाँ से हटकर अपनी ज्ञान पर्याय को (उपयोग को) अपने शुद्ध चैतन्यरूप से परिणमाता हुआ, सदा विज्ञानघन स्वभाव में मिलता है। निर्मल परिणति ध्रुवस्वभाव में ठहर गई, इसे ही सदा विज्ञान-घनस्वभाव में आ मिला है – ऐसा कहा है। उसी में परिणति एकाग्रपने से स्थित हो गई, इसी को सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह चौथे गुण-स्थान की ही वात है, यहाँ चारित्र की वात नहीं है।

भाई! पर में व राग में तू नहीं है, वहाँ से हट जा और अपने अनाकुल, आनन्दघनस्वरूप आत्मा में चला जा। बस, यही दर्शन व ज्ञान है, यही मोक्ष का उपाय है। अनादिकाल से हैरान हो रहा है, चार गति व चौरासी लाख योनियों में भटक रहा है। यदि सुखी होना हो, तो यह जो उपाय वताया है, उस पर विचार कर!

कलश ९४ के भावार्थ पर प्रवचन

जिसप्रकार पानी अपने जलाशय में से किसी मार्ग से वहकर दूर वन में चला जाता है और कहीं ढालवाला मार्ग पाकर पुन: जलाशय में

आ मिलता है, उसीप्रकार आत्मा अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव से बाहर निकलकर अनादि से मिथ्यात्व के मार्ग से विकल्परूपी वन में भटकता है। दया, दान एवं काम, क्रोध आदि के पुण्य-पापरूप भाव मेरे हैं – ऐसा माननेवाला अज्ञानी मिथ्यात्व के मार्ग में है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन स्वभावरूप है। रागादि विकल्प इसके स्वरूप में नहीं हैं, तथापि ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ – ऐसा मानकर वह स्वरूप से भ्रष्ट होकर अनेक प्रकार के पुण्य-पापरूप विकल्पों के वन में भटक रहा है। मैं पर की दया पालूँ, पर की सहायता करूँ, पर को जीवित रखूँ, पर को मारूँ – ऐसी अनेक प्रकार की मिथ्या मान्यता से विकल्परूप वन में, मिथ्यात्व के मार्ग में परिभ्रमण कर रहा है।

अब कहते हैं कि ज्ञानी जीव बहिरात्मपना छोड़कर, किसप्रकार सम्यक्त्व के मार्ग में आकर, अपने स्वभाव सन्मुख होता हुआ, भेदज्ञानरूपी ढालवाले मार्ग से स्वयमेव अपने उपयोग को बाहर से खींचकर अपने विज्ञानघन स्वभाव में आ मिलता है।

श्लोक में ऐसा पाठ है कि 'विवेक निम्नगमनात्' इसका अर्थ यह है कि भेदज्ञानरूपी मार्ग द्वारा स्वयं अपने ज्ञानघन स्वभाव में आ मिलता है। ढालवाला मार्ग अर्थात् भेदज्ञानरूप गंभीर मार्ग, इसके द्वारा स्वरूप में आ मिलता है।

राग से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव को जानकर, अपनी निर्मल ज्ञान की पर्याय द्वारा अपने पुरुषार्थ से अन्तर्स्वभाव में गति करता है। राग से भिन्न पड़ी हुई अपनी ज्ञान पर्याय को अन्तर्स्वभाव के साथ जोड़ देता है।

प्रश्न :–विकल्प तो ज्ञानी को भी आते हैं न ?

उत्तर :–हाँ, ज्ञानी को विकल्प आते हैं, परन्तु उन्हें वह अपनी वस्तु नहीं मानता। ज्ञानी को विकल्पों का स्वामित्व नहीं है। वह उन विकल्पों का कर्त्ता नहीं बनता।

अहाहा····! वीतराग-सर्वज्ञ परमेश्वर ने मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि का मार्ग भिन्न-भिन्न कहा है। शुभाशुभराग वस्तुतः पुद्गलमय परिणाम है। उसे अपना मानकर अज्ञानी गहन विकल्प वन में परिभ्रमण करता है, जबकि ज्ञानी राग व विकल्प से भिन्न अपनी ज्ञानानन्दस्वरूप वस्तु को पहचानकर स्वभाव की ओर अग्रसर होकर स्वभाव में मिल जाता है। भेदज्ञानरूपी जो गंभीर ढालवाला मार्ग है, वह अन्तर्स्वभाव की ओर जानेवाला मार्ग है और विकल्प पर की ओर जानेवाला मार्ग है। भेदज्ञान

द्वारा जिसको स्वभाव का आश्रय हो जाता है, वह विकल्पों से भिन्न हो जाता है, फिर उसे विकल्पों का कर्तृत्व नहीं रहता। अज्ञानी दया, दान, व्रत आदि शुभ विकल्पों को अपना स्वरूप मानकर विकल्पों का कर्त्ता बनकर निज चैतन्यस्वरूप से भ्रष्ट होकर विकल्पवन में चिरकाल तक परिभ्रमण करता है।

राग से भिन्न होकर भेदज्ञान द्वारा अपने विज्ञानघन स्वभाव में एकाकार होकर परिणमन करने का नाम सम्यग्दर्शन है और यह सम्यग्दर्शन मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है। जिसने निजचैतन्य के आश्रय से ऐसे सम्यग्दर्शन को प्रगट किया है, वह ज्ञानी राग का कर्त्ता नहीं होता, क्योंकि वह राग से भिन्न निर्मल पर्यायरूप से परिणमा है। वह राग को अपने में नहीं मिलाता।

कलश ९५

(अनुष्टुप)

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ।। ९५ ।।

श्लोकार्थ :– [**विकल्पकः परं कर्ता**] विकल्प करने वाला ही केवल कर्त्ता है और [**विकल्पः केवलम् कर्म**] विकल्प ही केवल कर्म है; (अन्य कोई कर्त्ता-कर्म नहीं है;) [**सविकल्पस्य**] जो जीव विकल्पसहित है, उसका [**कर्तृकर्मत्वं**] कर्त्ताकर्मपना [**जातु**] कभी [**नश्यति न**] नष्ट नहीं होता।

भावार्थ :– जबतक विकल्पभाव है, तब तक कर्त्ताकर्मभाव है; जब विकल्प का अभाव हो जाता है, तब कर्त्ताकर्मभाव का भी अभाव हो जाता है।

कलश ९५ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

कर्त्ता-कर्म अधिकार का उपसंहार करते हुए सर्वप्रथम इस कलश में कर्ता और कर्म का संक्षिप्त स्वरूप बताया गया है –

आचार्य कहते हैं कि भगवान आत्मा स्वभाव से सदा विज्ञानघन स्वभावी होने से जिनपदरूप है, सिद्धपदरूप है। अभी भी वह स्वभाव से तो वीतराग-स्वरूप ही है। यदि स्वरूप से वीतराग न हो, तो पर्याय में

वीतरागता कहाँ से प्रगट होगी ? अरे भाई ! वीतरागता कहीं बाहर से नहीं आती, जो स्वभाव में शक्तिरूप में है, वही पर्याय में प्रगट होता है; परन्तु अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ऐसे वीतराग स्वभाव को भूलकर स्वयं को राग का कर्त्ता मानता है और राग को अपना कर्म (कार्य) मानता है। इसीकारण आत्मा दुःखी है, उसकी शान्ति भंग हो रही है और राग की आग में जल रहा है।

जबतक यह आत्मा अज्ञानी हुआ राग का कर्त्ता बना रहेगा, तबतक वह केवल कर्त्ता ही है, ज्ञाता नहीं और वह रागभाव ही केवल उसका कर्म है। पर के कार्य का कर्त्ता तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी नहीं है, अतः परद्रव्य तो किसी का कर्म हो ही नहीं सकता; किन्तु राग का कर्त्ता बननेवाले अज्ञानी का भी केवल राग ही कर्म है, परद्रव्य नहीं। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। वस्तुस्वभाव तर्क से अगोचर है, अतः इसमें क्या, क्यों और कैसे का प्रश्न नहीं उठता।

रागादिविकल्प करनेवाला ही केवल कर्त्ता है, अन्य कोई कर्त्ता ही नहीं है, जो अपने को रागादिविकल्पों का कर्त्ता मानता है, वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव भी केवल विकल्पों का ही कर्त्ता है तथा जो विकल्पों को भेदकर भेदज्ञान करनेवाला, जाननेवाला ज्ञानी है, वह केवल ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं।

परजीव की दया, हिंसा तो आत्मा कभी करता ही नहीं है, कर भी नहीं सकता; क्योंकि परद्रव्य का कर्त्ता आत्मा त्रिकाल नहीं है। अतः शरीर, मन, वाणी आदि परद्रव्य की क्रिया का कर्त्ता तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी नहीं है; परन्तु जो मिथ्यादृष्टि स्वयं को रागादिविकल्पों का करनेवाला मानता है, वही केवल कर्त्ता है, दूसरा कोई कर्त्ता नहीं हो सकता तथा जो राग का कर्त्ता अपने को मानता है, वह केवल कर्त्ता ही है, ज्ञाता नहीं हो सकता।

जो जीव विकल्प सहित है, उसका कर्त्ता-कर्मपना कभी नष्ट नहीं होता। अर्थात् जो ऐसे विकल्प सहित है कि – 'विकल्प मेरा है, मैं विकल्प का कर्त्ता हूँ और विकल्प मेरा कर्म है' – उसकी कर्त्ता-कर्मपने की वृत्ति चलती ही रहती है, उसको कभी भी निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता।

कोई यह कहे कि व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट हो जायेगा, उससे कहते हैं कि भाई ! जिससे भेदज्ञान करना है, जिससे पृथक् होकर स्वरूप में जाना है, जो स्वरूप में जाने में बाधक है, उसी रागरूप व्यवहार

को करते-करते सम्यग्दर्शन कैसे होगा? जो राग का कर्त्ता है, उसका केवल राग ही कर्म है, उसका राग के साथ का कर्त्ता-कर्मपना नष्ट नहीं हो सकता।

जो ज्ञातास्वभाव की दृष्टि को छोड़कर राग का कर्त्ता बनता है, वही केवल एक कर्त्ता है, अन्य कोई कर्म आदि या निमित्त उस रागरूप कार्य का कर्त्ता नहीं है। रागरूप कार्य का कर्त्ता जीव भी हो और कर्म भी हो – ऐसा नहीं बनता, क्योंकि एक कार्य के दो कर्त्ता नहीं होते।

आत्मा में कर्त्ता व कर्म नाम की शक्तियाँ हैं। आत्मा अपनी निर्मल पर्याय का कर्त्ता और निर्मल पर्याय उसका कर्म – ऐसी त्रिकाल शक्ति आत्मा में है। जिसप्रकार आत्मा में ज्ञान व आनन्दस्वभाव है, उसीप्रकार कर्त्ता व कर्म भी आत्मा की स्वाभाविक शक्तियाँ हैं। ४७ शक्तियों में अशुद्धता की बात ही नहीं है। किसी शक्ति में अशुद्धता है ही नहीं। प्रत्येक द्रव्य में गुण अक्रम एवं पर्यायें क्रमशः एक के बाद एक होती हैं। द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ अक्रम से हैं और निर्मल पर्यायें क्रम से उत्पन्न होती हैं। यह निर्मल परिणमन ही जीव का कार्य है। राग जीव का कार्य नहीं है और जीव राग का कर्त्ता नहीं। ज्ञानी को राग होता है; परन्तु ज्ञानी उसका कर्त्ता नहीं है, परन्तु राग सम्बन्धी जो ज्ञान स्वयं में स्वयं से उत्पन्न होता है, उस ज्ञान का कर्त्ता ज्ञानी है – ऐसा कहना व्यवहार है। वास्तव में तो ज्ञानी को स्व का ज्ञान एवं राग का ज्ञान अपने वर्त्तमान ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय में स्वयं से क्रमबद्ध होता है, अपनी निज शक्ति का ही यह सहज कार्य है।

इसे समझे बिना कोई जीव पुण्य के फल में भले ही बड़ा देव हो जावे या अरबपति सेठ हो जावे, परन्तु वह दुःखी ही है।

देखो भाई! यह बाह्य लक्ष्मी तो अजीव तत्त्व है और इस लक्ष्मी के प्रति उत्पन्न हुआ रागभाव आस्रव तत्त्व है, तथा इनसे भिन्न भगवान आत्मा ज्ञायक तत्त्व है; किन्तु जो इन अजीव व आस्रवादि भावों को अपना मानता है, वह मूढ़ – मिथ्यादृष्टि है, उनके राग का कर्त्ता-कर्मपना कभी नहीं मिटता।

कलश ९६

(रथोद्धता)

यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥९६॥

श्लोकार्थ :– [**यः करोति सः केवलं करोति**] जो करता है, सो मात्र करता ही है [**तु**] और [**यः वेत्ति सः तु केवलम् वेत्ति**] जो जानता है, सो मात्र जानता ही है; [**यः करोति सः क्वचित् न हि वेत्ति**] जो करता है, वह कभी जानता नहीं [**तु**] और [**यः वेत्ति सः क्वचित न करोति**] जो जानता है, वह कभी करता नहीं।

भावार्थ :– जो कर्त्ता है, वह ज्ञाता नहीं और जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं।

कलश ९६ पर प्रवचन

जो कर्त्ता है, वह केवल कर्त्ता ही है, ज्ञाता नहीं तथा जो ज्ञाता है, वह केवल ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं।

नाटक समयसार में कहा भी है :–

करै करम सोई करतारा जो जानै सो जाननहारा,
जो करता नहि जानै सोई, जानै सो करता नहि होई।

अज्ञानी अपनी मिथ्या मान्यता से ऐसा मानता है कि राग मेरा कार्य है, अतः वह राग का कर्त्ता ही है तथा ज्ञानी अपनी स्व-परप्रकाशक शक्ति द्वारा राग को व स्वयं को मात्र जानता ही है, अतः ज्ञाता ही है। कथंचित् जानता है और कथंचित् करता है – ऐसा नहीं है; क्योंकि कर्त्तृत्व और ज्ञातृत्व (कर्त्तापना व ज्ञातापना) दो एक साथ नहीं रह सकते।

जिसप्रकार लोक में कोई किसी की वस्तु हर ले, चुरा ले, तो वह चोर कहा जाता है; उसीप्रकार अपने चैतन्यस्वरूप में जो वस्तु नहीं है, उसे अपनी मान ले, तो वह भी चोरी ही है। अन्य की वस्तु को अपनी माने, वह चोर है। राग अपना नहीं है, उसे अपना माने, तो वह चोर नहीं तो क्या है?

पण्डित बनारसीदासजी ने कहा है :–

सत्ता की समाधि में, विराज रहै सोई साहू,
सत्ता तें निकसि और गहे, सोई चोर है।

जो अपनी चैतन्यस्वरूप सत्ता से बाहर जाकर राग का कर्त्ता बनता है, वह चोर है, अपराधी है।

ज्ञानी राग का कर्त्ता नहीं है। राग निश्चय से पुद्गल का परिणाम है, क्योंकि राग आत्मा के चैतन्यस्वरूप में नहीं है तथा वह पुद्गल के निमित्त से होता है, इसीकारण उसे पुद्गल का परिणाम कहा गया है।

आत्मा के चैतन्यस्वभाव से विरुद्धभाव है, इसकारण राग को अचेतन अजीव व पुद्गल का भाव कहा जाता है। ७२वीं गाथा में भी राग को अशुचि, जड़ व दुःख का कारण कहा है।

आत्मा विज्ञानघन प्रभु है। वह दुःख का अकारण है। आत्मा राग का कारण भी नहीं है और राग का कार्य भी नहीं है।

हाँ, यदि व्यवहार करते-करते निश्चय हो अर्थात् व्यवहार के शुभ-राग करने से सम्यग्दर्शनरूप आत्मा की निर्मल पर्यायरूप कार्य हो, तो आत्मा राग का कार्य सिद्ध हो; परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मा राग का कर्त्ता नहीं है। जब ज्ञानी राग का कर्त्ता बने, तभी तो राग उसका कर्म हो सकता है; किन्तु ऐसा भी नहीं है। धर्मीजीव तो राग का केवल ज्ञाता है, यह कहना भी व्यवहार है; वस्तुतः तो ज्ञानी राग सम्बन्धी अपने ज्ञान का ही मात्र ज्ञाता है। इसप्रकार ज्ञान मात्र ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं।

कलश ९६ के भावार्थ पर प्रवचन

जो कर्त्ता बनता है, वह ज्ञाता नहीं हो सकता और जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं बनता। जो जीव सदा विज्ञानघनस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि छोड़कर शुभाशुभ राग का कर्त्ता बनता है, वह ज्ञाता (मात्र ज्ञाता-दृष्टा) नहीं रह सकता। स्वरूप की दृष्टि से रहित अज्ञानी जीव ही अशुद्ध (रागादि) परिणामों का कर्त्ता बनता है और अशुद्ध परिणाम ही केवल उसके कर्म बनते हैं। अशुद्धता ही अज्ञानी का कर्म (कार्य) है। रागादि अशुद्धता के सिवाय अन्य कुछ भी उसका कर्म या कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य में कुछ कार्य करने का जीव का स्वभाव ही नहीं है; शक्ति व सामर्थ्य ही नहीं है तथा उसका अशुद्धतारूप कार्य भी उसके सिवाय अन्य कोई नहीं कर सकता, क्योंकि एकद्रव्य के कार्य को करने की शक्ति अन्य द्रव्य में है ही कहाँ ? सभी द्रव्य अपना-अपना कार्य ही करते हैं।

प्रश्न :—समन्तभद्राचार्यदेव ने 'एक कार्य के दो कारण' कहे हैं, उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– हाँ, शास्त्रों में एक कार्य के होने में दो या अनेक कारणों का उल्लेख मिलता है; परन्तु उन प्रकरणों में प्रमाण का ज्ञान कराने के लिए साथ में निमित्तरूप से दूसरा द्रव्य भी विद्यमान होता है, इस बात का ज्ञान कराया गया है। वस्तुतः निमित्त कोई वास्तविक कारण नहीं है। परमार्थतः वास्तविक कारण तो एक (उपादान) ही है। पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा है कि मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, किन्तु उसका कथन दो प्रकार का है। वास्तविक कारण तो एक ही है; दूसरा कारण तो सहचर (निमित्त) है, अतः उपचार से उसे कारण कहा गया है।

राग बहिर्मुखभाव है, वह चैतन्य का स्वरूप नहीं है। जो उसका कर्त्ता होता है, वह ज्ञाता नहीं हो सकता। जो राग की रचना करनेवाला है, वह केवल कर्त्ता ही है, ज्ञाता नहीं तथा जिसे अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का आश्रय या भान हुआ है, वह ज्ञानी केवल ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं।

राग-द्वेष का परिणाम आत्मा का धर्म नहीं है। जो राग-द्वेष का भाव होता है, वह भावमन का धर्म है और द्रव्यमन उसमें निमित्त है। पुण्य-पाप के भाव भी आत्मा का कार्य (धर्म) नहीं है। संकल्प-विकल्परूप विकृतावस्था मन का कार्य है, उसे जो अपना कार्य मानकर कर्त्ता होता है, वह इन सबसे भिन्न होकर भेदज्ञान करके ज्ञातारूप नहीं रह सकता तथा जो शुद्ध अन्तःतत्त्व का अनुभव करके ज्ञाताभाव से परिणमा, वह राग का कर्त्ता नहीं होता। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं।

इसप्रकार ज्ञाता ज्ञाता ही है और कर्त्ता कर्त्ता ही, पर का कर्त्ता ज्ञाता नहीं होता और स्व का ज्ञाता पर का कर्त्ता नहीं होता।

कलश ९७

इसीप्रकार अब यह कहते हैं कि करने और जाननेरूप दोनों क्रियाएँ भिन्न हैं :–

(इन्द्रवज्रा)

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः।
ज्ञप्ति करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥ ९७ ॥

श्लोकार्थ :– [करोतौ अन्तः ज्ञप्तिः न हि भासते] करनेरूप क्रिया के भीतर जाननेरूप क्रिया भासित नहीं होती; [च] और [ज्ञप्तौ अन्तः

करोतिः न भासते] जाननेरूप क्रिया के भीतर करनेरूप क्रिया भासित नहीं होती; [**ततः ज्ञप्तिः करोतिः च विभिन्ने**] इसलिये 'ज्ञप्ति' क्रिया और 'करोति' क्रिया दोनों भिन्न हैं; [**ततः इति स्थितं**] इससे यह सिद्ध हुआ कि [**ज्ञाता कर्ता न**] जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं है।

भावार्थ :– जब आत्मा इसप्रकार परिणमन करता है कि 'मैं परद्रव्य को करता हूँ' तब तो वह कर्त्ताभावरूप परिणमनक्रिया के करने से अर्थात् 'करोति' क्रिया के करने से कर्त्ता ही है और जब वह इसप्रकार परिणमन करता है कि 'मैं परद्रव्य को जानता हूँ' तब ज्ञाताभावरूप परिणमन करने से अर्थात् ज्ञप्तिक्रिया के करने से ज्ञाता ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि अविरत-सम्यग्दृष्टि आदि को जबतक चारित्रमोह का उदय रहता है, तबतक वह कषायरूप परिणमन करता है, इसलिये वह उसका कर्त्ता कहलाता है या नहीं ?

उसका समाधान :– अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि के श्रद्धा व ज्ञान में परद्रव्य के स्वामित्वरूप कर्तृत्व का अभिप्राय नहीं है। जो कषायरूप परिणमन है, वह उदय की बलवत्ता के कारण है; वह उसका ज्ञाता है; इसलिए उसके अज्ञान सम्बन्धी कर्तृत्व नहीं है। निमित्त की बलवत्ता से होनेवाले परिणमन का फल किंचित् होता है, वह संसार का कारण नहीं है। जैसे वृक्ष की जड़ काट देने के बाद वह वृक्ष कुछ समय तक रहे अथवा न रहे – प्रतिक्षण उसका नाश ही होता जाता है, इसीप्रकार यहाँ भी समझना।

कलश ९७ पर प्रवचन

जो जीव राग के परिणामरूप क्रिया को करता है अर्थात् 'यह शुभराग की क्रिया मेरी है, मैं शुभराग की क्रिया करता हूँ' – ऐसा जो मानता है, उसे अपना ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव भासित नहीं होता, अर्थात् वह ज्ञाता-दृष्टाभाव से रहनेरूप क्रिया को नहीं कर सकता – ज्ञाता-दृष्टा नहीं रह सकता।

देखो, यहाँ जड़ की क्रिया करने की बात नहीं है, आत्मा पुद्गल का कर्त्ता नहीं है – यह बात बाद में करेंगे। यहाँ तो अभी आत्मा और आत्मा की अशुद्धता के बीच की बात है। आचार्य कहते हैं कि जिसे ऐसा भासित होता है कि मैं राग की क्रिया करता हूँ, उसे अपनी जाननक्रिया भासित नहीं होती।

जगत के लौकिक जन दया-दान-व्रत आदि बाह्य क्रियायें करके उन्हें धर्म का साधन मानते हैं; परन्तु भाई ! यह मान्यता यथार्थ नहीं है। राग की क्रिया के कर्तृत्व में आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा स्वभावरूप परिणमन नहीं होता। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा का संवेदन होकर जो जाननेरूप क्रिया होती है, उसे ज्ञान की क्रिया कहते हैं। ज्ञानरूप, श्रद्धानरूप, वीतरागी शान्तिरूप तथा आनन्दरूप से जो आत्मा का परिणमन होता है, वह ज्ञान की क्रिया है। ऐसी ज्ञान की क्रिया के काल में ज्ञानी को राग के कर्तृत्वरूप अज्ञान की क्रिया नहीं होती और होती नहीं है, इसलिए भासती नहीं है।

प्रश्न :—तो क्या ज्ञानी को राग होता ही नहीं है ?

उत्तर :— नहीं, भाई ! ऐसी बात नहीं है। ज्ञानी को राग तो होता है, परन्तु 'राग की क्रिया मेरी है' — ऐसा उसे भासित नहीं होता, अर्थात् उसे राग की क्रिया का स्वामित्व नहीं है, वह उस क्रिया को अपनी क्रिया नहीं मानता। यह चौथे गुणस्थान की बात है। पुरुषार्थ की हीनता के कारण अल्पराग की रचना होती है; परन्तु 'वह क्रिया मेरी है, मैं उसका कर्त्ता हूँ' — ऐसा सम्यग्दृष्टि नहीं मानता है। ज्ञानी के ज्ञान की रचना होती है — उस ज्ञान की रचना में उसे राग की रचना भासित नहीं होती। तात्पर्य यह है कि धर्मी को राग तो होता है, परन्तु वह उस राग का स्वामी नहीं बनता।

आत्मा में एक स्व-स्वामित्व नामक शक्ति है। ज्ञानी के द्रव्य, गुण एवं शुद्ध पर्याय 'स्व' है तथा ज्ञानी उसका स्वामी है, ज्ञानी अशुद्धता का स्वामी नहीं है।

अरे, भाई ! आत्मा में ऐसा एक भी गुण नहीं है कि जिससे अशुद्धता हो। परवशता से पर के लक्ष्य से केवल पर्याय में अशुद्धता होती है, परन्तु परद्रव्य अशुद्धता नहीं कराता है। जब अज्ञानी स्वयमेव पर का या निमित्त का आश्रय करता है, तब पर्याय में अशुद्धता होती है; (अशुद्धता भी पर्याय का धर्म है) परन्तु ज्ञानी उस अशुद्धता का स्वामी नहीं है।

धर्मी को जब जो राग की क्रिया होती है, उसकाल में उसे उसका ज्ञान भी होता है; क्योंकि ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है कि जैसा वहाँ पर्याय में राग-द्वेष, विषय-वासना आदि भाव उत्पन्न होता है, उसका ज्ञान भी यहाँ स्वतः उत्पन्न होता है। राग के कारण राग का ज्ञान

हुआ हो – ऐसा नहीं है, बल्कि ज्ञान के स्व-परप्रकाशक स्वभाव के कारण ही ज्ञानी को स्व-परप्रकाशक परिणति प्रगट होती है; इसीलिए कहा है कि ज्ञानी की क्रिया में अशुद्धता की क्रिया भासित नहीं होती, अर्थात् ज्ञप्ति क्रिया में करोति क्रिया नहीं होती।

'करोति' क्रिया अर्थात् आत्मा का अशुद्धपना, मिथ्यात्व रागादिरूप क्रिया और 'ज्ञप्ति' क्रिया अर्थात् ज्ञानी की ज्ञाताभाव से रहनेरूप क्रिया – दोनों क्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं। अज्ञानी के रागादिरूप अशुद्ध क्रिया है, उसके केवल ज्ञाता-दृष्टा रहनेरूप ज्ञान की क्रिया नहीं है और ज्ञानी के ज्ञातारूप ज्ञान क्रिया है, रागादिरूप अशुद्ध क्रिया नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं है; जो कर्त्ता है, वह ज्ञाता नहीं है। सम्यग्दृष्टि धर्मीजीव अपने शाश्वत ध्रुव ज्ञातास्वभाव का ज्ञायक है। शुद्ध चैतन्य की दृष्टि में वह वर्तमान अशुद्ध कृत्रिम रागरूप अशुद्ध क्रिया का स्वामी नहीं है, इसकारण वे दोनों क्रियायें एक साथ नहीं होतीं; दोनों क्रियाएं भिन्न-भिन्न हैं।

चतुर्थ गुणस्थान में ज्ञानी के अशुद्ध रागादि क्रिया होते हुए भी ज्ञानी उसका स्वामी नहीं है, अतः वह केवल ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं। ११०वें कलश में आया है कि ज्ञानधारा ज्ञानभाव से प्रवाहित होती है और रागधारा (कर्मधारा) रागरूप प्रवाहित होती है। दोनों साथ हैं, परन्तु दोनों एकमेक नहीं हैं – ऐसा वहाँ सिद्ध किया है। ज्ञानधारा धर्म है, संवर-निर्जरा का कारण है और रागधारा कर्मधारा है और वह बंध का कारण है।

परन्तु यहाँ तो यह कह रहे हैं कि ज्ञानी के अकेली ज्ञानधारा है, क्योंकि राग होते हुए भी वह उसका कर्त्ता नहीं है। जिससमय रागादिभाव होता है, उसीसमय तत्संबंधी स्व-परप्रकाशक ज्ञान स्वयं से उत्पन्न हो जाता है। काल एक है, तथापि दोनों का भाव भिन्न है। राग का ज्ञान राग की उपस्थिति के कारण नहीं हुआ है, बल्कि राग के काल में ही स्व-पर को जानने की ज्ञानक्रिया स्वतः अपने निजरस से ही उत्पन्न होती है। ज्ञान में राग निमित्त है – यह तो कहा, परन्तु राग में ज्ञान का निमित्तपना नहीं कहा।

१००वीं गाथा में भी कहा है कि जब परद्रव्य की क्रिया अपनी उपादान की योग्यता से अपने स्व-समय में स्वतः होती है, उससमय तद्नुकूल अज्ञानी के योग व उपयोग को उसमें निमित्तकर्त्ता कहा जाता है,

आत्मा को उस परद्रव्य का कर्त्ता नहीं कहा जाता । आत्मा तो केवल अज्ञान अवस्था में अपने योग व उपयोग का कर्त्ता है । परद्रव्य का कर्त्ता तो अज्ञानी भी नहीं हैं । ज्ञानी जीव अपने उपयोग व योग का कर्त्ता नहीं है, उसके स्व-परप्रकाशक ज्ञान की पर्याय में राग (उपयोग) व योग निमित्त हैं । उपादान तो वहाँ वह स्वयं ही है । राग का जो ज्ञान होता है, वह राग से उत्पन्न होता है । ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव ज्ञाता-दृष्टारूप से परिणमता है, उसमें ज्ञान को राग व परवस्तु निमित्त कही जाती है; इसलिए जो ज्ञाता है, वह ज्ञाता ही है ।

ज्ञाता के ज्ञानरूप परिणमन के समय रागादिभाव भी होते हैं । चौथे गुणस्थान में अप्रत्याख्यान कषायजन्य राग होता है, पाँचवें गुणस्थान में भी प्रत्याख्यान कषायजन्य एवं छटवें गुणस्थान में संज्वलन कषायजन्य राग होता है; परन्तु ज्ञानी के ज्ञानरूप परिणमन में वह कषायजन्य राग जब ज्ञेयरूप से ज्ञात होता है, तब उस राग को निमित्त कहा जाता है । ज्ञानी राग में तन्मय नहीं होता और राग ज्ञान में तन्मय नहीं है । ज्ञानी राग का कर्त्ता नहीं है और राग ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय का कर्त्ता नहीं है । ऐसा ही वस्तु का सहज स्वरूप है ।

सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार में भी आया है कि केवलज्ञान पर्याय में लोकालोक ज्ञेयरूप निमित्त है और लोकालोक को ज्ञेय बनने में केवलज्ञान ज्ञातारूप निमित्त है । यहाँ निमित्त का क्या अर्थ है ? क्या लोकालोक के अस्तित्व से लोकालोक का ज्ञान हुआ है ? नहीं, ऐसा नहीं होता । लोकालोक का ज्ञान अपने (ज्ञाता के) ज्ञान पर्याय के स्वकाल में अपनी उपादान की योग्यता से स्वतः होता है और उसमें लोकालोक केवल निमित्त होता है ।

तथा 'लोकालोक को केवलज्ञान निमित्त है' – ऐसा जो कहा, उसका भी यही अभिप्राय है कि केवलज्ञान में लोकालोक झलका, इसलिए लोकालोक का अस्तित्व नहीं है; क्योंकि लोकालोक तो अनादि से है और केवलज्ञान तो नया उत्पन्न हुआ है, अतः केवलज्ञान लोकालोक के अस्तित्व का निमित्त कैसे हो सकता है ? भाई ! यहाँ निमित्त का अर्थ यह है कि केवलज्ञान व लोकालोक परस्पर एक-दूसरे का कुछ भी किये बिना मात्र ज्ञेयज्ञाता-रूप से हैं ।

दूसरी वस्तु निमित्त होती है; परन्तु वह कुछ करती नहीं है, होने और करने में बहुत बड़ा अन्तर है ।

यहाँ यह कह रहे हैं कि ज्ञाता ज्ञाता है, कर्त्ता नहीं है। अहाहा ···· ! इस कलश में आचार्यदेव ने कितना गंभीर भाव भर दिया है। धर्मी राग का ज्ञाता है – यह कहना भी व्यवहार है, क्योंकि ज्ञानी राग में तन्मय नहीं है। ज्ञानी तो राग सम्वन्धी जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में तन्मय है और उस ज्ञान का ही वह ज्ञाता है। केवली लोकालोक को जानते हैं – यह कहना भी असद्भूतव्यवहार है, क्योंकि लोकालोक परद्रव्य हैं। भगवान केवली लोकालोक में तन्मय होकर उसे नहीं जानते। लोकालोक हैं, इसलिए केवलज्ञान है – ऐसा नहीं है। भगवान की केवलज्ञान पर्याय वर्तमान में अपने सामर्थ्य से ही प्रगट हुई है, लोकालोक के कारण नहीं। वस्तु का ऐसा ही स्वरूप है, इसकारण जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं है।

गाथा ९७ के भावार्थ पर प्रवचन

जब आत्मा अज्ञानभाव से परिणमन करता हुआ, ऐसा मानता है कि 'मैं परद्रव्य की क्रिया को करता हूँ', तब परद्रव्य के कर्तृत्वरूप परिणमन क्रिया का कर्त्ता बनने से अर्थात् 'करोति' क्रिया का करनेवाला होने से कर्त्ता ही है और जब आत्मा ज्ञानभाव से परिणमन करता हुआ ऐसा जानता है कि 'मैं परद्रव्य का मात्र ज्ञाता ही हूँ' तब परद्रव्य का मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहकर ज्ञाताभाव से परिणमन करता है, अर्थात् वह ज्ञप्ति क्रिया के करने से ज्ञाता ही है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान की पर्याय के परिणमन में स्व को जानता हुआ, पर के अस्तित्व को भी अपनी ज्ञान की पर्याय के सामर्थ्य से जानता ही है।

प्रश्न :–चौथे, पाँचवें व छट्ठे गुणस्थानवालों के चारित्रमोह के उदय से राग-द्वेष हैं, फिर भी आप उन्हें ज्ञाता कहते हो ? वे घमासान युद्ध लड़ते हैं, धंधा-व्यापार करते हैं, शादी-व्याह करते-कराते हैं, तो उनके राग-द्वेष तो हैं ही ? भरत और वाहुवली, दोनों क्षायिक सम्यग्दृष्टि और तद्भव मोक्षगामी थे, उन दोनों के वीच युद्ध हुआ, भरत ने ९६ हजार शादियाँ भी की, तो वे इन राग-द्वेष के परिणामों के कर्त्ता थे या नहीं ? क्या उन्हें राग-द्वेष का कर्त्ता नहीं कहा जायेगा ?

उत्तर :– नहीं कहा जायेगा, क्योंकि चौथे गुणस्थानवाले जीवों के श्रद्धा-ज्ञान में परद्रव्य का स्वामित्वरूप से कर्तृत्व का अभिप्राय नहीं है। यद्यपि कषाय का परिणमन है; परन्तु वह उदय की वलजोरी से है, वे उसके ज्ञाता ही हैं, इसकारण अज्ञान सम्बन्धी कर्त्तापना उनको नहीं है।

प्रवचनसार में ४७ नयों के प्रकरण में कहा है कि ज्ञानी को जितना राग का परिणमन है, उनका वह स्वयं कर्त्ता है – ऐसा कर्तृ नय से जानता है; परन्तु यहाँ वह बात नहीं है । यहाँ तो दृष्टिप्रधान बात है । दृष्टि की प्रधानता में निश्चय से ज्ञानी को राग का कर्त्तापना नहीं है । जिस अपेक्षा जो बात हो, उसी अपेक्षा से उसे यथार्थ समझना चाहिए ।

समयसार के तीसरे कलश में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि मोहनामक कर्म के उदयरूप विपाक के कारण जो रागादि परिणामों की व्याप्ति है, उनसे मेरी परिणति मैली है । समयसार की व्याख्या से मेरी उस अनुभूति की परमविशुद्धि होवे । द्रव्य से तो मैं शुद्ध ही हूँ; परन्तु पर्याय में जो कलुषता है, वह इस टीका करने के काल में नष्ट हो जावे ।

प्रश्न :– आपने कहा कि ज्ञानी का कषायरूप परिणमन उदय की बलजोरी से है, तो क्या ज्ञानी की रागरूप परिणति कर्म के कारण है ?

उत्तर :– नहीं, भाई ! ऐसा नहीं है । बात यह है कि ज्ञानी को राग की रुचि नहीं है, उसका राग करने का अभिप्राय नहीं है । राग में उसका स्वामित्व नहीं है, तथापि राग होता है; क्योंकि वह भी समय-समय की पर्याय का स्व-कालरूप पर्यायधर्म है तथा वह ज्ञानी जीव के पुरुषार्थ की हीनता का सूचक है; परन्तु पर के कारण या कर्म की बलजोरी के कारण नहीं हुआ है । दृष्टि की प्रधानता से राग को पुद्गल का परिणाम कहते हैं और उसी को यहाँ उदय की बलजोरी से होता है – ऐसा कहा है ।

ज्ञानी को भी अस्थिरता का परिणमन है । परिणमन की अपेक्षा से उसको इतना कर्त्तापना भी है । प्रवचनसार में ४७ शक्तियों के अधिकार में यह बात कही भी है । अस्थिरता के परिणाम का ज्ञानी कर्त्ता भी है और भोक्ता भी है, परन्तु दृष्टि की अपेक्षा से उसको शुद्धतारूप ही परिणमन है – ऐसा कहा जाता है; क्योंकि अशुद्धता के परिणाम की उसको रुचि नहीं है । ज्ञानी जानता है कि अपनी कमजोरी से राग परिणाम होता है और राग को भोगता भी है, पर वह उस राग परिणाम को करने लायक (कर्त्तव्य) और भोगने योग्य नहीं मानता, उनमें उपादेय बुद्धि नहीं होती ।

ज्ञानी को निमित्त की बलजोरी अर्थात् पुरुषार्थ की कमी के कारण रागरूप परिणमन होने पर भी किंचित् फल होता है, कर्म की तीव्र स्थिति व अनुभाग नहीं पड़ता, अल्पस्थिति व अनुभाग पड़ता है और वह अल्पबन्ध संसार का कारण नहीं होता ।

यदि कोई ऐसा मानता हो कि ज्ञानी के राग या दुःख है ही नहीं, तो यह मान्यता सही नहीं है। द्रव्यदृष्टिप्रकाश में निहालभाई ने जो यह कहा है कि ज्ञानी को शुभराग धधकती भट्टी जैसा लगता है, वह बात बिल्कुल सही है। चौथे, पाँचवें व छट्ठे गुणस्थान में ज्ञानी को जितना राग है, वह दुःखरूपभाव है, दुःख के वेदनरूप है। यद्यपि अन्तर आत्मा में अकषायरूप आनन्द का प्रचुर वेदन है; परन्तु साथ में जितना राग है, उतना दुःख का वेदन भी है – ऐसा ज्ञान यथार्थ जानता है।

केवली भगवान को केवल परिपूर्ण ज्ञान का ही वेदन है और मिथ्यादृष्टि को केवल दुःख का ही वेदन है तथा समकिती को प्रचुर आनन्द एवं साथ में किञ्चित् दुःख का भी वेदन है, तथापि दृष्टि व दृष्टि के विषय की अपेक्षा से ज्ञानी को राग नहीं है – ऐसा कहा जाता है। अतः जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे वैसा ही समझना चाहिए।

कलश ९८

पुनः इसी बात को दृढ़ करते हैं :–

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येषकिम् ॥ ९८ ॥

श्लोकार्थ :– [कर्ता कर्मणि नास्ति, कर्म तत् अपि नियतं कर्तरि नास्ति] निश्चय से न तो कर्त्ता कर्म में है और न कर्म कर्त्ता में ही है – [यदि द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते] यदि इसप्रकार परस्पर दोनों का निषेध किया जाये [तदा कर्तृकर्मस्थितिः का] तो कर्त्ताकर्म की क्या स्थिति होगी? अर्थात् जीवपुद्गल के कर्त्ताकर्मपना कदापि नहीं हो सकेगा। [ज्ञाता ज्ञातरि, कर्म सदा कर्मणि] इसप्रकार ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है और कर्म सदा कर्म में ही है [इति वस्तुस्थितिः व्यक्ता] ऐसी वस्तुस्थिति प्रगट है [तथापि बत] तथापि अरे! [नेपथ्ये एषः मोहः किम् रभसा नानटीति] नेपथ्य में यह मोह क्यों अत्यन्त वेगपूर्वक नाच रहा है? (इसप्रकार आचार्य को खेद और आश्चर्य होता है।)

भावार्थ :– कर्म तो पुद्गल है, जीव को उसका कर्त्ता कहना असत्य है। उन दोनों में अत्यन्त भेद है, न तो जीव पुद्गल में है और न पुद्गल जीव में; तब फिर उनमें कर्त्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है? इसलिये जीव तो ज्ञाता है, सो ज्ञाता ही है, वह पुद्गलकर्मों का कर्त्ता नहीं है; और पुद्गलकर्म हैं, वे पुद्गल ही हैं; ज्ञाता का कर्म नहीं हैं। आचार्यदेव ने खेद-पूर्वक कहा है कि इसप्रकार प्रगट भिन्न द्रव्य हैं तथापि 'मैं कर्त्ता हूँ और यह पुद्गल मेरा कर्म है' इसप्रकार अज्ञानी का यह मोह (अज्ञान) क्यों नाच रहा है?

कलश ६८ पर प्रवचन

जो रागादि विकल्प स्वतः स्व-समय में अपनी पर्यायगत योग्यता से होते हैं, उन्हें 'मैं करता हूँ' – ऐसे कर्तृत्वरूप मिथ्यात्व भाव से परिणत हुआ जीव कर्त्ता कहा जाता है। वह कर्त्ता जीव भी जड़ कर्मो को नहीं करता तथा वे जड़-कर्म भी उस कर्त्ता के कर्म (कार्य) नहीं हो सकते, क्योंकि जड़कर्मो का कर्त्ता चेतन नहीं होता।

आत्मा अपने अशुद्ध परिणमन का कर्त्ता तो है; परन्तु जड़कर्मो का कर्त्ता नहीं है तथा जड़कर्म भी अपनी पर्याय के कर्त्ता हैं; परन्तु वे चेतन की पर्याय को नहीं करते – ऐसी स्थिति में दोनों के बीच कर्त्ता-कर्मपना कहाँ रहा?

भाई! शरीर, मन, वाणी की क्रिया का कर्त्ता तो अज्ञानी भी नहीं है, क्योंकि परस्पर द्वन्द है, भिन्नता है। जहाँ भिन्नता है, वहाँ कर्त्ता-कर्म का क्या सम्बन्ध? आत्मा अज्ञानभाव से मिथ्यात्व के परिणामों को भी करे और जड़कर्म की पर्याय को भी करे – ऐसी वस्तुस्वरूप की मर्यादा ही नहीं है। इसीप्रकार जड़कर्म अपने जड़कर्म की पर्याय को भी करे और जीव के मिथ्यात्व को भी करे – ऐसी सामर्थ्य भी वस्तु में नहीं है। एक द्रव्य से दूसरा द्रव्य अत्यन्त भिन्न है और भिन्न-भिन्न दो द्रव्यों में कर्त्ता-कर्म-पना नहीं होता।

लौकिकजन ऐसा मानते हैं कि जड़ का कार्य जीव कर सकता है, परन्तु उनका ऐसा मानना भ्रम है। तन-मन-वचन, धन-दौलत आदि सब पुद्गल हैं। आत्मा इन सबसे अत्यन्त भिन्न है, इसकारण जड़-पुद्गल की अवस्था का आत्मा कर्त्ता नहीं है। धन-दौलत कमाना, मकान बनाना आदि कार्य आत्मा के नहीं हैं। हाँ, अज्ञानी द्वारा राग-द्वेष व मिथ्यात्व

आदि के जो अज्ञानभाव होते हैं, उन्हें अज्ञानी ने किए – ऐसा कहा जाता है।

बापू ! तेरा तो केवल चैतन्यस्वरूप है। मात्र एक समय की पर्याय में जो यह तेरी भूल है, उसकी दृष्टि छोड़ दें, तो अन्दर में तो तू चिदानन्द-स्वरूप ही है। व्यवहारधर्म (शुभराग) का जो विकल्प है, वह दुःख है, आकुलता है, परद्रव्य है। भगवान आत्मा उससे रहित चित्स्वरूप है। ऐसे निजचित्स्वरूप में अन्तर्दृष्टि करना ही सम्यग्दर्शन है और वही सच्चा दिगम्बर धर्म है। दिगम्बर धर्म कोई पंथ नहीं है, आत्मधर्म का ही दूसरा नाम दिगम्बर धर्म है।

अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप को जाने बिना लोगों को ऐसा लगता है है कि ये सब पर के कार्य मैं करता हूँ, कर सकता हूँ; परन्तु भाई ! यह तो तेरी भ्रमबुद्धि है, क्योंकि आत्मा पर का कार्य कर ही नहीं सकता; क्योंकि पर के साथ आत्मा का कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

अब आचार्य कहते हैं कि ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है और कर्म सदा कर्म में ही है। जब पर के कर्तृत्व की बुद्धि छूट जाती है, तब 'मैं ज्ञायक हूँ' – ऐसे ज्ञातापने की दृष्टि खिल जाती है। छठवीं गाथा में भी कहा है कि परद्रव्य की पर्याय पर से लक्ष्य छूट जाने पर ही स्वद्रव्य पर लक्ष्य जाता है, अर्थात् जहाँ अन्दर में यह निर्णय हुआ कि मैं परद्रव्य का कर्त्ता नहीं हूँ, तो तुरन्त स्वद्रव्य पर लक्ष्य चला जाता है तथा स्वद्रव्य का लक्ष्य होने पर राग का भी कर्त्तापना छूट जाता है। इसप्रकार ज्ञाता ज्ञाता में ही है और कर्म कर्म में ही है – ऐसा सहज भान हो जाता है।

आत्मा में भले शुभराग हो, तथापि वह अचेतन है। वह शुद्ध चैतन्यमय आत्मा की चीज़ नहीं है। भले ही वह कितना भी मन्द क्यों न हो, शुभ क्यों न हो, तथापि उस राग में आत्मा का भान कराने की या उसमें कुछ सहयोग करने की ताकत (योग्यता) नहीं है। इसीप्रकार व्यवहार में भी निश्चयनय के विषयभूत वस्तु का ज्ञान कराने की ताकत नहीं है। अतः कहते हैं कि आत्मा ज्ञाता है, वह ज्ञाता में ही है, राग में नहीं है और जड़कर्म में भी नहीं है।

स्त्री, पुरुष या नपुंसक के लिंग तेरे स्वरूप में नहीं हैं। मनुष्य, तिर्यंच, देवादि गति तेरे स्वरूप में नहीं है। तू कभी भी राग में नहीं गया। 'मैं रागी हूँ या राग मेरा कर्त्तव्य है' – ऐसा भले भूल से माना हो; परन्तु तू कभी रागरूप हुआ नहीं है, राग में कभी गया नहीं है।

प्रवचनसार की २०० वीं गाथा में कहा है कि ज्ञायक तो ज्ञायकरूप ही रहा है। मैं सदा शुद्ध, चिद्रूप, एकरूप शाश्वत वस्तु हूँ – ऐसा जहाँ अन्तर में अनुभव हुआ, वहीं यह भान हो जाता है कि ज्ञाता तो त्रिकाल ज्ञातापने ही रहता है; वह कभी भी राग में या व्यवहार में नहीं जाता। व्यवहार तो मन का धर्म है, विकल्प है; जबकि भगवान आत्मा तो तन-मन वचन और विकल्पों से रहित शुद्ध चिद्रूप वस्तु है। इसलिए हे भाई! व्यवहार के विकल्पों से दृष्टि हटाकर शुद्ध चैतन्यतत्त्व में अन्तर्दृष्टि कर।

जिसप्रकार सूर्यप्रकाश व अन्धकार में अन्तर है, उसीप्रकार चैतन्य-स्वभाव और राग में अन्तर है। भगवान आत्मा चैतन्यमय जलहल-ज्योति ज्ञाता प्रभु सदा ज्ञाता ही है, जाननेवाला जाननेवाले में ही है। वस्तुतः जाननेवाला पर को जानता ही नहीं है, जाननेवाला तो केवल स्वयं को ही जानता है। ज्ञान के निर्मल स्वभाव में परज्ञेय स्वयं आते हैं, यह बात जुदी है। अतः ज्ञाता सदा ज्ञाता ही है – ऐसा निश्चय करके विकल्पों से हटकर स्वभाव की ओर चला जा! तू स्वयं पूर्णानन्दस्वरूप भगवान ज्ञायक है, वहां दृष्टि दे।

पहले यह सिद्ध किया कि जड़कर्म में आत्मा नहीं है और आत्मा के अशुद्ध परिणाम में जड़कर्म नहीं है। फिर बात बदलकर यह कहा कि भगवान आत्मा चिद्रूप है, ज्ञायकरूप है, आनन्दस्वरूप है, ईश्वर है, अपरिमित स्वभावरूप है। उसके स्वभाव की शक्ति बेहद अपरिमित है – ऐसा ज्ञाता सदा ज्ञातास्वभाव में ही रहता है। उसी में अन्तर्दृष्टि करने का नाम सम्यग्दर्शन है, धर्म है।

बापू! चारित्र तो कोई अलौकिक दशा है। अहाहा ....! धन्य वह मुनिदशा!! जहां अतीन्द्रिय आनन्द का झरना झरता है। मानो मुनिराज तो चलते-फिरते सिद्ध ही हैं। जहाँ पंच महाव्रत का विकल्प या दया पालन करने का विकल्प भी अन्तर की शान्ति को भंग करनेवाला भासित होता है, वह मुनिदशा कोई अपूर्व चीज है। अहाहा ....! ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है, कर्म सदा कर्म में ही है और राग राग में ही है – ऐसी वस्तुस्थिति जिस भूमिका में प्रगट भासित होती है, उस मुनिदशा की क्या बात कहें? धन्य है, वह मुनिदशा! उनके चरणों में हमारा बारम्बार वंदन है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में पर की किसीप्रकार की सहायता की अपेक्षा नहीं है, व्यवहार की भी अपेक्षा नहीं है। ऐसी वस्तु की मर्यादा

प्रगट है, तथापि जीवन के नैपथ्य में यह मोह इतने वेग से क्यों नाच रहा है ? आचार्यदेव को स्वयं इसका आश्चर्य है ।

अहा ! अज्ञानी के जीवन (क्षेत्र) में यह कर्तृत्व, अहंकार व ममकार के रूप में मोह जहाँ-तहाँ नाचता हुआ नजर आ रहा है । मैंने दान दिया, दया का पालन किया, व्रत किये, पुण्य किया – इसप्रकार पर के व राग के कर्तृत्व का मोह नाचता है तथा शरीर, मन, वाणी की क्रिया का मैं कर्त्ता हूँ, आदिरूप से, वीतरागस्वभाव से विरुद्ध विकारी परिणाम करता है और इन सबके निमित्त से जो तज्जातीय कर्मों का बंध होता है, उन कर्मों का भी मैं कर्त्ता हूँ – ऐसा मोह क्यों नाचता है ? यह तुझे क्या हो गया है ? प्रभु तू तो भगवानस्वरूप है न ? तू अपनी अखण्ड प्रभुता को छोड़कर दया-दान के विकल्प की पामरता में क्यों अटक गया है ? आचार्यदेव बारम्बार ऐसा आश्चर्य प्रगट करते हैं, समझाते हैं ।

भाई ! यह बात जगत में चलती धारा से सर्वथा जुदी कोई अलौकिक बात है । यह अनन्त तीर्थंकरों की कही हुई बात है । तू चैतन्यघन, परमात्मस्वरूप, परम ज्ञानस्वरूप, परम आनन्दस्वरूप, परम वीर्यस्वरूप, परम वीतरागतास्वरूप परिपूर्ण प्रभु है । उसमें यह राग व मोह कैसे नाचता है ? यह बड़ा आश्चर्य है ।

कलश ९८ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा कर्त्ता और जड़कर्म की अवस्था उसका कार्य – ऐसा कैसे हो सकता है ? तथा जड़कर्म कर्त्ता और जीव का विकारी परिणाम उसका कार्य – ऐसा भी कैसे हो सकता है ? बहुत से लोगों को ऐसा भ्रम है कि कर्म के कारण विकार होता है, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है । यद्यपि निमित्त से विकार होता है – ऐसा कथन शास्त्रों में अनेक जगह आता है, परन्तु उसका अर्थ तो यह है कि निमित्त के आश्रय से विकार होता है । यहाँ वह बात नहीं है, यहाँ तो एकदम स्पष्ट बात यह है कि जीव पुद्गल में नहीं है, पुद्गल जीव में नहीं है; तो फिर उनमें कर्त्ता-कर्मभाव कैसे हो सकता है ? अतः जीव तो मात्र ज्ञाता ही है, पुद्गल कर्म का कर्त्ता नहीं है और पुद्गल पुद्गल ही है, ज्ञाता का कर्म नहीं है । बापू ! तुझे यह क्या हो गया है ? जरा विचार तो कर । आत्मा व पुद्गल में अत्यन्ताभाव होने से त्रिकाल कर्त्ता-कर्मभाव संभव नहीं है ।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो स्त्री को मुक्ति मानते हैं, वस्त्र सहित साधुपना मानते हैं, केवली भगवान को कवलाहार मानते हैं । ये सब मिथ्या

मान्यतायें हैं तथा केवली भगवान को केवलदर्शन व केवलज्ञान एक साथ न मानकर पहले केवलदर्शन व वाद में केवलज्ञान होना मानते हैं, जबकि ऐसा बिल्कुल नहीं है, उन्हें केवलदर्शन व केवलज्ञान एकसमय में एकसाथ ही होते हैं। वे कौर-कौर लेकर आहार नहीं लेते। वीतरागी के वस्त्र का राग कैसे रह सकता है?

अज्ञानी जीव ऐसी भ्रमणा में फंस गया है कि मैं परद्रव्य के कार्य करता हूँ। उसे ज्ञानी यह मार्ग वताते हैं कि जो जीव ज्ञाता है, वह ज्ञाता ही है, पुद्गलकर्म का कर्त्ता नहीं है, और पुद्गलकर्म पुद्गल ही है, ज्ञाता का कर्म नहीं है।

कलश ६६

अथवा नाट्यतां, तथापि –

(मन्दाक्रान्ता)

कर्त्ता कर्त्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यंतगंभीरमेतत् ॥ ६६ ॥

इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रांतौ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यामात्मख्यातौ कर्तृकर्मप्ररूपकः द्वितीयोंकः ॥

अब यह कहते हैं कि यदि मोह नाचता है, तो भले नाचे; तथापि वस्तुस्वरूप तो जैसा है, वैसा ही है :–

श्लोकार्थ :–[**अचलं**] अचल, [**व्यक्तं**] व्यक्त और [**चित्-शक्तीनां निकर-भरतः अत्यन्तगम्भीरम्**] चित्शक्तियों के (-ज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों के) समूह के भार से अत्यन्त गम्भीर [**एतत् ज्ञानज्योतिः**] यह ज्ञानज्योति [**अन्तः**] अन्तरंग में [**उच्चैः**] उग्रता से [**तथा ज्वलितम्**] ऐसी जाज्वल्यमान हुई कि – [**यथा कर्त्ता कर्त्ता न भवति**] आत्मा अज्ञान में कर्त्ता होता था, सो अब वह कर्ता नहीं होता और [**कर्म कर्म अपि न एव**] अज्ञान के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप होता था, सो वह कर्मरूप नहीं होता; [**यथा ज्ञानं ज्ञानं भवति च**] और ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है तथा [**पुद्गलः पुद्गलः अपि**] पुद्गल पुद्गलरूप ही रहता है।

भावार्थ :– जब आत्मा ज्ञानी होता है, तब ज्ञान तो ज्ञानरूप ही परिणमित होता है, पुद्गलकर्म का कर्त्ता नहीं होता और पुद्गल पुद्गल ही रहता है, कर्मरूप परिणमित नहीं होता। इसप्रकार यथार्थ ज्ञान होने पर दोनों द्रव्यों के परिणमन में निमित्तनैमित्तिकभाव नहीं होता। ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि के होता है।

टीका: – इसप्रकार जीव और अजीव कर्त्ताकर्म का वेष त्यागकर बाहर निकल गये।

भावार्थ :–जीव और अजीव दोनों कर्त्ता-कर्म का वेष धारण करके एक होकर रंगभूमि में प्रविष्ट हुए थे। जब सम्यक्दृष्टि ने अपने यथार्थ दर्शक ज्ञान से उन्हें भिन्नभिन्न लक्षण से यह जान लिया कि वे एक नहीं, किन्तु दो अलग अलग हैं; तब वे वेष का त्याग करके रंगभूमि से बाहर निकल गये। बहुरूपिया की ऐसी प्रवृत्ति होती है कि जबतक देखनेवाले उसे पहिचान नहीं लेते, तबतक वह अपनी चेष्टाएँ किया करता है; किन्तु जब कोई यथार्थरूप से पहिचान लेता है, तब वह निजरूप को प्रगट करके चेष्टा करना छोड़ देता है। इसीप्रकार यहाँ भी समझना।

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय वर्णं करता सो
ताकरि बन्धन आन तणं फल ले सुखदुःख भवाश्रमवासो;
ज्ञान भये करता न बनै तब बन्ध न होय खुलै परपासो,
आतममांहि सदा सुविलास करै सिव पाय रहै निति थासो।

इसप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री समयसार शास्त्र की श्रीमद्अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में कर्त्ताकर्म का प्ररूपक द्वितीय अंक समाप्त हुआ।

कलश ९९ पर प्रवचन

भगवान आत्मा अनन्त चित्शक्तियों के समूह का भण्डार, ज्ञान का गोला, अचल और नित्यचैतन्य धातुमय सदा प्रगट ही है। यद्यपि पर्याय की अपेक्षा इसे अव्यक्त कहा है, परन्तु स्वभाव के सन्मुख जाकर देखने पर तो यह सदा व्यक्त ही है, प्रगट ही है और पर्याय तो द्रव्यस्वभाव के ऊपर-ऊपर ही तैरती है, द्रव्य में पर्याय प्रविष्ट नहीं होती। ये शरीर-मन-वाणी और दया-दान आदि के विकल्प तो वस्तु में प्रवेश करते ही नहीं, किन्तु इन दया-दानादि विकल्पों को जाननेवाली ज्ञान की पर्याय भी द्रव्य में प्रवेश नहीं करती। आत्मा ऐसे चित्स्वभाव (ज्ञान) के अविभागी प्रतिच्छेदों के समूह से अत्यन्त गम्भीर ज्ञानज्योतिस्वरूप है।

अहाहा .... ! भगवान आत्मा के ज्ञानानन्द स्वभाव की गंभीरता की क्या बात कहें ? वह अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशान्ति, अनन्तस्वच्छता, अनन्तवीर्य, अनन्तप्रभुता आदि अनन्त चित्शक्तियों के समूह से भरा अत्यन्त गम्भीर है। भगवान आत्मा संख्या से तो अनन्त शक्तियों का भंडार है ही, उसकी एक-एक शक्ति का स्वभाव भी अनन्त है।

ऐसे अनन्त स्वभाव से भरा अनन्त महिमावंत प्रभु आत्मा अपने को भूलकर स्वयं को तो जानता नहीं है और पर की दया करनेवाले, दान देनेवाले भावों को ही आत्मा मानता है – ऐसी मिथ्या मान्यतावाला, पर्याय दृष्टिवाला जीव अपनी इस भूल के कारण ही संसार में भटक रहा है। उससे यहाँ कहते हैं कि भगवन् ! जिसका जानने-देखने का अनन्त स्वभाव है, उस देखनेवाले को देख ! जाननेवाले को जान ! इससे ही तेरा अविनाशी कल्याण होगा।

भगवान आत्मा स्वयं स्वभाव से अव्यक्त सिद्धस्वरूप है, केवलज्ञान-स्वरूप है, उसमें अन्तर्निमग्न होकर उसी में स्थित होने से पर्याय में प्रगट परमात्मा हो जाता है।

भगवान ! तुझे आत्मा के सामर्थ्य की खबर नहीं है। आत्मा चित्शक्तियों से भरा अर्थात् ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों के समूह से भरा, गम्भीर ज्ञानज्योतिस्वरूप वस्तु है। जिनके दो विभाग नहीं हो सकते – ऐसे सूक्ष्म अंश को अविभागी-प्रतिच्छेद कहते हैं। ज्ञानस्वभावी आत्म-ज्योति ऐसे ही अनन्त अविभागी अंशों का पिण्ड है। जब वह ज्ञानज्योति अंतरंग में उग्रपने जाज्वल्यमान होती है, तो तुरंत ही अज्ञान के कारण अबतक हुए कर्तृत्वभाव का अभाव हो जाता है और फिर वह ज्ञान-स्वभाव ज्ञानरूप ही रहता है व पुद्गल पुद्गलरूप ही रहता है। जो पहले अज्ञान अवस्था में अपनी मिथ्या मान्यता के कारण स्वयं को राग का व पर का कर्त्ता मानते थे, वे ही बाद में जब अपने ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा को पहचान लेते हैं, तो पर का व राग का कर्त्तृत्व छोड़कर केवल ज्ञाता-दृष्टा हो जाते हैं तथा राग के निमित्त से जो पुद्गल कर्मरूप होते थे, वे कर्मरूप नहीं होते। ज्ञान ज्ञानरूप रहता है, पुद्गल पुद्गलरूप एवं भगवान चिद्घन चिद्घन ही रहता है। दोनों को भिन्न-भिन्न जानने का नाम ही भेदज्ञान है, उसका फल केवलज्ञान है, सिद्धपद है।

कलश ९९ के भावार्थ पर प्रवचन

पहले अज्ञान अवस्था के कारण जीव में विकार होता था और उसके निमित्त से पुद्गल कर्मरूप से बंधते थे, तथा वाद में उन कर्मों का उदय आने पर उनके निमित्त से जीव पुनः विकाररूप परिणमता था और पुनः नवीन कर्म वांधता था, परन्तु ज्ञानभाव प्रगट होने पर इस जाति के निमित्त-नैमित्तिकभाव का अभाव हो जाता है।

यह समयसार ग्रन्थ नाटक के रूप में रचा गया है। इस संसार की रंगभूमि में जीव और अजीव दो पात्र नाना वेष धारण करके प्रविष्ट होते हैं। यहाँ इस कर्त्ता-कर्म अधिकार में भी जीव व अजीव दोनों ही कर्त्ता-कर्म का एक वेप धारण करके रंगभूमि में प्रविष्ट हुए थे। सम्यग्दृष्टि जीव ने जव यथार्थ ज्ञान के द्वारा उन दोनों को जुदे-जुदे लक्षणों से भिन्न-भिन्न पहचान लिया, ऐसा जान लिया कि ये एक नहीं हैं; वल्कि दो हैं, तो वे दोनों अपना भेद खुला जानकर वेष छोड़कर रंगभूमि से वाहर निकल गये। वहुरूपियों की ऐसी ही प्रवृत्ति होती है कि जवतक देखनेवाले उसे पहचान नहीं पाते, तभी तक वे नाना चेष्टायें किया करते हैं, परन्तु जव ज्ञानी द्वारा यथार्थ पहचान हो जाती है, तो अपना असली – निजरूप प्रगट करके चेष्टायें करना छोड़ देते हैं, उसीप्रकार यहाँ तत्त्व के प्रकरण में जानना।

ज्यों ही अज्ञानी को आत्मा का भान हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ, तो ज्ञान ज्ञानरूप से रह गया और पुद्गलकर्म पुद्गलरूप ही हो जाता है तथा कर्त्ता-कर्मपना छूट जाता है।

जीव अनादि से अपने चैतन्यस्वरूप को न जानने के कारण रागी-द्वेषी होकर पर का कर्त्ता वनता था, उससे वन्धन होता था और फिर उस वन्धन के कारण चौरासी के चक्कर में संसार परिभ्रमण करता हुआ सुख-दुःख भोगता था; किन्तु जव से आत्मा का भान हुआ, तव से कर्त्ता नहीं वनता है, मात्र ज्ञाता ही रहता है, इसकारण वन्धन नहीं होता, पर का वन्धन छूट जाता है और सदैव अपने आनन्द में विलास करता है, मोक्ष में जाता है। मोक्ष प्राप्त होने के उपरान्त अनन्तकाल तक नित्य अनन्त सुखरूप से रहता है।

इसप्रकार यह कर्त्ता-कर्म अधिकार पूर्ण हुआ।